भारतीय कला के साधक
और
अभिनयदर्पण के अनुवादक
श्री आनन्द कुमारस्वामी
को
सादर

भूमिका

•

संस्कृत भारती इस महान् एवं विशाल राष्ट्र की वाणी है। उसके अगाध वाङ्मय में ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशलों की अपरिमित राशि भरपूर है। उसमें ऐसे भी ग्रन्थरत्न हैं, जो कि आजीवन गहन साधना के फल हैं। उन अमरकीर्ति कृतिकारों के महान् कृतित्व में इस राष्ट्र का गौरव सुरक्षित रहता आया है। यद्यपि उनके भौतिक शरीर अतीत के कालखण्डों में समा गये, किन्तु उनके यशस्वी कृतित्व की सुरभि से आज भी यह धरती सुवासित है। आचार्य नन्दिकेश्वर संस्कृत साहित्य की उसी गौरवशाली परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं। **अभिनयदर्पण** जो कि प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य है, आचार्य नन्दिकेश्वर की ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य में अपने विषय की अनन्य कृति है।

आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण को प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० श्री आनन्द कुमारस्वामी को है। यद्यपि उनसे भी पूर्व श्री केशव भगवन्त पुनेकर द्वारा अनूदित उसका मराठी अनुवाद बड़ौदा में १९०१ ई० में प्रकाशित हो चुका था, फिर भी श्री आनन्द कुमारस्वामी के अनुवाद दि मिरर ऑफ जेश्चर का जो व्यापक स्वागत हुआ, उसी से उसकी उपयोगिता प्रमाणित हो गयी। उनका यह सचित्र अंग्रेजी अनुवाद हर्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस से १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ। कुछ ही दिनों में उसका दूसरा संशोधित संस्करण न्यूयार्क से १९३६ ई० में पुनर्मुद्रित हुआ।

उक्त अनुवाद के पुनर्मुद्रण से लगभग दो वर्ष पूर्व १९३४ ई० में डॉ० मनमोहन घोष का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उनका यह सचित्र संस्करण संस्कृत और तेलुगु हस्तलेखों के पाठानुशीलन पर आधारित है। उसके लगभग तेईस वर्ष बाद कलकत्ता से ही उसका संशोधित एवं विस्तृत संस्करण १९५७ ई० में पुनर्मुद्रित हुआ। डॉ० घोष का यह सचित्र एवं सानुवाद संस्करण कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हुआ।

डॉ० घोष के प्रथम संस्करण के चार वर्ष बाद श्री अशोकनाथ भट्टाचार्य ने अभिनयदर्पण का संस्कृत मूल के साथ बँगला अनुवाद प्रस्तुत किया। यह सचित्र अनुवाद कलकत्ता से १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद पर अवनीन्द्र बाबू की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस बँगला अनुवाद के अनन्तर उसके दो तमिल अनुवाद प्रकाश में आये। प्रथम सचित्र संस्करण मद्रास से १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ। श्री रजन का यह अनुवाद केवल तमिल में है। उसका दूसरा सचित्र तमिल अनुवाद मद्रास से ही १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ। श्री वीरराघवय्यन् के इस अनुवाद में संस्कृत मूल और महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी गयी हैं।

विभिन्न भाषाओं में अभिनयदर्पण के इस सहज प्रचार-प्रसार को देख कर यह ध्वनित होता है कि समाज के सभी वर्गों पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा और समसामयिक जीवन के लिए उसकी उपयोगिता स्वीकार की गयी।

उसका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद, पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रशसनीय प्रयास की प्रेरणा का फल है। अभिनय-दर्पण ३२४ अनुष्टुप छन्दों की एक लघु कृति है। उसकी भाषा यद्यपि सरल है, किन्तु प्रयोगात्मक शास्त्रीय विधा का ग्रन्थ होने के कारण उसके लक्षण-विनियोग के अभिव्यजन और प्रतीकात्मक अर्थबोध की पद्धति सर्वथा निजी है। कला की एक स्वतन्त्र विधा का लक्षण-ग्रन्थ होने के कारण उसके अनुवाद में अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित होनी अस्वाभाविक नहीं हैं। यद्यपि मेरे सामने इससे पूर्व के अनेक अनुवाद विद्यमान थे; फिर भी अनेक स्थलों पर नयी समस्याओं के समाधान के लिए मुझे स्वतन्त्र मार्ग अपनाना ही उचित प्रतीत हुआ। इस दृष्टि से अन्य अनुवादों की अपेक्षा प्रस्तुत अनुवाद में कुछ भिन्नता भी देखने को मिल सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक की अध्ययन-सामग्री को तीन भागों में विभक्त करके सरलतापूर्वक हृदयगम किया जा सकता है। मूल ग्रन्थ से पहले की सामग्री उसकी पूर्व पीठिका के रूप में प्रस्तुत की गयी है। मूल ग्रन्थ के अन्तर्गत सस्कृत पाठ और उसका हिन्दी अनुवाद दिया गया है। उसके बाद की सामग्री उत्तर पीठिका के रूप में प्रस्तुत की गयी है।

ग्रन्थ की पूर्व पीठिका की सामग्री में, जिसे कि छ वर्गों या अध्यायों में विभक्त किया गया है, भारतीय नाट्य के विभिन्न अगों का विवेचन किया गया है। इतिहास, पुरातत्व, साहित्य और कला-कृतियों के विभिन्न माध्यमों में अभिनय की परम्परा इस महान् राष्ट्र की अन्तश्चेतना को प्रभावित करती हुई किस रूप में निरन्तर आगे बढ़ती गयी और आज के जन-जीवन में उसको किस रूप में ग्रहण किया गया—ग्रन्थ के आरम्भ में इसका निरूपण किया गया है। अभिनयकला इस देश के साहित्यकारों तथा कलाकारों का ही नहीं, लोक चेतना का भी विषय रही। यही कारण है कि भरत से लेकर नन्दिकेश्वर तक, सभी नाट्याचार्यों ने अपनी कृतियों में शास्त्र-दृष्टि के साथ-साथ लोक-परम्परा की मान्यताओं को भी ग्रहण किया। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र की अपेक्षा अभिनयदर्पण का विशेष महत्व है। सम्भवत इसी कारण लोक-जीवन, साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों में जहाँ भी अभिनय की विधा पर विचार हुआ, नाट्यशास्त्र की अपेक्षा अभिनयदर्पण की मान्यताओं को प्रमुखता प्राप्त हुई। ग्रन्थ की पूर्व पीठिका में अभिनयदर्पण की इस मौलिकता एव विशिष्टता का विस्तार से विवेचन किया गया है।

मूल ग्रन्थ और उसके प्रस्तुत अनुवाद पर विचार करने से पूर्व कई बातें सामने उपस्थित होती हैं। स्पष्ट है कि अभिनयदर्पण विभिन्न हस्तलेखों के रूप में सुरक्षित रहता हुआ आज तक पहुँचा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी अप्रकाशनावस्था में ही उसको राष्ट्रव्यापी ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। उसकी व्यापकता एव ख्याति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आज से कई सौ वर्ष पूर्व ही भारत के विभिन्न अचलों में उसका प्रचार-प्रसार हो चुका था। विभिन्न-हस्तलेख सग्रहों में सुरक्षित उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ यह सिद्ध करती हैं कि उसके अध्ययन-अध्यापन एव प्रयोग की परम्परा अटूट रूप में निरन्तर आगे बढ़ती रही। इस दृष्टि से स्वभावत

उसके विभिन्न पाठो की परम्परा स्थापित हुई। कोई असम्भव नही कि समय-समय पर उसमे कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन भी हुए हो। जिस रूप मे सम्प्रति उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं, पाठानुशीलन की दृष्टि से उनमे एकरूपता नहीं है। इसी कारण उसके मुद्रित और अनूदित सस्करणो मे भी विभिन्नता देखने को मिलती है।

प्रस्तुत सस्करण को यथासम्भव वैज्ञानिक एव प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। उसके मूलपाठ की अबाध धारावाहिक गति को, जैसी कि अन्य सस्करणो मे देखने को मिलती है, उनसे कुछ भिन्न प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप सन्दर्भानुसार अलग करके व्यवस्थित रूप मे रखा गया है। जहाँ तक उसके अनुवाद का प्रश्न है, उसको प्रसगानुसार, ग्रन्थकार के मूल मन्तव्य के अनुरूप शाब्दिक एव भावात्मक, दोनो रूपो मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। अनुवाद मे आद्योपान्त यह ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थ की मौलिकता मे अन्तर न आने पावे।

मूल ग्रन्थ की समाप्ति के अनन्तर नृत्तमूर्तियो और हस्ताभिनयो की लगभग ७० रेखानुकृतियाँ दी गयी हैं। प्रागैतिहासिक युग से लेकर अभिनयदर्पण के निर्माण, लगभग १३वी १४वी शती ई० तक विभिन्न कला-शाखाओ द्वारा नृत्य-अभिनय को जो प्रोत्साहन, सरक्षण और पोषण प्राप्त होता गया, ये रेखानुकृतियाँ उसके परम्परानुगत जीवित इतिहास को बताने मे अध्येता के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

आज के अध्येता की परिष्कृत एव व्यापक अध्ययन-अभिरुचि को दृष्टि मे रखकर पुस्तक के अन्त मे पारिभाषिक शब्दसूची, ग्रन्थपुञ्जी (बिब्लियोग्राफी) और साकेतिका (इण्डैक्स) आदि का समावेश किया गया है। आशा है, यह सामग्री पुस्तक की सर्वांगीणता और अध्येताओ के लिए सहायक एव उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत पुस्तक के लिए विषय-सामग्री और रेखाचित्रो के चयन मे मुझे स्व० श्री आनन्द कुमारस्वामी की अनूदित कृति दि मिरर ऑफ जेश्चर, डॉ० मनमोहन घोष कृत अभिनयदर्पण का अग्रेजी अनुवाद, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी कृत भारतीय तथा पाश्चात्य रगमच, श्री क० मा० मुशी कृत सेज आफ इडियन स्कल्प्चर, श्री गोविन्द सदाशिव घुरे कृत भरतनाट्य एण्ड इट्स कस्टम, श्री फ्रेंसिस लेसन कृत कामशिल्प, श्री पी० थॉमस कृत कामकल्प, भारत सरकार की प्रकाशन शाखा से प्रकाशित म्यूजियम्स एण्ड आर्ट गैलरीज, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक तथा बम्बई से प्रकाशित मार्ग पत्रिका के विभिन्न अको से सहायता प्राप्त हुई है। इन सभी विद्वान् कृतिकारो के प्रति मैं सादर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

पुस्तक के लिए रेखानुकृति तैयार करने मे श्री सत्यसेवक मुकर्जी से मुझे जो सहयोग प्राप्त हुआ, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। प्रयाग सग्रहालय के निदेशक डॉ० सतीशचन्द्र काला और श्री देवेन्द्र मिश्र से समय-समय पर मुझे जो परामर्श प्राप्त होते रहे, तदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ। सम्मेलन मुद्रणालय के प्रधान निरीक्षक बाबू जालिमसिंह जी के योगदान से ही यह पुस्तक इस रूप मे सामने आयी है। इसके लिए मैं उनके प्रति सादर आभार प्रकट करता हूँ।

भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण

इस पुस्तक को प्रकाश में लाने का श्रेय भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय को है। मेरे निवेदन पर शिक्षा मन्त्रालय ने प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के लिए आंशिक वित्तीय सहायता प्रदान कर जो महती कृपा की है, उसके लिए मैं उसका हृदय से आभारी हूँ। शिक्षा मन्त्रालय की इस उपयोगी योजना से लेखकों को प्रोत्साहन प्राप्त होने के साथ ही आशा है, भारतीय साहित्य में उत्कृष्ट कृतियों के सृजन का मार्ग प्रशस्त होगा।

३३।९ करेलाबाग कॉलोनी, इलाहाबाद
वसन्त पञ्चमी : १४ फरवरी, १९६७

—वाचस्पति गैरोला

विषयानुक्रम

पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम्॥
कीर्तिप्रागल्भ्यसौभाग्यवैदग्ध्यानां प्रवर्धनम्।
औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम्॥
दुःखार्तिशोकनिर्वेदखेदविच्छेदकारणम्।
अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमप्यधिकं मतम्॥
जहार नारदादीनां चित्तानि कथमन्यथा।

एक

•

नाट्य साहित्य

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖
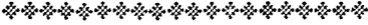
नाट्यकला की आधारभूत सामग्री और नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ

•

आचार्य भरत और उनका नाट्यशास्त्र

•

आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका अभिनयदर्पण

नाटचकला की आधारभूत सामग्री नाटचशास्त्रीय ग्रन्थ

ललित कलाओं के इतिहास मे नाटचकला का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। अन्य कलाओं की अपेक्षा उसकी प्राचीनता और लोकप्रियता के पर्याप्त प्रमाण प्रकाश मे आ चुके हैं। उसकी प्राचीनता और लोकप्रियता की आधारभूत सामग्री अनेक रूपो मे उपलब्ध एव सुरक्षित है। उसकी ये उपलब्धियाँ इतनी प्रचुर, पुष्ट और व्यापक हैं कि उनके आधार पर नाटचकला का प्रागैतिहासिक युग से लेकर अब तक का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

नाटचशास्त्र विषयक यह सामग्री अनेक रूपो मे बिखरी हुई है। इस सामग्री के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव प्रामाणिक स्रोत वे मूल ग्रन्थ एव टीकाएँ तथा वृत्तियाँ हैं, जिनमे नाटच की शास्त्रीय व्याख्या की गयी है। उनके अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और सगीत विषयक कला के लक्षण ग्रन्थो में भी आनुषगिक रूप से नाटच सम्बन्धी सामग्री सुरक्षित है। इन मूल ग्रन्थों और आनुषगिक ग्रन्थो का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत म नाटचकला की कितनी ख्याति और व्याप्ति थी। इसके अतिरिक्त प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक पुरातत्त्व विषयक अवशेष भी नाटचकला की सजीव परम्परा के पुष्ट प्रमाण हैं।

वाङ्मय के जिन विभिन्न क्षेत्रो मे नाटचकला के बीज बिखरे हुए हैं, उनमे वेद और वैदिक साहित्य का प्रमुख स्थान है। वेद ऋचाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे नाटचकला को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी। पचम नाटचवेद के रूप मे उसकी मान्यता का आधार भी उसकी यही लोकप्रियता रही है।

वेदों और वैदिक साहित्य के अतिरिक्त शास्त्रीय ग्रन्थो, पुराणो, काव्यो, नाटको और कथाओं मे भी उसके अस्तित्व एव महत्व के प्रचुर प्रमाण बिखरे हुए हैं। विभिन्न रूपो में वर्तमान इन विविध साधनो एव माध्यमो का अनुशीलन करके ही नाटचशास्त्र की वस्तुस्थिति को आँका एव जाना जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे आगे यथास्थान नाटचकला के इन विभिन्न स्रोतो पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है। यहाँ पहले मूल नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों की रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

नाटचशास्त्र विषयक इस मौलिक ग्रन्थ-सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टि से तीन मुख्य वर्गो मे विभक्त किया गया है। पहले वर्ग मे उस सामग्री का समावेश किया गया है, जो नाटचशास्त्र के रचयिता भरत से पूर्व की है। दूसरे वर्ग मे अकेले नाटचशास्त्र को रखा गया है। इसी प्रकार तीसरे वर्ग मे उस सामग्री का विवेचन किया गया है, जो नाटचशास्त्र के बाद प्रकाश मे आयी और जिसकी अटूट परम्परा लगभग १७वी श० ई० तक बनी रही।

एकरसता मे कमी नही हुई। पुराण, जो कि एक प्रकार के विश्वकोश एव अनुश्रुति ग्रन्थ है, कलाओ और विशेष रूप से नाटच एव सगीत-कला के सम्बन्ध मे प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करते हैं। साहित्य के अन्य क्षेत्रो मे भी, यथा व्याकरणशास्त्र, काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, कामशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि मे भी नाटचकला की प्राचीनता एव लोकप्रियता के अनेक प्रमाण तथा उद्धरण देखने को मिलते हैं।

वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पूर्व) की अष्टाध्यायी, पतजलि (२०० ई० पूर्व) के महाभाष्य और जयादित्य तथा वामन (८वी श० ई०) की सयुक्त कृति काशिका आदि ऐसे ग्रन्थ है, जिनमे वेदो की शाखाओ के समकक्ष नटसूत्रो की स्वतत्र शाखा का उल्लेख हुआ मिलता है।

अष्टाध्यायी (४।३।११०-१११) के उल्लेखानुसार पाराशर्य तथा कर्मन्दक ने भिक्षुसूत्रों (वेदान्त) और शिलालि तथा कृशाश्व ने नटसूत्रो का निर्माण किया। पाराशर्य और शिलालिन् इन दो चरणो या शाखाओ का अस्तित्व वैदिक युगीन था और तत्कालीन अन्य चरणो की भाँति वे ससम्मान आगे बढी। इस प्रकार नाटचशास्त्र के मूल स्रोत नटसूत्र का निर्माण वैदिक युग मे ही हो चुका था और उसको तब उतना ही लोकसम्मान प्राप्त था, जितना कि अन्य वेद शाखाओ को। इन अनुपलब्ध कृतियो के सम्बन्ध मे विद्वानो का यह अभिमत है कि उनमे नटो की शिक्षा के लिए नियमो का निरूपण था और वे भारतीय नाटचविद्या की प्राचीनतम पाठच पुस्तकें थी। इस सम्बन्ध मे विद्वानो की यह धारणा है कि नटसूत्र ग्रन्थ का नाटचशास्त्र मे उसी प्रकार प्रतिसस्कार (विलयन या समावेश) हो गया, जैसे कि अग्निवेश के आयुर्वेदतत्र का चरक मे।

नाटच-विषयक ग्रन्थो के प्रणेता जिन प्राचीन आचार्यो की नामावली ऊपर दी गयी है, उनके अतिरिक्त भरत पूर्व नाटच-सम्बन्धी कुछ सामग्री ऐसी है, जो कि अपेक्षातर अधिक विश्वस्त एव प्रामाणिक और प्रचुर है। नाटचशास्त्र विषयक परवर्ती ग्रन्थो मे जिन पुरातन शास्त्रीय ग्रन्थो का सोद्धरण नामोल्लेख हुआ है, उनका विवरण इस प्रकार है :

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	साधन ग्रन्थ	ग्रन्थकार
१. कोहल	कोहलप्रदर्शिका	अभिनवभारती सगीतरत्नाकर	अभिनवगुप्त शार्ङ्गदेव
२. तुम्बुरु	अज्ञात	,,	,,
३. दत्तिल	,,	,,	,,
४. मतंग	,,	,,	,,
५. कात्यायन	,,	,,	,,
६. राहुल	,,	,,	,,
७. उद्भट	,,	,,	,,
८. लोल्लट	,,	,,	,,
९. शकुक	,,	,,	,,

ग्रन्यकार	ग्रन्थ	साधन ग्रन्थ	ग्रन्थकार
		अभिनवभारती	अभिनवगुप्त
१०. भट्टनायक	अज्ञात	संगीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव
११. भट्टयंत्र	"	"	"
१२. कीर्तिधर	"	"	"
१३. मातृगुप्त	"	"	"
१४ सुबन्धु	नाट्यपाराध्य	"	"
१. अश्मकुट्ट	अज्ञात	नाटचलक्षण-रत्नकोश	सागरनन्दी
२. बादरायण	"	"	"
३. शातकर्णी	"	"	"
४. नखकुट्ट	"	"	"

आचार्य कोहल से लेकर आचार्य नखकुट्ट तक जितने नाम है, उनमे अधिकतर सुपरिचित हैं। उनकी ऐतिहासिक क्रमबद्धता मे वैमत्य हो सकता है, किन्तु वाङमय के विभिन्न क्षेत्रो मे बिखरे होने के कारण उनके व्यक्तित्व एव कृतित्व के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही है। इन पुरातन आचार्यो ने नाटचशास्त्र पर भी अपने स्वतत्र विचार प्रतिपादित किये, इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार का मतभेद नही है, क्योकि परवर्ती नाटचाचार्यों ने अपने मतो की पुष्टि के लिए प्रमाण रूप मे उनको उद्धृत किया है। परवर्ती ग्रन्थो मे उद्धृत ये अश किन्ही नाटच-विषयक स्वतत्र ग्रन्थो से सम्बद्ध थे या नही, इस सम्बन्ध मे प्रामाणिक रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। फिर भी निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि बहुत प्राचीन समय मे, आचार्य भरत के पूर्व ही नाटचविद्या पर स्वतत्र ग्रन्थो का प्रणयन होना आरम्भ हो गया था।

आचार्य भरत और उनका नाट्यशास्त्र

आचार्य भरत

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण की मूर्त परम्परा का प्रवर्तन आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से हुआ। आचार्य भरत के सम्बन्ध में सभी विद्वानों का एकमत से यह अभिमत है कि वे महान् प्रतिभाशाली और युग-विधायक महापुरुष हुए। उनकी गणना महामुनि वाल्मीकि और महामति व्यास की श्रेणी में की गयी है। उनका नाट्यशास्त्र एक विश्वकोशात्मक रचना है, जिसमें अनेक शिल्पों, नानाविध कलाओं और विभिन्न विद्याओं का एक साथ दिग्दर्शन हुआ है।

आचार्य भरत का व्यक्तित्व साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है। नाट्यशास्त्र के निर्माता के रूप में उनका नाम विश्व साहित्य में अमर हो चुका है। उनका यह महान् ग्रन्थ, चारों वेदों का दोहन कर पाँचवें वेद के रूप में विश्रुत है और अपने निर्माता के यश एवं गौरव को सुरक्षित बनाये हुए है। वे वाल्मीकि और व्यास की परम्परा के प्रतिभाशाली आचार्य थे, जो ऋषिकल्प होते हुए भी सामान्य लोक-जीवन में घुल-मिल गये थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर आचार्य भरत के नाम और स्थितिकाल के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न सामने आते हैं। उनके भरत नाम के सम्बन्ध में ही पहली जिज्ञासा उत्पन्न होती है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि भरत किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर एक परम्परा, सम्प्रदाय या वंशशाखा का नाम है। वैदिक युग में कृशाश्व और शिलालि द्वारा जिन भिक्षुसूत्रों तथा नटसूत्रों का निर्माण हुआ था, उनमें नटसूत्रों के निर्माता शिलालि की जो शाखा परम्परा में आगे बढ़ी, उसी को बाद में भरत नाम से कहा गया।

भरत नाम के सम्बन्ध में इस भ्रान्ति के अन्य भी अनेक कारण हैं। कुछ ग्रन्थों में नट के पर्याय में भरत शब्द का उल्लेख हुआ है। अमरसिंह के अमरकोश (२।१०-१२) में नट शब्द के पर्यायार्थक भरत शब्द का प्रयोग हुआ है और नाट्यशास्त्र की चार परम्पराओं का उल्लेख किया गया है। पहली परम्परा में शिलालि के नटसूत्रों को रखा गया है, जिनका प्रवर्तन जयाजीव जाति के लोगों ने किया। दूसरी परम्परा में कृशाश्व के भिक्षुसूत्रों की गणना की गयी है, जिनका प्रवर्तन शैलूष जाति के लोगों ने किया। तीसरी परम्परा में भरत के नाट्यशास्त्र को रखा गया है, जिसका प्रवर्तन नट जाति के लोगों ने किया और चौथी परम्परा में लोकगाथाओं एवं लोकप्रिय नायकों के चरितों का समावेश किया गया है, जिनका प्रवर्तन सूतों, चारणों एवं कुशीलवों ने किया। इस चौथी परम्परा का उदय लोकरुचियों के आधार पर हुआ है और लोक में ही उसका अस्तित्व अक्षुण्ण रूप में बना रहा।

भरत की उक्त परम्परा के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का अभिमत है कि उनके द्वारा जिन नटसूत्रो का निर्माण हुआ, उनके अभिनेता नटो को ही बाद मे भरत कहा गया और भरतो या नटो का शास्त्र होने के कारण उसे भरत नाट्यशास्त्र के नाम से कहा गया।

इस प्रकार भरत को नट का पर्याय मान कर जो सन्देह प्रकट किया गया और उसकी पुष्टि के लिए जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये, वे इतने पुष्ट एव आधारित नही हैं, जिनको अन्तिम रूप से स्वीकार किया जा सके। नाट्यशास्त्र और उसके परवर्ती ग्रन्थो के अध्ययन से ही इस भ्रान्ति का पूरी तरह से निराकरण हो जाता है। इन उल्लेखो के आधार पर अधिक उपयुक्त यह जान पडता है कि भरत किसी सम्प्रदाय, शाखा या चरण का नाम न होकर व्यक्ति विशेष का नाम था। उनके बाद उनकी परम्परा को आगे बढाने वाले उनके सौ पुत्रो या शिष्यो द्वारा उन्ही के नाम से उसका प्रचलन हुआ।

नाट्यशास्त्र की परम्परा मे आचार्य भरत के नाम की वस्तुस्थिति वैसी ही उलझी हुई प्रतीत होती है, जैसी पुराणो की परम्परा मे व्यास की। वेदो के व्याख्याता और पुराणो के निर्माता के रूप मे अनेक ऋषियो को वेदव्यास के नाम से कहा गया। वेदो से लेकर पुराणो तक लगभग चौबीस वेदव्यासो का विद्वानो ने उल्लेख किया है। पुराणो के वक्ता, प्रवक्ता के रूप मे और विशेष रूप से महाभारत के निर्माता के रूप मे जिस वेदव्यास का उल्लेख हुआ है, उन्हे कृष्ण द्वैपायन के नाम से कहा गया। इस प्रकार व्यास या वेदव्यास का उल्लेख उपाधि तथा सम्प्रदाय के रूप मे भी देखने को मिलता है और व्यक्तिगत नाम के रूप मे भी। इसी प्रकार भरत का नाम व्यक्ति विशेष के रूप मे और उनके द्वारा प्रवर्तित नाटच परम्परा के लिए भी प्रयुक्त हुआ।

व्यक्ति विशेष के लिए भरत शब्द का प्रयोग अनेक परवर्ती ग्रन्थो मे देखने को मिलता है। इस प्रकार के ग्रन्थो मे मुख्य रूप से महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय और नाटककार भवभूति के उत्तर रामचरित का नाम उल्लेखनीय है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय (२।१७) के एक सन्दर्भ मे नेपथ्य मे देवदूत द्वारा कहलाया है 'चित्रलेखा, उर्वशी को शीघ्र ले आओ! भरत मुनि ने आप लोगो को आठ रसो से युक्त जिस नाटक का प्रशिक्षण दिया है, भगवान् इन्द्र और लोकपाल उसका सुन्दर अभिनय देखना चाहते हैं'

चित्रलेखे, त्वरय त्वरयोर्वशीम्—
मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनय तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥

इसी प्रकार भवभूति ने उत्तर रामचरित के चतुर्थ अक मे महामुनि वाल्मीकि के आश्रम मे महाराज जनक और महारानी कौसल्या आदि मे लव-कुश का परिचय प्रसग प्रस्तुत करते हुए जनक जब लव से श्रीराम के जीवन की उत्तर कथा के सम्बन्ध मे पूछते हैं तो लव कहता है 'उस कथा को महामुनि ने बनाया तो है; किन्तु प्रकाशित नही किया। वह अपने-आप मे एक पूरा प्रबन्ध है, जिसमे कि करुण तथा विप्रलम्भ रसो की प्रधानता है और जो अभिनेय है। अपनी हस्तलिपि मे लिखे हुए उस प्रबन्ध को महामुनि वाल्मीकि ने नृत्य, गीत एव वाद्य

(तौर्यत्रिक) के प्रयोग के लिए महामुनि भरत को दे दिया (...त स्वहस्तलिखित मुनिर्भगवान् व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य)। यह प्रबन्ध रचना महामुनि भरत को इसलिए दी गयी कि वे अप्सराओं के साथ उसका अभिनय करेंगे (स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभि प्रयोगयिष्यतीति)।

महाकवि कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त इस सन्दर्भ मे आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती, आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण और आचार्य धनजय के दशरूपक का नाम उल्लेखनीय है। अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र का व्याख्या ग्रन्थ है। इस दृष्टि से उसके उल्लेखो की प्रामाणिकता निर्विवाद है। आचार्य अभिनवगुप्त न अपने ग्रन्थ मे एकाधिक बार भरत, भरतादिभि और भरतागम आदि शब्दो का प्रयोग किया है। उन्होने आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट कुछ पूर्वाचार्यों के मतो (नामो का नही) का भी उल्लेख किया है। इसके साथ ही उन्होंने भरत के परवर्ती नाट्याचार्यों के नामो तथा सिद्धान्तो को भी उद्धृत किया है। उनके इन उल्लेखो म स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र के निर्माता का नाम भरत था और उनके शिष्य प्रशिष्यो द्वारा प्रवर्तित परम्परा को भरतादिभि के नाम से कहा गया। इसी प्रकार के अन्य उल्लेख भी आचार्य भरत और उनके शास्त्र के परिचायक हैं।

अभिनवभारती के अतिरिक्त आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण मे भरत नाम की वस्तुस्थिति को अधिक स्पष्टता स व्यक्त किया गया है। अभिनयदर्पण मे उल्लिखित भरत शब्द स्पष्टत व्यक्ति विशेष का बोधक है। नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति और उसकी परम्परा के सम्बन्ध म आचार्य नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि यह नाट्यवेद प्रजापति ब्रह्मा से भरत को मिला और भरत ने अप्सराओं तथा गन्धर्वो के सहयोग से सर्व प्रथम उसका प्रयोग नटराज शकर के सामने प्रस्तुत किया। तदनन्तर मुनियो (भरत शिष्यो) द्वारा यह नाट्यवेद मानवी सृष्टि मे प्रचलित हुआ। उसके बाद परम्परा द्वारा यह नाट्यकला निरन्तर आगे बढती रही।

रगाधिदेवता की स्तुति मे एक स्थान पर आचार्य नन्दिकेश्वर ने उसे 'नाट्याचार्य भरत की नाट्यपरम्परा की विधातृ' (भरतकुलभाग्यकलिके) नाम स कहा है। उन्होने एकाधिक बार नाट्यशास्त्र को भरतागम नाम से लिखा है और अन्य आचार्यों के मतो के सन्दर्भ में भरतागमकोविद, भरतकोविद, भरतागमदर्शी और भरतागमवेदी आदि शब्दो का प्रयोग किया है। इन उल्लेखो मे स्पष्ट है कि उन्होने नाट्यशास्त्रकार भरत को और उनकी परम्परा के अन्य आचार्यों को अलग-अलग नाम से उल्लेख किया है। उन्होंने अपने अभिनयदर्पण मे बुध, बुधोत्तम, नाट्याचार्य, नाट्यशास्त्रविशारद, नाट्यविद्, नाट्यकोविद्, नाट्यकलाभिज्ञ, नाट्यतत्र विचारक, नाट्यकर्मविशारद, नृत्तकोविद और नृत्तशास्त्रविशारद आदि शब्दो का भी उल्लेख किया है।

अभिनयदर्पण के इन उल्लेखो से सिद्ध होता है कि आचार्य भरत का अपना स्वतत्र व्यक्तित्व था और उनकी परम्परा, के प्रवर्तक परवर्ती नाट्याचार्यों ने उनकी मान्यताओ को निर्भ्रान्त रूप मे उद्धत किया।

इस सम्बन्ध मे अभिनवभारती और अभिनयदर्पण के अतिरिक्त आचार्य धनजय के दशरूपक (१।२) के उल्लेखो पर भी विचार करना अनुपयुक्त न होगा। आचार्य धनजय ने दशरूपक के आरम्भिक मगल

श्लोक मे आचार्य भरत के नाम का स्पष्ट उल्लेख ही नही किया, अपितु उन्हे सार्वविद् भगवान् विष्णु के समान मान कर उनकी वन्दना करते हुए लिखा है 'सर्वज्ञ भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार है, जिनके भक्त या शिष्य दस रूपो (दशावतारो या दशरूपको) के ध्यान तथा अनुकरण आदि के द्वारा प्रसन्न हुआ करते हैं'

> दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावका.।
> नम. सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥

नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र और उसके निर्माता के सम्बन्ध मे आधुनिक विद्वानो मे बडा मतभेद रहा है। जिस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र को एक जाली ग्रन्थ सिद्ध किया गया उसी प्रकार नाट्यशास्त्र की प्रामाणिकता पर भी सन्देह प्रकट किया गया। कुछ विद्वानो का कहना था कि जिस प्रकार नाट्यशास्त्र के वास्तविक निर्माता का नाम अज्ञात है उसी प्रकार उपलब्ध नाट्यशास्त्र की वर्तमान वस्तुस्थिति भी सन्देहमूलक है। उपलब्ध नाट्यशास्त्र को देखने से विश्वास होता है कि मूल नाट्यशास्त्र कदाचित् इससे भिन्न था। नाट्यशास्त्र की अनेक कारिकाओ को स्पष्ट करने के लिए कारिकाकार ने अनुवश्य श्लोको की रचना की है। ये अनुवश्य श्लोक शिष्य परम्परा द्वारा लिखे गये। अतएव उपलब्ध नाट्यशास्त्र न केवल मूल नाट्यशास्त्र से भिन्न प्रतीत होता है, प्रत्युत वह एक लेखक की रचना भी नही है। वह अनेक लेखनियो का स्पर्श पाकर दीर्घकालीन प्रयास का फल है। उसमे समय-समय पर सुधार सस्कार होते रहे।

उपलब्ध नाट्यशास्त्र के तीन रूप हैं सूत्र, भाष्य और कारिका। निश्चय ही नाट्यशास्त्र अपने मूल रूप मे एक सूत्रात्मक रचना थी और तदनन्तर उसकी व्याख्या एव कारिकाएँ रची गयी होगी। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र की मौलिकता सदिग्ध है। इसके अतिरिक्त अभिनवभारती (प्रथम भाग, पृ० ८,२४), दशरूपक (४।२) और भावप्रकाशन (पृ० ३६,२८७) आदि ग्रन्थो मे नाट्यशास्त्र और उसके रचयिता के सम्बन्ध मे एक जैसी बातें देखने को नही मिलती है।

श्री सुशील कुमार दे ने अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोइटिक्स (वाल्यूम–१, नाट्यशास्त्र) और महामहोपाध्याय पाण्डुरग वामन काणे ने साहित्यदर्पण की भूमिका (पृ० ७, ८) मे नाट्यशास्त्र के दो श्लोको (३७।१८; २८) तथा दामोदर गुप्त के कुट्टिनीमत, कोहलाचार्य के ताल ग्रन्थ, आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन और सिंहभूपाल कृत रसार्णवसुधाकर आदि ग्रन्थो के उद्धरणो एव प्रमाणो को एकत्र कर यह मन्तव्य प्रकट किया कि नाट्यशास्त्र भरत की कृति न होकर किसी दूसरे की रचना है। इन दोनो विद्वानो और उनसे पूर्व नाट्यशास्त्र की सन्दिग्धता पर प्रकट किये गये विचारो का विधिवत् अनुशीलन कर श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी पुस्तक सस्कृत साहित्य का इतिहास (भाग १, पृ० ३०-३७) मे सप्रमाण और साधार यह सिद्ध किया कि नाट्यशास्त्र एक प्रामाणिक कृति है और उसके रचयिता महामुनि भरत ऐतिहासिक व्यक्ति हुए। पोद्दार जी के अतिरिक्त अन्य विद्वानो एव इतिहासकारो ने भी भरत और उनके इस महान् ग्रन्थ की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है।

नाट्य साहित्य

नाट्यशास्त्र के कतिपय स्थलों से यह ज्ञात होता है कि नाट्य की परम्परा भरत को पितामह ब्रह्मा से प्राप्त हुई। नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित नाट्योत्पत्ति विषयक उपाख्यान इस मन्तव्य को सिद्ध करता है। पितामह ब्रह्मा द्वारा सृष्ट चतुष्टयी नाट्यवेद और उसकी परम्परा मे आचार्य भरत तक लिखा गया शास्त्र क्या था, इसका कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक वृत्त उपलब्ध नही है। वे रचनाएँ कौन थी, इसका भी कोई उल्लेख नही मिलता है, किन्तु यह परम्परा क्रमबद्ध रूप मे आगे बढ़ी, इसमे कोई सन्देह नही है।

पितामह ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्यवेद का आकार प्रकार क्या था, परवर्ती ग्रन्थो मे उसकी कुछ सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। आचार्य शारदातनय के भावप्रकाशन (पृ० २८७) मे ज्ञात होता है कि नाट्यवेद मे बारह हजार श्लोक थे और उन्ही का सक्षेप कर आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र का निर्माण किया, जो कि छ हजार श्लोक परिमाण का था

> एव द्वादशसाहस्रै श्लोकैरेक तदर्थत ।
> षड्भि. श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य सग्रह ॥
> भरतैर्नामतस्तेषा प्रख्यातो भरताह्वय ।

नाट्यशास्त्र के वर्तमान सस्करण मे सैतीस अध्याय और लगभग पाँच हजार श्लोक हैं। विभिन्न हस्तलेख सग्रहो से सुरक्षित उसकी हस्तलिखित प्रतियो मे यह सख्या न्यूनाधिक्य रूप मे मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के लिपिकारो एव प्रतिलिपिकारो के प्रमाद एव पक्षपात से मूल सख्या मे परिवर्तन होता गया। बहुत सभव है कि उसमे कुछ प्रक्षेप भी जुडे हो।

जहाँ तक उसकी वर्तमान वस्तुस्थिति का सम्बन्ध है, उसकी प्रामाणिकता मे कोई सन्देह नही है। वह अपनी पूर्वोत्तर परम्परा का केन्द्रबिन्दु है। इस दृष्टि से महामुनि भरत नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। उन्होने नाट्यवेद को लोकोपयोगी रूप देकर नाट्यकला को जनमन के मनोरजन का माध्यम बनाया। अपने नाट्यशास्त्र (१।१४-१५) मे उन्होने लिखा है कि 'मैं इस नाट्यशास्त्र नामक पचम वेद की रचना करता हूँ। उसमे धर्म, अर्थ, यश (श्रयम्) और शास्त्र वचनो के उपदेश सगृहीत हैं। उसमे लोकमगल के समस्त भावी कर्मों का दिग्दर्शन किया गया है। उसमे समस्त शास्त्रो के अर्थ की अभिव्यक्ति हुई है। वह सब प्रकार के शिल्पो का प्रवर्तक और अपने-आप मे एक इतिहास भी है'

> धर्म्यमर्थ्यं यशस्य च सोपदेश ससग्रहम् ।
> भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
> सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम् ।
> नाट्याख्य पचम वेद सेतिहास करोम्यहम् ॥

इस दृष्टि से यदि नाट्यशास्त्र का अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि उसमे सम्पूर्ण शास्त्रो का सार, समस्त विद्याओ का तत्त्व, सारे कला शिल्पो का निष्यन्द, धर्म, अर्थ, मोक्ष, इस त्रिवर्ग का प्रतिपादन लोक

संग्रह का दिग्दर्शन और इतिहास का उपबृंहण किया गया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र एक प्रकार का विधि ग्रन्थ है और पंचम नाट्यवेद के रूप में उसकी सार्थकता स्वयं सिद्ध है।

इस नाट्यवेद का निरूपण करते हुए आचार्य भरत ने (नाट्यशास्त्र—६।६-८) लिखा है कि : 'उसके अन्तर्गत व्याकरण आदि अनेक शास्त्र, विद्याएँ और स्थापत्य, चित्र, मूर्ति, प्रस्त (रंग) तथा संगीत आदि अनेक कलाएँ एक साथ समाविष्ट हैं। उसका अंगभूत एक ही शास्त्र (ज्ञान) सागर के समान अनन्त तथा गम्भीर है, फिर उसके उपांग अनेक शास्त्रों, विद्याओं और शिल्पों का तात्पर्य समझना सर्वथा दुष्कर है'

> न शक्यमस्य शास्त्रस्य
> गन्तुमन्तं कथञ्चन।
> कस्माद् बहुत्वाज्ज्ञानानां
> शिल्पानां चाप्यनन्ततः॥

इस प्रकार नाट्यशास्त्र अपनी विधा का महान् एवं सर्वांगीण ग्रन्थरत्न है और परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का उपजीवी एवं केन्द्रबिन्दु भी। उसके एक-एक अंश के विषय को लेकर परवर्ती ग्रन्थकारों ने स्वतंत्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। उससे प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण की जो परम्परा स्थापित हुई उससे भारतीय इतिहास का एक नया मार्ग प्रशस्त हुआ।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्यशास्त्र के रचनाकाल और उसके रचयिता आचार्य भरत के स्थितिकाल पर विचार करते समय कई ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं, जो बड़ी जटिल और विवादास्पद हैं। पहली बात तो यह है कि अनेक दृष्टियों से उसकी स्थिति महाभारत जैसी है। जिस प्रकार समय-समय पर महाभारत में परिवर्तन, संशोधन और परिवर्द्धन होते गये, वही स्थिति नाट्यशास्त्र की भी रही। आज वह जिस रूप में उपलब्ध है उस पर उनकी शिष्य प्रशिष्य-परम्परा और अनेक पीढ़ियों के नाट्याचार्यों का प्रभाव स्पष्ट है। विभिन्न हस्तलेख संग्रहों में सुरक्षित नाट्यशास्त्र की हस्तलिखित प्रतियों के पाठभेद की भिन्नता इस बात की पुष्टि करती है कि समय-समय पर उसमें प्रक्षेप जुड़ते गये और उसमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होते गये। यद्यपि अनेक विद्वानों द्वारा उसका पाठानुशीलन हो चुका है, किन्तु अभी तक उसके सर्वमान्य एवं प्रामाणिक मूल पाठ के सम्बन्ध में सन्देह बना ही हुआ है। उसके विभिन्न पाठान्तरों और संस्करणों को देख कर उसके प्रामाणिक मूलपाठ की समस्या अभी तक विवादास्पद बनी हुई है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि नाट्यशास्त्र के निर्माण से पूर्व वैदिक युग में शिलालि और कृशाश्व द्वारा निर्मित नटसूत्र के आधार पर एक स्वतंत्र चरण या शाखा का प्रवर्तन हुआ था, जिसको कि वैदिक युग में अन्य चरणों या शाखाओं जितनी मान्यता प्राप्त थी। वैदिक युग में लौकिक अभिप्राय से प्रवर्तित यह

शाखा निरन्तर आगे बढती गयी और आचार्य भरत उसके अन्तिम प्रतिनिधि बने। उन्होंने नटसूत्रो के आधार पर सर्वथा नये और स्वतत्र एव सर्वांगीण शास्त्र का निर्माण कर इस परम्परा को अधिक व्यवस्थित रूप मे आगे बढाया।

आचार्य भरत द्वारा प्रवर्तित नाट्य की यह परम्परा दो रूपो मे आगे बढी। उसका एक रूप तो उनके शिष्य प्रशिष्यो द्वारा विधिवत अध्ययन प्रशिक्षण द्वारा प्रशस्त हुआ और दूसरा रूप शैलूषो, कुशीलवो (नट-नर्तक-गायिको) तथा चारणो द्वारा प्रवर्तित हुआ। नाट्य के इस दूसरे रूप का प्रवर्तन मौखिक रूप मे हुआ, जिसके कि प्रतिनिधि पढे-लिखे लोग नही थे, किन्तु जिन्होंने लोक-परम्पराओ, अभिरुचियो और मान्यताओ के अनुरूप निरन्तर अपनी लोकप्रियता को बढाया। आचार्य भरत ने अनेक स्थलो पर स्वय लोक परम्पराओ की मान्यता को स्वीकार किया है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण के अनेक सन्दर्भो और उसकी समाप्ति पर स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि शास्त्र-दृष्टि और सम्प्रदाय प्रभेद से अभिनय के जो अनन्त रूप हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय ग्रन्थो और सम्प्रदाय परम्पराओ का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध की अन्य जानकारी प्राप्त करने का एकमात्र अन्तिम उपाय सज्जनो का अनुग्रह बताया गया है

एताश्च नर्तनविधौ शास्त्रत सम्प्रदायत ।
सतामनुग्रहेणैव विज्ञेयो नान्यथा भुवि॥

इस प्रकार ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र की एक परम्परा पठन पाठन के द्वारा और दूसरी परम्परा लोकप्रिय कुशीलवो, तथा शैलूषो द्वारा मौखिक रूप मे निर्वाहित एव प्रवर्तित होती हुई आगे बढी। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र मे समय-समय पर परिवर्तन होते गये और प्रक्षेप जुडते गये।

नाट्यशास्त्र का जो रूप सम्प्रति उपलब्ध है उसके सम्बन्ध म इतिहासकार विद्वानो का मतैक्य नही है। लगभग वैदिक काल से लेकर ८वी श० ई० तक विभिन्न युगो मे उसका रचनाकाल सिद्ध किया गया है। विभिन्न विद्वानो के मतो का सार इस प्रकार है

श्री कन्हैयालाल पोद्दार — वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक
म० म० हरप्रसाद शास्त्री— २०० ई० पू०
म० म० पा० वा० काणे — ईसवी सन के पूर्व से लेकर कालिदास के समय तक
डॉ० मनमोहन घोष — २०० ई० के लगभग
प्रो० के० कीथ — ३०० ई० के लगभग
प्रो० मेक्डोनल — ६०० ई० के लगभग
श्री सुशील कुमार दे — ८०० ई० के लगभग

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने (संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १ पृ० ५४) नाट्यशास्त्र के बाह्यान्तर साक्ष्यो के आधार पर अपना अभिमत स्थिर किया है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र की भूमिका (XL तथा जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, पृ० ३०७, १९१३) मे मेक्डोनल द्वारा बृहद्देवता के सन्दर्भ मे प्रतिपादित अभिमत का हवाला देते हुए नाट्यशास्त्र का रचनाकाल निर्धारित किया है। म० म० पा० वा० काण ने साहित्यदर्पण की भूमिका (पृ० ८-१०) मे अपना मत प्रतिपादित किया है। डॉ० मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र की भूमिका मे अन्तर्बाह्य साक्ष्यो और इतिहास, पुरातत्व एव भाषाशास्त्र के प्रमाणो पर अपने मत का निर्धारण किया है। इतिहासकार कीथ ने अपने हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (पृ० ४१७) मे सयुक्तियुक्त अपने मत की स्थापना की है। इसी प्रकार मक्डोनल साहब ने भी (हि० स० लि०, पृ० ४३४) साधार नाट्यशास्त्र के निर्माण काल की सीमाओ पर विचार किया है। श्री सुशील कुमार दे का विवेचन (हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० २७) बहुत विस्तृत है और यद्यपि उनके द्वारा प्रकाशित आधारो का अनेक विद्वानो द्वारा खण्डन हो चुका है, फिर भी वे सर्वथा उपेक्षणीय नही हैं।

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारो एव नाट्यशास्त्रज्ञ विद्वानो के मतानुसार नाट्यशास्त्र की पूर्व एव उत्तर सीमाओ का निर्धारण एक जैसा नही है। फिर भी इतना निश्चित है कि उसके मूल रूप की रचना महाकवि कालिदास (ई० पूर्व प्रथम शती) से पहले हो चुकी थी।

नाट्यशास्त्र अनेक ग्रन्थों का उपजीवी

आचार्य भरत और उनके नाट्यशास्त्र का ऐतिहासिक दृष्टि से जो भी महत्व हो, किन्तु साहित्य और जन जीवन के लिए उससे जो प्रेरणा एव दिशा प्राप्त होता रहा, उसमे किसी प्रकार का मतभेद नही है। उसका महत्व इस दृष्टि से है कि परवर्ती अनेक विषय के ग्रन्थो के लिए वह उपजीवी सिद्ध हुआ। नाट्य, नाटक, काव्य और काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थो के निर्माण मे उसका महत्वपूर्ण योगदान रहा। नाट्यशास्त्र को प्रामाणिक विधि ग्रन्थ मान कर परवर्ती रचनाकारो ने उसकी मान्यताओ को उद्धृत कर अपने सिद्धान्तो को सम्पुष्ट किया। उसी को आधार मान कर सस्कृत के नाट्यशास्त्र की परम्परा आगे बढी।

कला के क्षेत्र म उसका व्यापक प्रभाव रहा। सगीत, वास्तु चित्र, मूर्ति और नृत्य आदि ललित कलाओ पर जितने भी शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गये, किसी-न किसी रूप मे उन सब पर उसका प्रभाव रहा। शास्त्रीय ग्रन्थो से लोकमन और लोक परम्पराओ को मान्यता प्रदान करने और उन्हे प्रामाणिक रूप मे उद्धृत करने की परिपाटी का प्रचलन भी नाट्यशास्त्र की ही प्रेरणा का फल है।

नाट्यशास्त्र राष्ट्रीय एकता का प्रतीक

नाट्यशास्त्र का निर्माण कर महामुनि भरत ने समस्त जाति-समूह मे एकता स्थापित करने का महान् प्रयास किया। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र राष्ट्रीय एकता का प्रतीक ग्रन्थ भी है। इस देश के नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन के परिचायक और इस महान् राष्ट्र की अन्तश्चेतना के द्योतक रामायण और

महाभारत की भाँति भरत का नाट्यशास्त्र भी एक अपूर्व कृति है। जिस रूप में रामायण और महाभारत द्वारा इस देश के राष्ट्रीय चरित्र की अभिव्यंजना हुई, नाट्यशास्त्र का दृष्टिकोण यद्यपि उससे कुछ भिन्न है, फिर भी इस दृष्टि से उसका महत्वपूर्ण स्थान है कि उसने यहाँ के जन-जीवन और साहित्य को नयी चेतना दी।

यदि हम ऐतिहासिक सन्दर्भ में तत्कालीन जन जीवन की स्थिति का विश्लेषण करें तो विदित होता है कि धर्मग्रन्थों में प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण सामाजिक जीवन में ऊँच-नीच और छोटे-बड़े की विषमताएँ निरन्तर प्रबल होती जा रही थी। उनके कठोर प्रतिबन्धों एवं एकांगी पक्षपाती व्यवस्था के कारण राष्ट्रीय एकता निरन्तर विशृंखलित होती जा रही थी। सर्वाधिकार सम्पन्न एक वर्गविशेष के निर्बाध प्रभुत्व ने बहुसंख्यक समाज की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया था। कर्मों और व्यवसायों के आधार पर वर्गीकृत एवं विभाजित वर्ण व्यवस्था को जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वीकार करने वाले कुछ लोगों ने शेष समाज को सर्वथा उपेक्षित एवं विस्मृत कर दिया था। इस स्थिति में तत्कालीन समाज में वर्ग-संघर्ष और स्वाधिकार के कारण आन्तरिक विद्रोह की भावना निरन्तर प्रबल होती जा रही थी। समाज के बहुसंख्यक वर्ग के लिए कुछ सीमा-रेखाएँ बना ली गयी थी। अपनी सुरक्षा और उन्नति के लिए अल्पसंख्यक वर्ग ने ऐसे विधान बना लिये थे, जिनके कारण बहुसंख्यक वर्ग के अधिकारों का हनन हो गया था। उनकी धार्मिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रताएँ छीन ली गयी थी। शासक-शासित और स्वामी-दास का विभेद बढ़ने लगा था।

अधिकारलिप्सा और स्वेच्छाचारिता के फलस्वरूप देव-दानवों के पुराकालीन रक्त रंजित इतिहास की पुनरावृत्ति न होने पावे, और उसके अतिरिक्त परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित जिन महान् सिद्धान्तों एवं आदर्शों की सुरक्षा निरन्तर क्षीण होती जा रही थी और समाज का पारस्परिक सद्भाव तथा राष्ट्रीय एकता की भावना संघर्ष का रूप धारण कर रही थी, उसको दूर करने के लिए उस युग के दूरदर्शी महापुरुषों ने जो प्रयत्न किये भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का नाम उनमें अग्रणी है।

नाट्योत्पत्ति विषयक पुरातन आख्यान के अध्ययन से कई नये तथ्य प्रकाश में आते हैं। सर्व प्रथम यह कि स्वयं प्रजापति ब्रह्मा ने चारों वेदों का मन्थन कर उनसे एक सर्वांगीण सर्वजनोपयोगी शास्त्र का निर्माण किया। वेदों की सर्वमान्यता एवं श्रेष्ठता के कारण इस शास्त्र को पंचम नाट्यवेद नाम दिया गया। इस पंचम नाट्यवेद के निर्माण का विशेष उद्देश्य था। वेद केवल द्विजातियों के लिए थे। किन्तु यह पंचम वेद लोक सामान्य के लिए रचा गया। उसके अध्ययन और प्रयोग का अधिकार समान रूप से सब को है। देव, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व तथा नाग और मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—आदि जितने भी वर्ग वैवस्वत मनु के त्रेतायुग तक बन चुके थे उन सब को समान रूप से मनोविनोद प्राप्त हो—इस उद्देश्य से नाट्यवेद का निर्माण किया गया।

यह नाट्यवेद, चारों वेदों से प्रसूत होने के कारण उनके द्वारा सम्मत और इसलिए भारतीय मर्यादाओं, विश्वासों तथा आदर्शों के अनुरूप भी है। इसके अतिरिक्त इस नाट्यवेद में कुछ बातें ऐसी भी हैं, जो चारों वेदों में नहीं हैं। इस दृष्टि से उसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। श्रुति-स्मृति-पुराण द्वारा समर्थित

इस नाट्यवेद में लोक-जीवन की सारी मान्यताएँ और परम्पराएँ समन्वित हैं। इसलिए लोक-जीवन में उसका आदर सम्मान बढ़ा। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग का प्रदाता तथा लोकमंगल का कारण बना।

उसने इस देश की परम्परावादी जनता की भावनाओं को वाणी दी और वर्गस्वार्थों तथा जाति भेदों की विषमता को मिटा कर सब को एक साथ बैठने के लिए प्रेरित किया। युगद्रष्टा महामुनि भरत ने प्रचलित लोक-परम्पराओं और विश्वासों को शास्त्रीय साँचे में ढाल कर ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्यवेद को लोकोपयोगी बनाने का अपूर्व कार्य किया। उनके इस महान् कृतित्व से साहित्य और समाज, दोनों को नयी प्रेरणा प्राप्त हुई।

परवर्ती नाट्य विषयक ग्रन्थ

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के बाद तीसरे वर्ग में उन नाट्य विषयक ग्रन्थों का स्थान है, जो विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से लिखे गये और जिनके द्वारा नाट्यशास्त्र की परम्परा मूर्त रूप में आगे प्रशस्त हुई। इन सभी ग्रन्थों की प्रेरणा एवं आदर्श यद्यपि नाट्यशास्त्र ही रहा, फिर भी उनके द्वारा अनेक नयी बातें भी प्रकाश में आयीं। इस प्रकार के ग्रन्थों में कुछ तो मौलिक हैं और अधिकतर भाष्य, वृत्ति एवं टीकाएँ हैं। कुछ के नाम अज्ञात हैं, किन्तु उनके रचयिताओं के नाम ज्ञात हैं। इन परवर्ती ग्रन्थों का विवरण निम्नलिखित है

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	स्थितिकाल
भरतकोश	महेन्द्र विक्रम	७वीं श० ई०
अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	१०वीं श० ई०
दशरूपक	धनंजय	१०वीं श० ई०
अवलोक-वृत्ति (दशरूपक पर)	धनिक (धनंजय के अनुज)	१०वीं श० ई०
नाट्यलक्षण रत्नकोश	सागरनन्दी	११वीं श० ई०
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणभद्र	१२वीं श० ई०
भावप्रकाशन	शारदातनय	१२वीं श० ई०
अभिनयदर्पण	नन्दिकेश्वर	१२वीं-१३वीं श० ई०
नाटकपरिभाषा	सिंहभूपाल	१४वीं श० ई०
नृत्याध्याय	अशोकमल्ल	१४वीं श० ई०
नृत्यरत्नकोश	कुम्भकर्ण	१४वीं श० ई०
नाटकचन्द्रिका	रूपगोस्वामी	१५वीं श० ई०
नाट्यप्रदीप	सुन्दर मिश्र	१७वीं श० ई०

उक्त ग्रन्थो एव उनके रचयिताओं का विवेचन करने से पूर्व अभिनवभारती की परम्परा मे लिखी गयी नाट्यशास्त्र की अज्ञातनामा टीकाओं और उनके रचयिता ज्ञातनामा टीकाकारो का उल्लेख होना आवश्यक है।

भरत के नाट्यशास्त्र की लोकप्रियता और मान्यता का अनुमान उस पर लिखी गयी टीकाओं, वृत्तिया और भाष्यो को देखकर किया जा सकता है। उस पर लिखी गयी मातृगुप्त के किसी वृत्ति-ग्रन्थ का केवल उल्लेख मात्र मिलता है। मातृगुप्त गुप्त युग मे हुए। कल्हण की राजतरगिणी मे लिखा है कि उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को काश्मीर के नि सन्तान राजा हिरण्य की राजगद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। नाट्यशास्त्र पर लिखा गया मातृगुप्त का वृत्ति-ग्रन्थ अपनी परम्परा की प्राचीनतम वृति था, किन्तु वह सम्प्रति उपलब्ध नही है।

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र पर लिखी गयी अन्य टीका-वृत्ति-भाष्यो का भी पता चलता है। उनके नाम ज्ञात नही हैं किन्तु उनके रचयिताओं मे कीर्तिधर, नान्यदेव, उद्भट भट्ट, लोल्लट, शकुक, भट्ट नायक, राहुल और भट्ट यन्त्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। उनके नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नही हैं। इनमे से अधिकतर ग्रन्थकारो का नाम काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे प्रसिद्ध है।

नाट्यशास्त्र की मौलिक कृतियो मे महेन्द्र विक्रम प्रथम के भरतकोश का नाम पहले आता है। महेन्द्र विक्रम या महेन्द्र विक्रमन् कांची के पल्लव राजा सिंहविष्णु के पुत्र थे। उन्होंने मत्तविलास नाम से एक प्रहसन रचना का निर्माण किया था। उसमे तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायो की प्रतिस्पर्धा का रोचक वर्णन किया गया है। महेन्द्र विक्रम का स्थितिकाल ७वी श० ई० के आरम्भ मे निश्चित है।

नाट्यशास्त्र पर सर्वाधिक प्रामाणिक एव महत्वपूर्ण टीका आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखी है, जो कि अभिनवभारती के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका इतनी प्रामाणिक एव पाण्डित्यपूर्ण है कि अपने-आप मे उसका स्वतत्र ग्रन्थ जितना महत्व है।

नाट्यशास्त्र विषयक मौलिक ग्रन्थों की परम्परा मे आचार्य धनजय का नाम प्रमुख है। वे धारा नगरी (धार, मध्यप्रदेश) के प्रसिद्ध सस्कृतानुरागी राजा मुज (९७४-९९५ ई०) के राजकवि और विष्णु पडित के पुत्र थे। उनका दशरूपक एक आदर्श एव प्रेरणाप्रद ग्रन्थ है, जिसे कि नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित दस मुख्य रूपको के आधार पर लिखा गया है। अपनी इस कृति मे उन्होंने नाटकीय विशेषताओ पर अच्छा प्रकाश डाला है। दशरूपक पर धनजय के अनुज धनिक ने अवलोक नाम से एक टीका लिखी, जो कि मूल ग्रन्थ की दुर्बोधता को सुगम बनाने मे बडी उपयोगी सिद्ध हुई। इस टीका के कारण नाट्यशास्त्रीय अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ। सस्कृत साहित्य मे और अन्य भारतीय भाषाओं मे भी धनजय के ग्रन्थ का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है।

इस प्रकार मूल-ग्रन्थो और टीका-ग्रन्थो के रूप मे नाट्यशास्त्र की परम्परा निरन्तर प्रशस्त होती गयी। टीकाओ के अतिरिक्त जो मूल ग्रन्थ लिखे गये उन पर भी नाट्यशास्त्र का प्रभाव पडा। लगभग १७वी श० ई० तक इस विषय पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे और उन सभी के मूल मे उसकी प्रेरणा निहित रही। कीर्तिधर और नान्यदेव आदि ग्रन्थकारो की कृतियो की भाँति इस विषय पर लिखे गये अनेक ग्रन्थ कालकवलित हो गये और

उनके लेखकों तक का कुछ पता नहीं चलता है। जो ग्रन्थ अब तक किसी प्रकार जीवित रह सके उनमें सागरनन्दी (११वीं श० ई०) का नाटय-लक्षण-रत्नकोश, रामचन्द्र गुणभद्र (१२वीं श० ई०) का नाट्यदर्पण, शारदा-तनय (१२वीं श० ई०) का भावप्रकाशन, नन्दिकेश्वर (१२वीं-१३वीं श० ई०) का अभिनयदर्पण, सिंह भूपाल (१४वीं श० ई०) की नाटकपरिभाषा और राजा अशोकमल्ल (१५वीं श० ई०) के नृत्याध्याय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के बाद लिखे गये नाट्य विषयक ग्रन्थों में राजा अशोकमल्ल के नृत्याध्याय का कई दृष्टियों से बड़ा महत्व है। उसका नृत्य सम्बन्धी विवेचन बड़ा ही प्रौढ और व्यापक है। इस दृष्टि से और नाट्यशास्त्र के इतिहास विषयक अधिकतर ग्रन्थों में उसका नामोल्लेख न होने के कारण सामान्य अध्येता तक उसके नाम का सन्देश नहीं पहुँच पाया है।

नाट्यशास्त्रकारों की परम्परा और विशेष रूप से अभिनय के क्षेत्र में राजा अशोकमल्ल का नाम उल्लेखनीय है। इतिहासकारों एवं कला के अध्येताओं से यह नाम अब तक प्राय अपरिचित ही रहा है। गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज (१४१), बड़ौदा से १९६३ में उनका नृत्याध्याय नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। तभी से उनके नाम की विशेष चर्चा होने लगी है।

यह ग्रन्थ एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर सम्पादित एवं प्रकाशित किया गया है। उसमें आदि-अन्त के अंश खण्डित हैं। फिर भी जितना अंश प्रकाशित हुआ है उससे ग्रन्थकार की विद्वत्ता एवं मौलिक शास्त्रीय दृष्टि का भली भाँति परिचय मिल जाता है। अभिनय विद्या के क्षेत्र में राजा अशोकमल्ल का स्वतंत्र चिन्तन प्रशंसनीय है।

नृत्याध्याय की सम्पादिका डॉ० प्रियबाला शाह ने ग्रन्थ के उपलब्ध अंश के आधार पर ग्रन्थकार के सम्बन्ध में केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला है कि उनका नाम राजा अशोकमल्ल और उनके पिता का नाम वीरसिंह था। उनका जन्मस्थान कहाँ था और वे किस राज्य के राजा थे, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। जहाँ तक उनके स्थितिकाल का सम्बन्ध है, बाह्य प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि वे नाटकपरिभाषा के लेखक सिंहभूपाल (१४वीं श०) के परवर्ती और नृत्यरत्नकोश के रचयिता कुम्भकर्ण के पूर्ववर्ती या समकालीन थे। इन आधारों पर अशोकमल्ल का स्थितिकाल १४वीं-१५वीं शताब्दी के बीच रखा जा सकता है।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में पहले भी संकेत किया जा चुका है कि वह विश्वकोशात्मक ग्रन्थ है। उसे अनेक विद्याओं और शास्त्रों का स्रोत माना जाता है। संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की जो बृहद् एवं सुदृढ़ परम्परा बनी उसका आधार नाट्यशास्त्र ही रहा है। इसलिए नाट्यशास्त्र से प्रभावित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्य-विषयक विवेचन भी देखने को मिलता है। इस दृष्टि से नाट्य-विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में एक वर्ग उन ग्रन्थों का भी है, जो नाट्यशास्त्र तथा दशरूपक से प्रभावित है। काव्यशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र का भी आंशिक विवेचन प्रस्तुत करने वाले मुख्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम इस प्रकार हैं :

नाट्य साहित्य

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
काव्यप्रकाश	मम्मट
रसार्णवसुधाकर	सिंहभूपाल
शृंगारप्रकाश सरस्वतीकंठाभरण	भोजराज
प्रतापरुद्रयशोभूषण	विद्यानाथ
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ

नाट्यशास्त्र की निरन्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता ने काव्यशास्त्रियों को भी प्रभावित किया। उसके फलस्वरूप *काव्यशास्त्र के अन्तर्गत नाट्यशास्त्रीय विधाओं का विवेचन हुआ। इस प्रकार के ग्रन्थों में आचार्य* मम्मट (११वीं श० ई०) के **काव्यप्रकाश** का नाम मुख्य है। उसके बाद **दशरूपक** और **काव्यप्रकाश** का सार-संग्रह करके १४वीं श० ई० में विद्यानाथ ने **प्रतापरुद्रयशोभूषण** की रचना की। इसमें उन्होंने वारंगल के शासक प्रतापरुद्र की प्रशस्ति करते हुए नाटक के शास्त्रीय नियमों के उदाहरण प्रस्तुत किये। इसी शताब्दी में उड़ीसा के शासक नरसिंह द्वितीय (१२८०-१३१४ ई०) की प्रशस्ति में विद्याधर ने **एकावली** में नाट्य के शास्त्रीय नियमों को बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया।

काव्यशास्त्र की परम्परा में नाट्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन **काव्यप्रकाश** के बाद आचार्य विश्वनाथ के **साहित्यदर्पण** में देखने को मिलता है। उसका नाट्यशास्त्रीय विवेचन **नाट्यशास्त्र** और **दशरूपक अवलोक** पर आधारित है। **प्रतापरुद्रयशोभूषण** और **एकावली** के आदर्श पर रूप गोस्वामी (१५वीं श० ई०) ने **नाटक-चन्द्रिका** लिखकर आचार्य विश्वनाथ की नाट्य-विषयक त्रुटियों का परिमार्जन करने की चेष्टा की, किन्तु उसमें वे सफल न हो सके। उन्होंने जो मान्यताएँ प्रस्तुत की, उनका उस रूप में स्वागत न हुआ। तदनन्तर **दशरूपक** और **काव्यप्रकाश** के आदर्श पर सुन्दर मिश्र (१७वीं श० ई०) ने **नाट्यप्रदीप** लिखकर नाट्य विषयक ग्रन्थों की परम्परा को आगे बढ़ाया।

आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका अभिनयदर्पण

आचार्य नन्दिकेश्वर

भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा के उन्नायक एवं प्रवर्तक आचार्यों मे आचार्य नन्दिकेश्वर का नाम अग्रणी है। उनकी ऐतिहासिक जानकारी प्रस्तुत करने की दिशा मे प्राय अधिकतर इतिहासकार मौन दिखायी देते हैं। उसका कारण सभवत यह हो सकता है कि उनका कृतित्व बहुत समय बाद प्रकाश मे आया। इसके अतिरिक्त यह भी सभव हो सकता है कि उनके सम्बन्ध मे अन्तर्बाह्य साक्ष्यो का प्राय अभाव रहा हो। जिन विद्वानो ने उनके स्थितिकाल की सीमाएँ निर्धारित करने की चेष्टा की भी है, उनमे इतनी विषमता एव भिन्नता है कि उनके आधार पर किसी एक निश्चय पर पहुँचना सभव नही है।

जहाँ तक उनके जन्मस्थान और वश-परिचय का सम्बन्ध है, इस विषय पर कही भी कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही है। डॉ० मनमोहन घोष ने स्व-सम्पादित अभिनयदर्पण की भूमिका (पृ० १७) मे लिखा है कि दक्षिण मे नन्दिकेश्वर को एक देवता के रूप मे पूजा जाता है। इस आधार पर सभवत वे दाक्षिणात्य थे। किन्तु यह आधार सर्वथा प्रामाणिक एव विश्वस्त नही है। इसलिए जब तक कोई नया तथ्य प्रकाश मे नही आता, तब तक उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध मे कुछ कहना सभव नही है।

श्री आनन्द कुमारस्वामी ने मिरर ऑफ जेश्चर (अभिनयदर्पण का अग्रेजी सस्करण, पृ० ३१) मे लिखा है कि नन्दिकेश्वर तत्र, पूर्वमीमासा तथा लिंगायत शैव दर्शन के अनुयायी थे। वे शिव के अवतार थे और कैलाश पर रहते हुए उनका इन्द्र के साथ वार्तालाप हुआ था। प्राचीन ग्रन्थो के ये उल्लेख भगवान् शकर के अनुचर नन्दि से सम्बन्धित हैं। उनका सम्बन्ध अभिनयदर्पण के रचयिता नन्दिकेश्वर से जोड कर इसी प्रकार की अनेक बातें कही गयी हैं, जो कि सर्वथा सशयात्मक एव भ्रमात्मक हैं और जिनके कारण यथार्थता एव वास्तविकता भी सदिग्ध बन गयी है। मनुष्य लोक से निकाल कर उन्हे देवलोक मे ले जाने की प्रवृत्ति ने ही इस प्रकार की शकाओ को जन्म दिया और उनके सम्बन्ध मे जो-कुछ उपलब्ध भी था, उसे भी विवादास्पद बना दिया।

कुछ विद्वानो ने नन्दि-भरत के आधार पर नन्दिकेश्वर को भरत का पूर्ववर्ती स्वीकार किया और इस आधार पर यह स्थापित किया कि नाट्यशास्त्र पर अभिनयदर्पण का प्रभाव है। इस सम्बन्ध मे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने सस्कृत साहित्य का इतिहास (भाग १, पृ० ३६-३७) मे लिखा है कि (१) या तो महात्मा नन्दि की प्रेरणा से नाट्यशास्त्र लिखा गया, (२) या दूसरे भरत नाम के आचार्य से भिन्नता बताने के लिए नाट्याचार्य भरत के साथ नन्दि को जोड़ा गया है, (३) या तो लिपिकर्ताओं की असावधानी के कारण ऐसा हुआ होगा,

जैसा कि नाट्यशास्त्र की चालीस हस्तलिखित प्रतियों के पाठानुशीलन करने पर उसके सम्पादक ने भूमिका (पृ० ९) में स्पष्ट किया।

नाट्य विषयक परवर्ती ग्रन्थों मे उल्लिखित नन्दि-भरत का आधार उनकी तदनुरूप ऐतिहासिक पूर्वापरता नहीं है, अपितु लिपिकारों एवं प्रतिलिपिकारों की देन है। आरम्भ में सामान्यतः यही माना जाने लगा था कि नन्दि-भरत एक ही व्यक्ति हुआ, किन्तु अभिनयदर्पण के प्रकाश में आ जाने से यह स्पष्ट हो गया कि भरत और नन्दिकेश्वर, दोनो अलग-अलग व्यक्ति हुए। नन्दि और नन्दिकेश्वर को एक समझने के कारण यह भ्रान्ति हुई।

आचार्य भरत और आचार्य नन्दिकेश्वर की पृथक्ता के सम्बन्ध मे अनेक प्रामाणिक उल्लेख देखने को मिलते हैं। कविराज राजशेखर ने काव्यमीमासा (१।१) के प्रारम्भ मे काव्यविद्या की उत्पत्ति और परम्परा का विवेचन करते हुए लिखा है कि भगवान् शकर ने इस काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश चौंसठ शिष्यों को दिया। उनमे काव्य पुरुष भी एक था। उस काव्यपुरुष ने अपने अठारह दिव्य (स्वर्गीय) स्नातकों को उसमे दीक्षित किया। उन अठारह शिष्यो ने काव्यविद्या के एक एक भाग पर पृथक्-पृथक् अठारह ग्रन्थों की रचना की। इन अठारह काव्याचार्यो मे भरत और नन्दिकेश्वर का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। भरत ने नाट्य विषय पर (रूपकनिरूपणीय भरत) और नन्दिकेश्वर ने रस विषय पर (रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर) ग्रन्थ लिखे।

इस दृष्टि से और नाट्यशास्त्र तथा अभिनयदर्पण का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि दोनो दो भिन्न व्यक्ति थे और उनमे भरत पहले हुए।

काव्यमीमासा के उक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर रसविषयक ग्रन्थ के प्रथम आचार्य थे। इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रन्थो से भी नन्दिकेश्वर का सम्बन्ध बताया गया है। रतिरहस्य और पचसायक नामक ग्रन्थो मे उन्हे कामशास्त्र का आचार्य बताया गया है। इसके अतिरिक्त सगीतरत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव ने उन्हे सगीत का आचार्य माना है (सगीतरत्नाकर, श्लोक १६-१७)। मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची मे नन्दिकेश्वर के नाम से ताल-लक्षण या तालादि-लक्षण का उल्लेख हुआ है। इन आधारो पर स्पष्ट है कि आचार्य नन्दिकेश्वर अनेक विषयो के ज्ञाता थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी।

आचार्य नन्दिकेश्वर के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करने वाले विद्वानों मे म० म० रामकृष्ण कवि का नाम उल्लेखनीय है। उनके मत से नन्दिकेश्वर और तण्डु एक ही व्यक्ति थे। उनका यह भी कहना है कि नन्दिकेश्वर ने नन्दिकेश्वर सहिता की रचना की थी, जिसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया, किन्तु केवल पात्र-सम्बन्धी परिच्छेद बच गया। वही अवशिष्ट अश सभवतः वर्तमान अभिनयदर्पण है (दि क्वार्टरली जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग ३, पृ० २५-२६)।

इस अभिमत के मूल मे नाट्यशास्त्र (४।१७-१९, २५४-२५६) का वह सदर्भ है, जिसमे कहा गया है कि अगहारो, करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा भरत को तण्डु से प्राप्त हुई थी। यदि तण्डु ही अपर नाम नन्दिकेश्वर थे तो निश्चित ही उनको भरत का पूर्ववर्ती होना चाहिए, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। दोनो को एक व्यक्ति मानना केवल आनुमानिक हो सकता है, प्रामाणिक नहीं, क्योंकि अभिनयदर्पण की आरम्भिक

पुष्पिका मे स्वय नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि आचार्य भरत द्वारा अभिनीत नाट्य के उद्धत प्रयोगो का परिमार्जन करने के लिए भगवान् शकर ने उसे अपने मुख्य गण तण्डु को दिया। इस प्रकार भगवान् शकर के गण तण्डु मुनि द्वारा प्रवर्तित होने के कारण उस नाट्य को मुनिजनो ने मानवी सृष्टि मे ताण्डव नाम से प्रचलित किया।

इस प्रकार अभिनयदर्पण के रचयिता नन्दिकेश्वर और भगवान् शकर के मुख्य गण तण्डु सर्वथा दो भिन्न व्यक्ति हुए। उनको एक बताना अनुपयुक्त और अनैतिहासिक है।

बाह्य सामग्री के आधार पर आचार्य नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल को निर्धारित करने मे सगीताचार्य मतग का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य मतग ने आचार्य नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है। सिलप्पदिकरण नामक तमिल ग्रन्थ मे आचार्य मतग का उल्लेख होने के कारण उनका स्थितिकाल ५वी श० ई० माना जाता है। इस आधार पर कुछ विद्वानो ने आचार्य नन्दिकेश्वर को आचार्य मतग से लगभग एक शताब्दी पूर्व, अर्थात् ४थी श० ई० मे माना है।

डॉ० मनमोहन घोष ने अभिनयदर्पण की भूमिका (पृ० ३३-३८) मे आचार्य नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल की उत्तर सीमा निर्धारित करने के लिए शार्ङ्गदेव के सगीतरत्नाकर को प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है। अभिनयदर्पण और सगीतरत्नाकर के कतिपय स्थलो मे ही एकता नही है, अपितु शार्ङ्गदेव ने नन्दिकेश्वर को एक सगीताचार्य के रूप मे भी उद्धृत किया है (सगीतरत्नाकर—अ० १, १७)। इन उद्धरणो का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि शार्ङ्गदेव को नन्दिकेश्वर और अभिनयदर्पण दोनो की भली भाँति जानकारी थी।

सगीतरत्नाकर की रचना १२४७ ई० मे हुई। इस आधार पर नन्दिकेश्वर की उत्तर सीमा १३वी शताब्दी ई० के पहले सिद्ध होती है।

नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल की पूर्वसीमा क्या हो सकती है, इस सम्बन्ध मे बडा विवाद एव मतभेद है। इस सम्बन्ध म आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का नाम पहले आता है। नाट्यशास्त्र के ८वें तथा ९वें अध्यायो मे वर्णित अगन्यासो और भाव-भगिमाओं से अभिनयदर्पण की सामग्री की तुलना करने पर दोनो मे बहुत-कुछ साम्य देखने को मिलता है। इस आधार पर डॉ० मनमोहन घोष ने तीन तरह की सभावनाएँ प्रकट की हैं·

१ अभिनयदर्पण, नाट्यशास्त्र का ऋणी है, या
२ नाट्यशास्त्र, अभिनयदर्पण का ऋणी है, अथवा
३ उक्त दोनो ग्रन्थों का मूल स्रोत कोई तीसरा ही ग्रन्थ है।

प्रथम सभावना पर विचार करने के उपरान्त उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिनयदर्पण, नाट्यशास्त्र का ऋणी नहीं है, क्योंकि नाट्यशास्त्र के सिर और हस्त के लक्षण विनियोगों का निरूपण अभिनयदर्पण की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा विकसित है। इसके अतिरिक्त उनके प्रयोग के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनकी सख्या भी नाट्यशास्त्र मे अधिक है। इन सभावनाओ के बावजूद भी निश्चयात्मक रूप से यह नही कहा जा सकता है कि अभिनयदर्पण, नाट्यशास्त्र का ऋणी है।

इस सम्बन्ध मे यह भी सम्भावना हो सकती है कि **अभिनयदर्पण** किसी वृहद् ग्रन्थ का अश हो। इसके लिए **भरतार्णव** को लिया जा सकता है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने स्वय कतिपय स्थलो पर **भरतार्णव** का उल्लेख किया है; किन्तु **भरतार्णव** के विषय मे कोई प्रामाणिक जानकारी न होने के कारण **अभिनयदर्पण** को उसका ऋणी मानना असगत प्रतीत होता है।

नाट्यशास्त्र और **अभिनयदर्पण** के अग विन्यासो और भाव भगिमाओ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है दोनो की परिभाषाओ और विनियोगो मे कुछ असमानता है। इसके अतिरिक्त दोनो ग्रन्थो मे अपनी-अपनी अलग परम्पराओ का उल्लेख भी हुआ है। इन बातो पर विचार करने के उपरान्त एक तीसरा ही विकल्प सामने आता है। ऐसी भी सम्भावना की जा सकती है कि **नाट्यशास्त्र** ही **अभिनयदर्पण** का ऋणी हो, क्योकि दोनो ग्रन्थो के शिराभिनय तथा हस्ताभिनय की मुद्राओ का तुलनात्मक अध्ययन इस सभावना को बल देता है। किन्तु यह सम्भावना इसलिए प्रामाणिक एव अन्तिम नही कही जा सकती है, क्योकि बहुधा ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि पूर्ववर्ती ग्रन्थो की अपेक्षा उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे विषय का विस्तार अधिक हुआ है। उदाहरण के लिए **सगीतरत्नाकर** और **दशरूपक**, **नाट्यशास्त्र** के उत्तरकालीन ग्रन्थ हैं, किन्तु उनमे **नाट्यशास्त्र** की अपेक्षा अनेक बातो मे सशोधन, परिवर्तन और विस्तार देखने को मिलता है।

नाट्यशास्त्र को **अभिनयदर्पण** का ऋणी मानने के लिए कुछ विद्वानो ने उसकी अन्तिम पुष्पिका को प्रमाण माना है, जिसमे लिखा गया है कि **"समाप्तश्चाय (?) नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम्।"** इस पुष्पिका ने अनेक विद्वानो को विभ्रान्त किया है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि नाट्यशास्त्रकार ने नन्दिन् की कृति मे विषय-सामग्री ग्रहण की है। इस सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि वर्तमान **नाट्यशास्त्र** अन्तिम एव नवीन सस्करण है। उसका आधार कोई प्राचीन **नाट्यशास्त्र** और नन्दिन् (नन्दिकेश्वर?) की कृति थी। किन्तु इस सभावना को इसलिए प्रामाणिक नही माना जा सकता है कि न तो नन्दिन् के ग्रन्थ का कुछ पता है और न पूर्ववर्ती किसी **नाट्यशास्त्र** का ही कही कोई उल्लेख देखने को मिलता है। इसलिए यह मानना कि **नाट्यशास्त्र**, **अभिनयदर्पण** का ऋणी है, युक्तिसगत नही है।

इस आधार पर अधिक उचित और तर्कसगत यही प्रतीत होता है कि **नाट्यशास्त्र** और **अभिनयदर्पण** दोनो की प्रेरणा और उद्गम का अलग-अलग आधार रहा है। उनके अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है कि उनका मूल स्रोत और उनकी परम्परा अलग-अलग थी। **नाट्यशास्त्र** अपनी परम्परा का प्रौढ एव वृहद् ग्रन्थ है। इस दृष्टि से **अभिनयदर्पण** लघु कृति होते हुए भी विवेच्य विषय की दृष्टि से सर्वांगीण है।

उक्त दोनो ग्रन्थो की वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने के बावजूद भी निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता है कि **अभिनयदर्पण** के रचनाकाल की उत्तर सीमा क्या है। इस सम्बन्ध मे इतना तो स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ न तो अति आधुनिक है और न अति प्राचीन ही। डॉ० मनमोहन घोष ने **अभिनयदर्पण** मे उल्लिखित दशावतारो के प्रसग के आधार पर उसके रचनाकाल की उत्तर सीमा को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। **अभिनयदर्पण** (श्लोक २१६-२२५) मे विष्णु के दस अवतारो के लक्षण और विनियोग दिये गये हैं। अवतारो की इस गणना मे बुद्धावतार को छोड दिया गया है और उसके स्थान पर कृष्णावतार का उल्लेख

किया है। डा० घोष का अभिमत है कि बुद्ध की उपेक्षा का कारण लेखक का बुद्ध विरोधी दृष्टिकोण हो सकता है, किन्तु यह परिकल्पना इसलिए उतनी महत्वपूर्ण नही है कि बुद्ध को दशावतारो की कोटि मे रखने का प्रचलन उत्तर मध्य युगीन ग्रन्थो मे अधिक दिखायी देता है। बुद्ध के स्थान पर कृष्ण का उल्लेख होने से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अभिनयदर्पण की रचना एसे युग मे हुई, जब बुद्ध को हिन्दुओ के देव कुल से पृथक् किया जा चुका था। विष्णु के दशावतारो मे बुद्धावतार का सर्व प्रथम उल्लेख मत्स्यपुराण (४७।२४७) मे और भागवत (१।३।२४) मे हुआ है। मत्स्यपुराण की रचना छठी शताब्दी मे और भागवत की रचना उसके बाद मानी जाती है। इस आधार पर डॉ० घोष ने अभिनयदर्पण के रचनाकाल की उत्तर सीमा ५वी शती ई० निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु साथ ही उनका यह भी मत है कि विभिन्न युगो मे हुए अवतार सिद्धान्त के क्रमिक विकास की कोई सुनिश्चित परम्परा न होने के कारण उक्त आधार को अन्तिम प्रमाण मानना कदाचित् युक्तिसगत नही है।

उक्त विवेचना के आधार पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अभिनयदर्पण १३वी शताब्दी तक प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था और पूरी तरह से विश्रुत हो चुका था। इस आधार पर डॉ० घोष का अभिमत है कि स्वभावत यह मानने मे किसी प्रकार का मतभेद या सन्देह नही होना चाहिए कि उसकी रचना इससे कुछ शताब्दियो पहले हो चुकी थी। फिर भी उसकी अति प्राचीनता ५वी श० ई० से पहले नही हो सकती है।

डॉ० घोष ने जो सभावनाएँ प्रकट की हैं, उनको उसी रूप मे स्वीकार करने मे कुछ कठिनाइयाँ सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि ५वी से १३वी शताब्दी के बीच की अवधि इतनी लम्बी है कि उससे किसी निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता है। दूसरी बात यह कि उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र से अभिनयदर्पण का तारतम्य स्थापित करते हुए यह सिद्ध किया है कि अभिनयदर्पण पर नाट्यशास्त्र का कोई ऋण नही है। इसके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल की पूर्वापर सीमाओ की सभावना के लिए उन्होंने जिन अन्तर्बाह्य साक्ष्यो को प्रस्तुत किया है वे भी उतने पुष्ट, प्रामाणिक एव साधार नही है।

अभिनयदर्पण पर नाट्यशास्त्र के प्रभाव को स्वीकार न करने के सम्बन्ध मे म० म० रामकृष्ण कवि ने अपने एक विस्तृत लेख मे जो तर्क प्रस्तुत किये थे, आधुनिक विद्वानो पर उनकी व्यापक प्रतिक्रिया लक्षित हुई (देखिए—दि क्वार्टरली जर्नल ऑफ दि आध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग ३, पृ० २५-२६)। श्री गगनेन्द्रनाथ उपाध्याय ने भी अपने एक लेख (त्रिपथगा, जन ५७, पृ० ७३-७९) मे इसी मन्तव्य की प्रकारान्तर से पुष्टि की।

भरत और नन्दिकेश्वर के उक्त दोनो ग्रन्थो के सम्बन्ध मे इधर जो नयी सामग्री प्रकाश मे आयी है, उसको दृष्टि म रख कर कहा जा सकता है कि अभिनयदर्पण पर नाट्यशास्त्र का व्यापक प्रभाव है और अभिनयदर्पण की रचना नाट्यशास्त्र के बहुत समय बाद हुई। दोनो ग्रन्थो की पूर्वापरता के निर्णय के लिए उनके अन्तर्साक्ष्यो को भी प्रमाण रूप म उद्धृत किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र मे अभिनयदर्पण तथा नन्दिकेश्वर का कही भी उल्लेख नही हुआ है। इसके विपरीत अभिनयदर्पण के आदि से अन्त तक आचार्य भरत और उनकी नाट्यशास्त्रीय परम्परा को प्रमाण रूप म बार-बार उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनो ग्रन्थो के लक्षण-

विनियोगों में पर्याप्त साम्य है। दोनों ग्रन्थों की सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञान होता है कि अभिनयदर्पण के लेखक आचार्य नन्दिकेश्वर के सम्मुख आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र विद्यमान था। उन्होंने भरत शास्त्र और उसकी परम्परा का सम्मान करते हुए स्वयं को उसी परम्परा में परिगणित करने का संकेत किया है। अभिनयदर्पण पर नाट्यशास्त्र के ऋण की चर्चा भरत के स्थितिकाल के सन्दर्भ में और दोनों ग्रन्थों के अभिनय-भेदों की समीक्षा में यथास्थान की गयी है।

आचार्य नन्दिकेश्वर को ४थी-५वीं शताब्दी में ले जाने की जो सम्भावना प्रकट की गयी है और उसके लिए जो आधार दिये गये हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इस परम्परा में लिखे गये उत्तरवर्ती ग्रन्थों में खोजने पर भी कहीं नन्दिकेश्वर तथा उनके कृतित्व का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जब कि नाट्यशास्त्र का प्रभाव सर्वत्र व्यापक रूप में देखने को मिलता है।

इस आधार पर आचार्य नन्दिकेश्वर का समय १२वीं-१३वीं शताब्दी के बीच मानने में किसी प्रकार का सन्देह या विकल्प नहीं होना चाहिए।

अभिनयदर्पण

भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा में अभिनयदर्पण का अपना पृथक् एवं प्रमुख स्थान है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र लिख कर नाट्य की जिस उदात्त परम्परा की स्थापना की, आगे उसका प्रवर्तन दो रूपों में हुआ। उसके एक पक्ष को मातृगुप्त तथा अभिनवगुप्त आदि टीकाकारों ने प्रशस्त किया और दूसरा पक्ष धनंजय, नन्दिकेश्वर तथा अशोकमल्ल आदि ने। आचार्य धनंजय ने अपने दशरूपक में नाट्य की रूपक विधा को लेकर उसका स्वतंत्र एवं सर्वांगीण प्रतिपादन किया। परवर्ती ग्रन्थकारों पर उसका व्यापक प्रभाव लक्षित हुआ। नाट्य, नाटक और काव्य, तीनों विषयों के ग्रन्थकारों ने उससे प्रेरणा प्राप्त कर संस्कृत साहित्य को संवर्द्धित किया। इस दृष्टि से दशरूपक का महत्वपूर्ण स्थान है। उसका प्रभाव न केवल संस्कृत साहित्य पर, अपितु समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य पर लक्षित हुआ।

नाट्यशास्त्र की अभिनय विधा को उजागर किया आचार्य नन्दिकेश्वर ने। भरत मुनि द्वारा अभिनय के जो लक्षण विनियोग निश्चित किये गये थे, उनमें से कुछ तो केवल शास्त्रीय सीमाओं में बँध कर रह गये और कुछ लोक-प्रयोगों की दृष्टि से प्रचलित न हो सके। शास्त्र और लोक के इस नये दृष्टिकोण तथा नयी अभिरुचि को पूरा किया नन्दिकेश्वर ने। उन्होंने भरत परम्परा की आस्था एवं मान्यता को स्वीकार कर नाट्य की अभिनय विधा में नये प्रयोगों का समावेश ही नहीं किया, अपितु उसको एक नयी स्वतंत्र दिशा भी प्रदान की। इस प्रकार अभिनयदर्पण अपनी परम्परा का लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ और उनके बाद राजा अशोकमल्ल ने नृत्याध्याय लिख कर उसका प्रवर्तन किया। साहित्य में उसको जो मान्यता प्राप्त हुई उससे अधिक उसका आदर-सम्मान हुआ लोक-जीवन में।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण के आरम्भ में नाट्यशास्त्र के अधिष्ठाता भगवान् नटराज शंकर की वन्दना करने के उपरान्त नाट्यशास्त्र की परम्परा का उल्लेख किया है। परमेष्ठि ब्रह्मा से भरत और

तदनन्तर मुनियों एवं अप्सराओं द्वारा प्रवर्तित यह परम्परा ब्रज की गोपियों और सौराष्ट्र की रमणियों से होती हुई पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरन्तर आगे बढ़ती रही। उसके बाद नाट्यशास्त्र की प्रशंसा करते हुए उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चतुर्वर्ग का प्रदाता, सुख, सौभाग्य, कीर्ति का संवर्धक और पारलौकिक ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्ददायी बताया गया है।

नाट्यशास्त्र की प्रशंसा के अनन्तर अभिनय की दृष्टि से उसके नाट्य, नृत्त और नृत्य—तीन भेद बताये गये हैं। अभिनय के इन तीन प्रकारों का लक्षण बताने के साथ ही उनके प्रयोगकाल का निर्देश किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रत्येक नाट्य, नृत्त और नृत्य परिषद् के लिए एक सभापति तथा मंत्री का होना आवश्यक है। ये सभापति और मंत्री सर्वगुण सम्पन्न और कलाओं तथा अनेक भाषाओं के जानकार होने चाहिएँ। इस प्रकार के सर्वगुण-सम्पन्न सभापति और मंत्री में अधिष्ठित सभा ऐसे कल्पवृक्ष के समान शोभायमान होती है, वेद जिसकी शाखाएँ, शास्त्र जिसके पुष्प और विद्वन्मण्डली जिसकी भ्रमरावली है। सभा की रचना के सन्दर्भ में सभापति, मंत्री, नर्तक, नर्तकी गीतकार, स्वरकार आदि के स्थानों का निर्देश किया गया है। नर्तकी का लक्षण देते हुए लिखा गया है कि वह कला-कुशला, कमनीय और सुन्दर समाकर्षक वेष-भूषा धारण किये हुए खिले कमल की भाँति प्रसन्न मुख वाली होनी चाहिए। उसको गतिमत्ता और स्थिर भाव का ज्ञान हो। उसकी वाणी में माधुर्य हो।

नर्तकी की योग्यताओं का वर्णन करने के अनन्तर आचार्य नन्दिकेश्वर ने नर्तकी के पैरों पर बाँधे जाने वाले घुँघरुओं के आकार-प्रकार और उनकी ध्वनि एवं संख्या आदि के सम्बन्ध में विधान किया है। उसके बाद अभिनय के अधिष्ठाता देवता विघ्नविनाशक भगवान् गणेश और नटराज शंकर की स्तुति, वाद्ययंत्रों की पूजा-प्रतिष्ठा, गुरुवन्दना और अन्त में रंगमंच की अधिष्ठातृ देवी की वन्दना करने के अनन्तर पुष्पांजलि अर्पित करने का विधान है। अभिनेता को चाहिए कि वह विघ्न-बाधाओं की निवृत्ति के लिए, प्राणियों की कल्याण-कामना के लिए, लोक-मंगल के लिए, देवताओं की प्रसन्नता के लिए, दर्शकों की ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए, नाट्य के नायक के श्रेयस् के लिए, अन्य पात्रों की मंगल-कामना के लिए और आचार्यपाद द्वारा अधीत कला की सिद्धि-सफलता के लिए पुष्पांजलि अर्पित करे।

रंगमंच पर पुष्पांजलि अर्पित करने के बाद नृत्य का आरम्भ करना चाहिए। नृत्य ऐसा होना चाहिए जो गीत, अभिनय, भाव और ताल से समन्वित हो। नृत्य में वाणी द्वारा गायन करना चाहिए, गीत के अभिप्राय को हस्तमुद्राओं द्वारा, भावों को नेत्र-संचालन द्वारा और ताल-छन्द की गति को दोनों पैरों द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। जिस दिशा की ओर हस्त-संचालन हो उधर ही दृष्टिपात होना चाहिए, जिस दिशा में दृष्टिपात हो वहीं मन केन्द्रित होना चाहिए, जिस दिशा में मन केन्द्रित हो तदनुसार ही भावाभिव्यक्ति होनी चाहिए, और भावाभिव्यक्ति के अनुरूप ही रस की सृष्टि होनी चाहिए।

अभिनय-विधि का विधान करने के उपरान्त आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनय का निरूपण किया है। उन्होंने नाट्य के ६ तत्त्व बताये हैं, जिनके नाम हैं नृत्य, गीत, अभिनय, भाव, रस और ताल। उनमें अभिनय का स्थान प्रमुख माना गया है। अभिनय के चार प्रमुख भेद होते हैं आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।

अगो द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को आगिक, वाणी द्वारा गीत-सगीत (काव्य) और सम्वादादि (नाटकादि) का अभिव्यजन किये जाने वाले अभिनय को वाचिक, हार, केयूर आदि प्रसाधना मे सुमज्जित जिस अभिनय का प्रदर्शन किया जाय वह आहार्य, और भावज्ञ व्यक्ति द्वारा सात्त्विक भावो के माध्यम से जिस अभिनय का प्रदर्शन किया जाय, उसे सात्त्विक कहा गया है।

उक्त अभिनय-भेदो का निरूपण करने के अनन्तर आगिक अभिनय का विवेचन किया गया है। आगिक अभिनय के तीन साधन बताये गये हैं अंग, प्रत्यग और उपाग। अग साधनो की सख्या छ है। उनके नाम १. शिर, २. दोनो हाथ, ३ वक्षस्थल, ४ दोनो पार्श्व, ५ दोनों कटि प्रदेश और ६ दोनो पैर। इसी प्रकार प्रत्यग साधनो के अन्तर्गत १ दोनो कधे, २ दोनो बाँहें, ३ पीठ, ४ उदर, ५ दोनो उरु और ६ दोनो जघाओ का समावेश किया गया है। आगिक अभिनय के उपाग साधनो के बारह प्रकार बताये गये है, जिनके नाम हैं १. नेत्र, २. भवें, ३ आँखो की पुतलियाँ, ४ दोनो कपोल, ५ नासिका, ६ दोनो कोहनियाँ, ७ अधर, ८ दाँत, ९ जिह्वा, १० ठोढी, ११ मुख और १२ शिर के अग।

अभिनय के साधन उक्त अग, प्रत्यग और उपागा मे से आचार्य नन्दिकेश्वर ने केवल उन्ही का उल्लेख किया है, जो विशेष रूप से उपयोगी है। शेष को उन्होने इसलिए छोड दिया कि उनका भी स्वत सचालन हो जाता है।

अभिनय-भेदो का निरूपण करते हुए आचार्य नन्दिकेश्वर न शिर, दृष्टि, ग्रीवा अभिनया के बाद हस्त अभिनयों का लक्षण और विनियोग निरूपित किया है। तदनन्तर देवहस्त अभिनय, दशावतार अभिनय, तज्जातीय हस्त अभिनय, बान्धवहस्त अभिनय, नवग्रहहस्त अभिनय का लक्षण और विधान बताया है। हस्ताभिनयों के अनन्तर पादाभिनय के अन्तर्गत मण्डल पाद, स्थानक पाद, उत्प्लवन पाद, भ्रमरी पाद और चारी पाद के भेदो का निरूपण किया है। अन्त मे गति अभिनय के लक्षण-विनियोग बताने के बाद अभिनयदर्पण को समाप्त किया गया है।

अभिनयदर्पण मे प्रमुख रूप से जिन अभिनया और उनके भेदोपभेदो का निरूपण किया गया है, उनका विवरण इस प्रकार है :

अभिनय	अभिनय भेद
१ शिर अभिनय	९
२. दृष्टि अभिनय	८
३. ग्रीवा अभिनय	४
४. असयुत हस्ताभिनय	२८
५. मतान्तर से	४
६. संयुत हस्ताभिनय	२३

अभिनय	अभिनय भेद
७. देवहस्ताभिनय	१६
८. दशावतार हस्ताभिनय	१०
९. तज्जातीय हस्ताभिनय	५
१०. बान्धव हस्ताभिनय	११
११. नवग्रह हस्ताभिनय	९
१२. मण्डल पाद अभिनय	१०
१३. स्थानक पाद अभिनय	६
१४. उत्प्लवन पाद अभिनय	५
१५. भ्रमरी पाद अभिनय	७
१६. चारी पाद अभिनय	८

अभिनय के उक्त भेदो के अतिरिक्त हस्त और पाद की गतियो का भी अलग-अलग निरूपण किया गया है। हस्तगति के पाँच और पादगति के दस भेदो का उल्लेख किया गया है। शास्त्रीय विधान के अनुसार बाँये हाथ या पैर को वाम भाग मे और दाहिने हाथ या पैर को दक्षिण भाग मे सचालित होना चाहिए। अभिनय काल मे जिन हस्तमुद्राओ का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है उनकी सख्या तेरह बतायी गयी है। उनके नाम हैं. १. पताक, २ स्वस्तिक, ३ डोला, ४. अंजलि, ५ कटकावर्धन, ६ शकट, ७ पाश, ८. कीलक, ९. कपित्थ, १०. शिखर, ११. कूर्म, १२. हसास्य और १३. अलपद्म।

इनमे पताक, कपित्थ, शिखर, हसास्य और अलपद्म ये पांच असयुत हस्त हैं। शेष स्वस्तिक, डोला, अजलि, कटकावर्धन, शकट, पाश, कीलक और कूर्म सयुत हस्त हैं।

हस्तगति की ही भांति अभिनयदर्पण मे पादगति का भी निरूपण किया गया है। पादगति के यहाँ दस प्रकार बताये गये हैं। जिनके नाम हैं १. हंसी, २. मयूरी, ३. मृगी, ४. गजलीला, ५. तुरंगिणी, ६ सिंही, ७ भुजंगी ८. माण्डूकी ९. वीरा और १०. मानवी।

अभिनयदर्पण के उक्त अभिनय-भेदो का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उसमे मुख्य रूप से आगिक अभिनय का ही विवेचन किया गया है। आगिक अभिनयो मे भी शिर, दृष्टि, ग्रीवा, हस्त और पाद की मुद्राओ पर ही विशेष विचार किया गया है। हस्त और पाद, अभिनय के दो ही मुख्य साधन हैं। इस दृष्टि से अभिनयदर्पण मे उन्ही दोनो को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। आचार्य नन्दिकेश्वर की हस्ताभिनयो के निरूपण मे विशेष अभिरुचि दिखायी देती है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र की परम्परा मे हस्ताभिनयो का जहाँ भी उल्लेख हुआ है उसका आधार आचार्य नन्दिकेश्वर का अभिनयदर्पण ही रहा है। हस्ताभिनयो पर आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र मे भी प्रकाश डाला गया है, किन्तु परवर्ती नाट्यकारो ने आचार्य भरत की अपेक्षा आचार्य

नन्दिकेश्वर के विधि-विधानो को ही प्रामाणिक माना है। दोनो आचार्यों द्वारा प्रतिपादित लक्षण-प्रयोगो मे अन्तर होते हुए भी आचार्य नन्दिकेश्वर के दृष्टिकोण को ही प्रधानता दी गयी है। उसका कारण सभवत यह है कि उन्होने शास्त्रीय परम्परा को ही एकमात्र आधार स्वीकार न कर व्यावहारिक लोक-जीवन मे प्रचलित प्रयोगो को भी आधार बनाया। इसीलिए शास्त्र और लोक, दोना क्षेत्रा मे अभिनय की दिशा मे आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण को ही वरीयता एव लोकविश्रुति प्राप्त हुई।

• • •

दो

•

नाट्योत्पत्ति
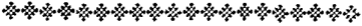
नाट्यवेद की उत्पत्ति का आख्यान

•

चारों वेदों का उपजीव्य नाट्यवेद

नाटचवेद की उत्पत्ति का आख्यान

चारो वेदो का उपजीव्य होने के कारण नाटचवेद को पचम वेद के रूप म माना गया है। नाटचशास्त्र पर लिखे गये अनेक ग्रन्थो मे नाटचवेद के उदभव और प्रयोजन के विभिन्न दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। उन सब का आधार भरत मुनि का नाटचशास्त्र है। नाटचशास्त्र ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे नाटचवेद की उत्पत्ति का विस्तृत आख्यान वर्णित है।

उसमे लिखा है कि एक बार भरत मुनि नित्य-नैमित्तक कार्यो से निवृत्त होकर अपने पुत्र-पौत्रो (शिष्य-प्रशिष्यो) से घिरे आराम कर रहे थे। उसी समय आत्रय आदि ऋषिया ने आकर उनसे पूछा

> योऽय भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मित.।
> नाटचवेद कथ ब्रह्मन्नुत्पन्न कस्य वा कृते॥

नाटचशास्त्र—१।४

'हे ब्रह्मन्, आपने जिस वेद सम्मत नाटचवेद की रचना की है उसका प्रयोजन क्या है, और वह किसके लिए रचा गया है?' उन्होंने यह भी जिज्ञासा की कि उसका विस्तार कितना है और उसके प्रयोग की विधि क्या है?

मुनिजनो द्वारा यह जिज्ञासा किये जाने पर महामुनि भरत ने कहा 'हे मुनिजना, पुराकाल मे स्वायम्भुव मनु के सतयुग के अनन्तर वैवस्वत मनु का त्रेतायुग आरम्भ हुआ। उस त्रेतायुग मे ऐसी अव्यवस्था फैल गयी कि जिसके कारण समाज निकृष्ट पापाचारा (ग्राम्यधर्म) के वशीभूत काम, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ आदि दुष्प्रवृत्तियो मे सलिप्त होकर सुख दुख का जीवन विताने लगा'

> पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे।
> त्रेतायुगे सम्प्रवृत्ते मनोर्वैवस्वतस्य तु॥
> ग्राम्यधर्मे प्रवृत्ते तु कामलोभवश गते।
> ईर्ष्या-क्रोधादिसमूढे लोके सुखदु खितौ॥

नाटचशास्त्र—१।८, ९

लोक की इस विषमता को देख कर 'इसी समय लोकपाला द्वारा शासित एव सरक्षित इस जम्बूद्वीप (भारत) पर देवो, दानवो, गन्धर्वो, यक्षो और नागो (महोरग) ने आक्रमण करके उसे स्वायत्त कर लिया'

देवदानवगन्धर्वै रक्षोयक्षमहोरगैः।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते॥

नाट्यशास्त्र—१।१०

ऐसे समय देवराज इन्द्र को अपना प्रतिनिधि बना कर देवतागण ब्रह्मा जी के पास गये। उन्होंने पितामह से कहा 'हे पितामह, हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं, जिसको देखा भी जा सके और सुना भी जा सके' :

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्॥

नाट्यशास्त्र—१।११

देवताओं ने पितामह के सामने प्रस्ताव रखा कि 'चारों वेदों के अतिरिक्त एक ऐसा वेद बनाइए, जिसमें सभी वर्गों को समान स्थान हो, क्योंकि जितने भी वेदोक्त व्यवहार हैं उनमें शूद्र आदि निम्न जातियों को सम्मिलित होने का अधिकार नहीं है'

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्य शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥

नाट्यशास्त्र—१।१२

पितामह द्वारा नाट्यवेद का निर्माण

इन्द्रादि देवताओं के इस आग्रह को स्वीकार कर परमेष्ठि पितामह ब्रह्मा ने उन्हें विदा किया। तदनन्तर तत्वदर्शी ब्रह्मा जी ने समाधिस्थ होकर चारों वेदों का स्मरण किया। समाधिस्थ होकर उन्होंने सङ्कल्प किया 'मैं ऐसे पाँचवें वेद की सृष्टि करता हूँ, जिसके द्वारा धर्म, अर्थ तथा मोक्ष की प्राप्ति हो, जो सुन्दर उपदेशों से युक्त हो और जिसके द्वारा लोक के समस्त भावी कार्यों को अनुकरण करके दिखाया जा सके'

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥

नाट्यशास्त्र—१।१४

उन्होंने निश्चय किया कि 'इतिहास से युक्त ऐसे पंचम वेद का मैं सृजन करता हूँ, जो समस्त शास्त्रों के मर्म को अभिव्यक्त कर सके और जिसके द्वारा समस्त कलाओं तथा शिल्पों का प्रदर्शन हो सके' :

नाट्योत्पत्ति

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्॥

नाट्यशास्त्र—१।१५

इस प्रकार संकल्प करके ब्रह्मा जी ने चारो वेदो को स्मरण किया और उनसे सार-सकलन कर पचम वेद के रूप मे नाट्यवेद का निर्माण किया। इस नाट्यवेद के लिए उन्होंने 'ऋग्वेद से पाठ्य (सम्वाद), सामवेद से गीत (सगीत), यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृगारादि रसों का सग्रह किया' :

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

नाट्यशास्त्र—१।१७

महामुनि भरत ने आत्रेय आदि ऋषियो के समक्ष नाट्यवेद के इस उपाख्यान को प्रस्तुत करते हुए आगे कहा : 'हे मुनिवरो, इस प्रकार सर्वज्ञ प्रजापति ब्रह्मा ने चारो वेदो और उनके उपवेदो का उपबृहण कर पाँचवें नाट्यवेद का निर्माण किया' :

वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना॥

नाट्यशास्त्र—१।१८

नाट्यशाला में नाटक का प्रथम अभिनय

इस उपाख्यान के सन्दर्भ मे आगे बताया गया है कि पचम नाट्यवेद की सृष्टि करने के पश्चात् पितामह ब्रह्मा ने देवाधिदेव इन्द्र से कहा : 'हे सुरेश्वर, देवताओ द्वारा इस नाट्यवेद के प्रयोग की व्यवस्था आप स्वय करें। उसमे ऐसे पात्रो को नियुक्त किया जाना चाहिए, जो कुशल, विदग्ध, प्रगल्भ और परिश्रमी हों।' ब्रह्मा जी के इस कथन के अनन्तर देवराज इन्द्र ने कहा : 'हे पितामह, देवगण इस नाट्यवेद को ग्रहण करने, धारण करने, जानने और उसका अभिनय करने मे अशक्त हैं। उसका प्रयोग एव प्रदर्शन करने के लिए वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी ऋषि प्रवर ही सर्वथा योग्य एवं उपयुक्त हैं।' इन्द्र के इस अनुरोध पर पितामह ने महामुनि भरत से कहा : 'हे तपस्विन्, आप अपने सौ पुत्रों (शिष्यो) सहित इस नाट्यवेद का अभिनय करें' :

त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्तास्य भवानघ।

नाट्यशास्त्र—१।२४

पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से महामुनि भरत ने नाट्यवेद का स्वयं अध्ययन किया और फिर उसमें अपने सौ पुत्रों (शिष्यों) को प्रशिक्षित किया। उन प्रशिक्षित शिष्यों द्वारा उन्होंने नाट्य का प्रयोग कराया। भरत मुनि के इन सौ पुत्रों या शिष्यों की नामावली नाट्यशास्त्र (१।२६-३९) में दी गयी है।

नाट्योत्पत्ति के इस सन्दर्भ में आगे बताया गया है कि रस, क्रिया और भाव से अभिपूरित कौशिकी वृत्ति के अभिनय के लिए भरत मुनि के आग्रह पर ब्रह्मा जी ने सुकेशी, मञ्जुकेशी आदि चौबीस अप्सराओं की सृष्टि की। इनके अतिरिक्त विभिन्न वाद्य यंत्रों के वादन के लिए संगीताचार्य स्वाति एवं उनके शिष्यों और गायन विद्या के लिए नारदादि ऋषियों तथा गन्धर्वों को नियुक्त किया।

इस प्रकार अपने सौ शिष्यों सहित, अभिनय कला में चतुर अप्सराओं, वाद्यविद्या में निष्णात आचार्य स्वाति तथा उनके शिष्यों और गायनविद्या में पारंगत नारदादि मुनियों एवं गन्धर्वों को नाट्यवेद में सांगोपांग प्रशिक्षित कर पितामह ब्रह्मा की आज्ञा से आचार्य भरत ने सर्व प्रथम देवराज इन्द्र के ध्वज-महोत्सव के अवसर पर दैत्यदानवनाशन नामक नाटक का अभिनय किया।

इस नाटक को देखने के लिए सभी देव-दानव उपस्थित हुए। नाटक के अभिनय में दैत्य-दानव अपने पराभव को देख कर बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने विरूपाक्ष को अपना मुखिया बना कर ऐसी माया रची कि जिसके कारण नटों-अभिनेताओं की वाणी बन्द हो गयी। उनके अंग-प्रत्यंग जकड़ गये। वे सभी सम्वाद भूल गये और नृत्य-अभिनय न कर सके :

ततस्तैरसुरैः सार्धं विघ्ना मायामुपाश्रिताः।
वाचश्चेष्टां स्मृतिं चैव स्तम्भयन्तिस्म नृत्यताम्॥

नाट्यशास्त्र—१।६६

नाट्यशाला में नटों-अभिनेताओं की यह स्थिति देख कर देवताओं, ऋषियों और देवराज इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। देवराज इन्द्र ने एकान्त मन होकर स्थिति की वास्तविकता का पता लगाने का यत्न किया। उन्होंने ध्यानावस्थित होकर कारण का पता लगा लिया। तदनन्तर उन्होंने मायावी असुरों और विघ्नों को चुन-चुन कर वहाँ से मार भगाया।

विश्वकर्मा द्वारा प्रथम नाट्यशाला का निर्माण

प्रथम नाटक के शुभारम्भ में जो अकल्पित बाधा उपस्थित हो गयी थी, वह भविष्य में न होने पावे, इसके लिए ब्रह्मा जी ने महान् स्थपति विश्वकर्मा को आदेश दिया कि वे सर्वलक्षण-सम्पन्न शुभदायी वृहद् नाट्यशाला का निर्माण करें :

ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा शुभं महत्।
सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा नाट्यगृहं तु सः॥

नाट्यशास्त्र—१।८०

उस नाट्यशाला के प्रत्येक भाग की रक्षा का दायित्व ब्रह्मा जी ने अलग-अलग देवताओं को सौंपा। उसकी दिशाओं की रक्षा के लिए लोकपालों और विदिशाओं की रक्षा के लिए मारुतों को नियुक्त किया। इस प्रकार नाट्यशाला के विभिन्न स्थानों पर देवताओं, लोकपालों और मारुतों को नियुक्त कर ब्रह्मा जी ने कहा · 'जो देवता जिस स्थान पर नियुक्त हैं वे उस स्थान के अधिष्ठाता माने जायेंगे'

यान्येतानि नियुक्तानि देवतानीह रक्षणे।
एतान्येवाधिदेवानि भविष्यन्तीत्युवाच सः॥

नाट्यशास्त्र—१।९८

नाट्याभिनय की निर्विघ्नता के लिए सर्वांग-सम्पन्न नाट्यशाला का निर्माण कर और उसकी रक्षा के लिए उसके अधिष्ठाता देवताओं की नियुक्ति कर पितामह ने दानवों और विघ्नों से कहा 'हे दानवगण, आप लोग नाट्य के विनाश के लिए क्या उद्यत हैं?' इस पर दानवों ने कहा 'भगवन्, देवताओं की इच्छा पर आपने जिस नाट्यवेद की रचना की है, उसमें देवताओं द्वारा हमारा अनादर एवं अपमान हुआ है। हे लोक के पितामह, आपके द्वारा ऐसा किया जाना उचित नहीं है, क्योंकि आपसे जिस प्रकार देवता उत्पन्न हुए उसी प्रकार दानव भी।'

दानवों की इस न्यायोचित माँग पर ब्रह्मा जी ने नाट्य का वास्तविक मर्म समझाते हुए उनसे कहा 'हे दैत्यों, तुम्हारा इस प्रकार शोक तथा विषाद करना व्यर्थ है। इस नाट्यवेद में तो दैत्यों और दानवों, दोनों के शुभाशुभ कर्मों, भावों और चेष्टाओं का समानरूप से समावेश है। इसमें न केवल दैत्यों और देवताओं का, अपितु तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन हुआ है':

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥

नाट्यशास्त्र—१।१०७

नाट्यवेद में समस्त कलाओं और विद्याओं का समावेश

नाट्यवेद में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्ग का प्रतिपादन हुआ है। लोक में जितनी प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं उन सब की तृप्ति के साधन भी इसमें विद्यमान हैं। इसमें धनवानों के लिए विलास, दुखियों के लिए साहस, अर्थेच्छुकों के लिए अर्थ और उद्भ्रान्तों के लिए धैर्य की सामग्री समन्वित है। नाट्याचार्य भरत का कहना है कि यह अनेक प्रकार के भावों से सम्पन्न और नानाविध अवस्थाओं से परिपूर्ण है। इसके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम—सभी कोटि एवं वर्ग के लोगों का चरित्र प्रदर्शित किया जा सकता है। 'यह नाट्यवेद दुखियों के दुखों को दूर करने वाला, परिश्रम से क्लान्त जनों के श्रम को हरने वाला, शोक-संतप्त लोगों के शोक का उपशमन करने वाला और तपस्वी जनों को परम शान्ति प्रदान करने वाला सिद्ध होगा'.

दु.खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥

नाट्यशास्त्र—१।११४

अखिल ब्रह्माण्ड का वह दर्पण है। जिस प्रकार हम अपनी प्रतिच्छवि दर्पण मे देखते हैं, ठीक उसी प्रकार विश्व की प्रतिच्छवि नाट्यवेद मे देखने को मिल सकती है। 'ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म शेष नही है, जो इस नाट्य के द्वारा प्रदर्शित न किया जा सके या उसमे न देखा जा सके' :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥

नाट्यशास्त्र—१।११६

'जितने भी विविध प्रकार के शास्त्र, शिल्प और कर्म-व्यापार हैं, उन सब को इस नाट्य मे एक साथ दिखाया जा सकता है। इस प्रकार के नाट्य का मैंने तुम्हारे लिए निर्माण किया' :

सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्॥

नाट्यशास्त्र—१।११७

इस प्रकार जितनी विद्याएँ, जितने शास्त्र, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल है, नाट्यवेद के अन्तर्गत उनका समावेश किया गया है। इस महान् नाट्यवेद के उद्देश्य के सम्बन्ध मे भरत मुनि ने लिखा है 'वेदविद्या, इतिहास और आख्यानो की परिकल्पना से समन्वित यह नाट्यवेद लोक के मनोरजन का कारण सिद्ध होगा। इस नाट्यवेद *मे श्रुति, स्मृति, सदाचार और अशेष अर्थ की परिकल्पना की गयी है। इस प्रकार यह नाट्यवेद लोक के मनो-विनोद का कारण सिद्ध होगा'* :

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषोर्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

नाट्यशास्त्र—१।१२०-१२१

नाट्यवेद की प्रशंसा

प्रजापति ब्रह्मा द्वारा सृष्ट और आचार्य भरत द्वारा प्रवर्तित नाट्यवेद की प्रशंसा मे आचार्य धनजय ने दशरूपक (१।४) के आरम्भ मे लिखा है 'परमेष्ठि ब्रह्मा ने चारो वेदो से तत्त्व दोहन कर जिस नाट्यवेद की रचना की और मुनि (सासारिक विषयवासनाओ से विमुक्त) भरत ने जिस नाट्यवेद को प्रयोग रूप मे प्रस्तुत किया, जिसमे भगवान् शकर ने ताण्डव और भगवती पार्वती ने लास्य का सयोजन किया, उस नाट्यवेद के अग-प्रत्यगो का निरूपण करने मे कौन सक्षम हो सकता है'

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठ ।
सर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपर लक्ष्म क कर्तुमीष्टे ॥

इसी प्रकार नाट्य-लक्षण का निरूपण करते हुए रामचन्द्र गुणभद्र ने अपने नाट्यदर्पण (श्लोक ३) मे लिखा है: 'अलकार प्रधान कथा आदि काव्य प्रभेदो की रचना सरलता मे की जा सकती है, किन्तु रसो की कल्लोलो से परिपूर्ण नाट्य की रचना करना अत्यन्त कठिन है'

अलकारमृदुः पन्थाः कथादीना सुसञ्चरः।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसङ्कुलः॥

इसी प्रकार आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण (श्लोक ८ १०) की प्रस्तावना मे लिखा है. 'वह धर्म अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग का प्रदाता है। उसमे कीर्ति, वाग्मिता, सौभाग्य, वैदग्ध्य, उदारता, स्थिरता, धैर्य और समृद्धि की प्राप्ति होती है' :

व्यरीरचच्छास्त्रमिद धर्मकामार्थमोक्षदम्।
कीर्तिप्रगल्भसौभाग्यवैदग्ध्याना प्रवर्धनम्॥
औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम्॥

इस दृष्टि से यदि आचार्य भरत के अभिमत से आचार्य नन्दिकेश्वर के दृष्टिकोण की तुलना की जाय तो ज्ञात होता है कि आचार्य भरत ने जहाँ नाट्यशास्त्र का महत्व त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और मोक्ष तक ही सीमित रखा है, वहाँ आचार्य नन्दिकेश्वर ने उसको काम वर्ग का भी प्रदाता स्वीकार किया है। उन्होने लौकिक और पारलौकिक, दोनो दृष्टियो से नाट्यवेद को श्रेयस्कर एव आनन्ददायी बताया है। उसकी प्रशसा मे आगे उन्होने लिखा है 'वह दुःख, पीडा, शोक, नैराश्य और खेद का विनाशक ही नही, अपितु उससे भी बढ कर

चारों वेदों का उपजीव्य नाट्यवेद

नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे महामुनि भरत ने लिखा है कि पितामह ब्रह्मा ने चारो वेदों से सार-सकलन कर पचम वेद के रूप में नाट्यवेद का निर्माण किया। इस नाट्यवेद के लिए उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य (सम्वाद), सामवेद से गीत (सगीत), यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का सग्रह किया

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

नाट्यशास्त्र—१।१७

इस आधार पर चारो वेद नाट्यवेद के उपजीवी हैं। नाट्यवेद के लिए प्रजापति ने चारो वेदो से किस रूप में यह सामग्री ग्रहण की, इसकी जानकारी के लिए चारो वेदो का अनुशीलन करना आवश्यक है। चारों वेदों में पाठ्य, गीत, अभिनय और रस विषयक सामग्री किस रूप मे सुरक्षित है, इसकी समीक्षा करने वाले कुछ विद्वानो ने जो आधार खोज निकाले हैं, वे इतने पर्याप्त एव युक्ति-सगत नही हैं कि उन पर सन्तोष किया जा सके।

ऋग्वेद से पाठ्य

नाट्यवेद के लिए जिस सामग्री का चयन या सग्रह किया गया, उसमे पाठ्य (सम्वादादि) ऋग्वेद से लिया गया। काव्यशास्त्र की दृष्टि से नाट्य मे पाठ्य का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। काव्य से नाट्य का भेद करने के लिए पाठ्य पहला साधन माना गया है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से भी पाठ्य को मुख्य स्थान प्राप्त है।

यह पाठ्य सामग्री ऋग्वेद मे किस रूप मे किन-किन प्रसगो मे प्रयुक्त हुई है, यदि इस दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन किया जाय तो उसमें कई तरह की चर्चाएँ देखने को मिलती है। ऋग्वेद के लगभग सात स्थलो पर सम्वाद शैली का प्रयोग हुआ है उनके नाम हैं इन्द्र-मरुत-सम्वाद (१।१६५), इन्द्र-अदिति-वामदेव-सम्वाद (१।१७९), विश्वामित्र-नदी-सम्वाद (३।३३), नेम-भार्गव-प्रश्नोत्तर (८।१००), यम-यमी-सम्वाद (१०।१०), पुरूरवा-उर्वशी-सम्वाद (१०।९६) और सरमा-पणि-सम्वाद (१०।१०८)। इनमे यम-यमी-सम्वाद और पुरूरवा-उर्वशी-सम्वाद तो बहुत प्रसिद्ध हैं।

चारों वेदों का उपजीव्य नाट्यवेद

नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे महामुनि भरत ने लिखा है कि पितामह ब्रह्मा ने चारो वेदो से सार-सकलन कर पचम वेद के रूप मे नाट्यवेद का निर्माण किया। उस नाट्यवेद के लिए उन्होंने ऋग्वेद मे पाठ्य (सम्वाद), सामवेद से गीत (सगीत), यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का सग्रह किया

जग्राह पाठ्य ऋग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

नाट्यशास्त्र—१।१७

इस आधार पर चारो वेद नाट्यवेद के उपजीवी है। नाट्यवेद के लिए प्रजापति ने चारो वेदो से किस रूप मे यह सामग्री ग्रहण की, इसकी जानकारी के लिए चारो वेदो का अनुशीलन करना आवश्यक है। चारो वेदो मे पाठ्य, गीत, अभिनय और रस विषयक सामग्री किस रूप मे सुरक्षित है, इसकी समीक्षा करने वाले कुछ विद्वानो ने जो आधार खोज निकाले है, वे इतने पर्याप्त एव युक्ति-सगत नही है कि उन पर सन्तोष किया जा सके।

ऋग्वेद से पाठ्य

नाट्यवेद के लिए जिस सामग्री का चयन या सग्रह किया गया, उसमे पाठ्य (सम्वादादि) ऋग्वेद से लिया गया। काव्यशास्त्र की दृष्टि से नाट्य मे पाठ्य का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। काव्य से नाट्य का भेद करने के लिए पाठ्य पहला साधन माना गया है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से भी पाठ्य को मुख्य स्थान प्राप्त है।

यह पाठ्य सामग्री ऋग्वेद मे किस रूप मे किन-किन प्रसगो मे प्रयुक्त हुई है, यदि इस दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन किया जाय तो उसमे कई तरह की चर्चाएँ देखने को मिलती है। ऋग्वेद के लगभग सात स्थलो पर सम्वाद शैली का प्रयोग हुआ है उनके नाम हैं इन्द्र-मरुत-सम्वाद (१।१६५), इन्द्र-अदिति-वामदेव-सम्वाद (१।१७९), विश्वामित्र-नदी-सम्वाद (३।३३), नेम-भार्गव-प्रश्नोत्तर (८।१००), यम-यमी-सम्वाद (१०। १०), पुरूरवा-उर्वशी-सम्वाद (१०।९६) और सरमा-पणि-सम्वाद (१०।१०८)। इनमे यम-यमी-सम्वाद और पुरूरवा-उर्वशी-सम्वाद तो बहुत प्रसिद्ध हैं।

ये और इसी प्रकार के अनेक स्थल हैं, जिनके अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में यज्ञों, गोष्ठियों और विभिन्न धार्मिक आयोजनों के समय परस्पर सम्वादों का प्रयोग हुआ करता था। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यज्ञ के अवसरों पर अभिनय के साथ इन सम्वादों का प्रयोग होता था। ये सम्वाद ही नाट्य और नाटक-रचना के उपजीवी हैं। नाट्य के लिए ऋग्वेद के इन्हीं सम्वादों से पाठ्य-सामग्री ली गयी। ऋग्वेद की इस पाठ्य-सामग्री का आगे चल कर ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और पुराणों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

सामवेद से गीत

नाट्यवेद के लिए गीत या संगीत का संग्रह सामवेद से किया गया। सामवेद को भारतीय संगीत का मूल उद्गम माना जाता है। सामवेद में संगीतविद्या की अपरिमित सामग्री सुरक्षित है। इतने प्राचीन काल में भारतीयों का संगीत ज्ञान पर्याप्त समृद्ध और प्रौढ़ था, इस पर विश्व के सभी विद्वानों ने एकमत होकर भारतीय संगीत की प्राचीनता को स्वीकार किया है।

साम का अर्थ है सुन्दर, सुखकर वचन। संगीत विद्या को सर्वाधिक सुखप्रद एवं आनन्ददायी माना जाता है। इसीलिए साम का अर्थ संगीत माना गया है। वेदमंत्रों के उद्गाता साम (संगीतपरक वाणी) द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते थे। वेद मंत्रों के सस्वर उच्चारण करने वाले आचार्य को उद्गाता कहा जाता है। यज्ञ के अवसर पर अध्वर्यु वीणा के साथ सामगान किया करते थे। इसीलिए अध्वर्यु को वीणावद और वीणागाथिन् कहा गया है। वीणावादन के साथ संगीत और नृत्य भी किया जाता था। इस दृष्टि से सामवेद भारतीय संगीतशास्त्र का उद्गम है और उसी से पितामह ने नाट्यवेद के लिए गीत का आधार ग्रहण किया।

सामवेद में पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, ग्रामगेयगान, आरण्यगेयगान, स्तोक और स्तोभ आदि संगीत विषयक पारिभाषिक शब्दावली विद्यमान है। इसके अध्ययन से वैदिक युग में संगीत विद्या की समृद्धि का पता चलता है।

वेदों में तीन प्रकार के मंत्र हैं - ऋचा, यजुष् और सामगीति। ऋचाएँ भी दो प्रकार की हैं - गेय और अगेय। सामवेद में गेय ऋचाएँ और गेय यजुष् दोनों हैं। सामवेद के ऋचा-समूह को आर्चिक और यजुष्-समूह को स्तोक कहा गया है। ये आर्चिक और स्तोक ही साम कहे जाते हैं। इनके भी देश, काल, पाठ और गुरु-परम्परा से अनेक भेद होते हैं।

सामवेद की गुरु-परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों का अभिमत है कि महर्षि जैमिनि सामवेद के प्रथम द्रष्टा थे। उनके बाद उन्होंने सामवेद की दीक्षा अपने पुत्र या शिष्य सुमन्तु को, सुमन्तु ने सुत्वा को और सुत्वा ने सुकर्मा को प्रदान की। सुकर्मा ने उस ज्ञान को अपने शिष्य सूर्यवर्चासहस्र को दिया। किन्तु अनध्याय के दिन दीक्षा-ग्रहण करने के कारण सूर्यवर्चासहस्र के उस ज्ञान को इन्द्र ने नष्ट कर दिया। सुकर्मा के रोषभय से देवराज इन्द्र ने पुनः दूसरे शिष्य धीमान् पौष्यजी को वेदाध्ययन का वरदान देकर सन्तुष्ट किया। इसी प्रकार यह परम्परा आगे बढ़ी।

छान्दोग्य उपनिषद् मे सामवेद से सम्बद्ध एक कथा है। उसमे कहा गया है कि महर्षि अंगीरस ने देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को वेदान्त विद्या का उपदेश देते समय सर्व प्रथम सामवेद की गायन विधियों की दीक्षा दी थी। उस विधि का नाम छालिक्य पडा। श्रीकृष्ण छालिक्य नृत्य के अधिष्ठाता थे। वेणुवादन मे सामगान के साथ श्रीकृष्ण ने इस नृत्य का प्रयोग गोपियो के साथ किया था। उसके बाद यादवो ने इस परम्परा का प्रवर्तन किया।

सोमरस को तैयार करते समय या चन्द्रलोकवासी देवो की स्तुति के समय सामगान को गाने का नियम था। यह सामगान दुन्दुभि, वेणु और वीणा के साथ गाया जाता था। शतपथब्राह्मण मे कहा गया है कि सामगान किये बिना यज्ञ सिद्धि नही होती। सामवेद से ही गान्धर्ववेद की उत्पत्ति हुई और गान्धर्ववेद से सोलह हजार राग-रागिनियो का जन्म हुआ।

सामवेद की प्राय अधिकतर ऋचाएँ गायत्री और जगती छन्दो मे हैं। इन दोनो छन्दो की उत्पत्ति गायनार्थक गा धातु से मानी जाती है। इस आधार पर स्पष्ट है कि सामवेद की अधिकतर ऋचाएँ गेय या सगीतवद्ध हैं।

सामवेद की ऋचाएँ पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक, इन दो भागो मे विभक्त हैं। पहले भाग के अन्तर्गत ग्राम्यगीत एव आरण्यगीत और दूसरे भाग के अन्तर्गत ऊहगीत तथा ऊह्यगीत सकलित हैं। ऊह और ऊह्य एक प्रकार का रहस्यात्मक ज्ञान है। उसको साधक ही गा सकते हैं, क्योंकि उसके गायन की विशेष विधियाँ हैं। ग्राम्यगीत ग्रामीण अचलो के लिए थे। आरण्यगीत उन लोगो के लिए थे, जो वानप्रस्थ जीवन धारण कर वनो मे जीवन-यापन किया करते थे। वैदिक सामगान के भी अपने सप्तस्वर हैं, जिनमे कि वैदिक गान किया जाता है। उनके नाम हैं क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द और अतिस्वार्य। परवर्ती वैदिक साहित्य मे यह नामावली क्रमश इस रूप मे प्रयुक्त हुई है · अभिनिहित, प्रश्लिष्ट, जात्य, क्षेत्र, पादवृत्त, तैरव्यजन और तैर विराम।

सामवेद मे जो गेय ऋचाएँ हैं, उनको विशेष स्वर विधान के साथ गाने का नियम है। सामवेद की गेय ऋचाओ को सस्वर एव सछन्द गाने का विधान है। स्वर के तीन प्रकार बताये गये हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। शिक्षा, प्रातिशाख्य और स्वर वैदिकी आदि वैदिक छन्दो से सम्बद्ध परवर्ती ग्रन्थो मे इन तीन स्वर-सस्थानो की विस्तार से व्याख्या की गयी है। इन तीन स्वर-सस्थाना के आधार पर ही षड्ज आदि सात स्वरो की सृष्टि हुई। उदात्त से निषाद एव गान्धार, अनुदात्त से ऋषभ एवं धैवत, और स्वरित से षड्ज, मध्यम तथा पचम का जन्म हुआ। उदात्त का एक नाम तार भी है। इसी प्रकार अनुदात्त को उच्च, मन्द तथा खाद और स्वरित को मध्य, समताक्षक स्वर भी कहते हैं। तार, मन्द और मध्य, इन तीन मूल स्वरो से षड्ज आदि सात स्वरो का विकास किस प्रकार हुआ, इसका विवरण ऋक्प्रातिशाख्य मे दिया गया है।

सामवेद का सगीत प्रस्तवा, हुँकार, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधान और प्रणव, इन सात भागो मे विभक्त है।

इस प्रकार सामवेद मे सुरक्षित सगीत विद्या की प्रचुर सामग्री का सार-सकलन कर प्रजापति ने नाट्यवेद के सगीत विषयक अग का निर्माण किया।

यजुर्वेद से अभिनय

यजुर्वेद मे यज्ञो का विधान है। 'यजुष्' शब्द का अर्थ पूजा एव यज्ञ है। जिस प्रकार ऋग्वेद के मत्रो का प्रधान विषय देवताओ का आवाहन करना और सामवेद का प्रधान विषय सामगान करना है, उसी प्रकार यजुर्वेद के मत्रो का प्रधान विषय यज्ञ विधियो को सम्पन्न करना है। ये यज्ञ अनेक प्रकार के हैं। इन यज्ञो का विधान देवताओ की प्रसन्नता के लिए किया गया है। देवता प्रसन्न होकर सुवृष्टि करते हैं, जिससे धन-धान्य की उत्पत्ति और प्रजा को सुख-समृद्धि की प्राप्ति होती है। राष्ट्र की सुख-समृद्धि की शुभकामना करते हुए एक ऋचा मे कहा गया है 'हे पितृदेवो, नमस्कार! तुम्हारी कृपा से समस्त ऋतुएँ राष्ट्र को सुखी करें। हे पितरों, नमस्कार! तुम्हारी कृपा से राष्ट्र को ग्रीष्म ऋतु अनुकूल हो।'

राष्ट्र की समृद्धि के अतिरिक्त यज्ञ से कलाओ की उत्पत्ति भी बतायी गयी है। अभिनय भी एक कला है, जिसका एकमात्र उद्गम स्रोत यजुर्वेद है। ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्तो की चर्चा मे अभिनय का उल्लेख किया गया है। यज्ञों के अवसर पर ऋत्विक् देवताओ के आवाहन के लिए उनका अभिनय करते थे। इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक उत्सवो के समय नाट्य, गान और अभिनय के माध्यम से दैवी रहस्यो को पार्थिव रूप मे प्रस्तुत किया जाता था।

यजुर्वेद की ऋचाओ मे यज्ञानुष्ठान तथा इसी प्रकार के धार्मिक क्रिया-कलापो के विधि विधान वर्णित हैं। यज्ञो एव धार्मिक अनुष्ठानो की क्रियाएँ हाथों एव अन्य आगिक सकेतो द्वारा सम्पन्न किये जाने का विधान है। इन क्रियाओ मे मूक भावो एव सकेतो का प्रयोग किया जाता है। यजुर्वेद की ऋचाओ के इन भावनात्मक एव आगिक सकेतों तथा हाव-भावो के आधार पर अभिनय के विभिन्न रूपों का विकास हुआ। उनका आधार तो शास्त्रीय रहा, किन्तु लोक परम्परा के सम्पर्क के कारण उनमे नयी चेतना का समावेश होता गया।

यजुर्वेद की अनुष्ठान-विधियो का विकास सूत्र-ग्रन्थो मे देखने को मिलता है। गृह्यसूत्र उनमे प्रमुख है। इन गृह्यसूत्रो मे मूक भावो एव हस्तक्रियाओ के सकेत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धार्मिक अनुष्ठानो को सम्पादित करते समय मौन मत्रोच्चारण के साथ इन क्रियाओ को सम्पन्न किये जाने का नियम है।

नाट्यवेद के लिए यजुर्वेद से अभिनय सामग्री के सग्रह का आधार, यज्ञ-विधियो के समय निष्पन्न, ये ही मूक भावात्मक प्रक्रियाएँ तथा आगिक सकेत रहे हैं। वैदिक कर्मानुष्ठानों को निष्पादित करने वाली यजुर्वेद की बहुसख्यक ऋचाओ मे अभिनय कला के सभी तत्त्व विद्यमान हैं, प्रजापति ब्रह्मा ने नाट्यवेद के लिए जिनका सार-सकलन किया और परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थो के लिए जिनसे प्रेरणा प्राप्त हुई।

अथर्ववेद से रस

नाट्यशास्त्र का चौथा तत्त्व रस है, जिसे पितामह ने अथर्ववेद से लिया। नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त

काव्यशास्त्र में भी रस को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। वह काव्य की आत्मा है, प्राण है। नाट्य और काव्य की चेतना का केन्द्रबिन्दु और उनकी चरम परिणति का आधार भी रस ही है। इसीलिए नाट्य को रसाश्रय कहा गया है।

अथर्वा नामक ऋषि के नाम से अथर्ववेद का नामकरण माना जाता है। महर्षि अथर्वा से सम्बन्धित गोपथब्राह्मण में एक कथा है, जिसमें कहा गया है कि पुराकाल में सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा ने कठिन तप किया। उनके तपःपूत शरीर से तेजस्वरूप दो धाराएँ प्रकट हुईं, जिनमें एक धारा से अथर्वन् और दूसरी से अंगिरा की उत्पत्ति हुई। इन्हीं दोनों से अथर्वांगिरस उत्पन्न हुए। इन अथर्वन् और अंगिरस के वंशजों को जो मन्त्र दृष्ट हुए, उन्हीं के नाम पर उन मन्त्रों का अथर्ववेद या अथर्वांगिरसवेद नामकरण हुआ।

विषय की दृष्टि से अथर्ववेद के मन्त्रों को दो भागों में विभक्त किया गया है। जितनी ऋचाएँ मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका तथा ओषधि-उपचार से सबद्ध हैं, उन्हें अथर्वन् भाग के अन्तर्गत और जितनी ऋचाएँ मारण, मोहन, उच्चाटन तथा वशीकरण से सबद्ध हैं, उन्हें अंगिरस भाग के अन्तर्गत माना जाता है।

अथर्ववेद के इस अंगिरस भाग के अन्तर्गत ऋचाओं के सम्पादन के लिए विशेष क्रियाओं का विधान है। इन क्रियाओं के सम्पादन की सिद्धि के लिए कुछ प्रतीक स्थिर किये गये हैं। प्रत्येक क्रिया के लिए अलग-अलग प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के पृथक्-पृथक् अभिचार हैं। मन्त्र सिद्धि के लिए इन विशिष्ट अभिचारों का प्रयोग किया जाता है। इन अभिचारों का प्रयोग करते समय जिन भावों तथा उद्वेगों का उदय होता है, वे ठीक वैसे ही होते हैं जैसे रस-प्रक्रिया अथवा रस-निष्पत्ति के लिए विभावादियों का अभिव्यंजन होता है। जैसे विभावादियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, वैसे ही अभिचारों द्वारा भावों तथा उद्वेगों की सृष्टि होकर वैदिक प्रक्रिया में एकरसता प्राप्त होती है। यही एकरसता साधक की सिद्धि या उपलब्धि है।

भावोद्वेग द्वारा रस निष्पत्ति के इसी आधार को लेकर अथर्ववेद से नाट्यवेद के लिए रस-सामग्री का संग्रह किया गया।

इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा ने देवताओं तथा ऋषियों के आग्रह पर चारों वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय और रस का संग्रह कर पंचमवेद के रूप में नाट्यवेद का निर्माण किया।

इस प्रकार नाट्यवेद को पंचम वेद के रूप में अभिहित करना और शास्त्र तथा लोक-परम्परा द्वारा उसको सर्वमान्य रूप में स्वीकार किया जाना, इस बात का प्रमाण है कि चारों वेदों की जो श्रेष्ठता और महत्ता है, नाट्यवेद को भी सहज ही वह सम्मान प्राप्त होता रहा। ज्ञान विज्ञान और कला-कौशलों की जितनी भी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, उनके उद्गम वेद माने जाते हैं। यही कारण है कि इस देश के शास्त्रकारों, विचारकों, कवियों, कथाकारों, नाटककारों और कलाचार्यों ने वेदों की श्रेष्ठता को सर्वोपरि स्वीकार किया है। उनके सार रूप में संगृहीत नाट्यवेद को भी शास्त्र-दृष्टि और लोक-दृष्टि में वही मान्यता प्राप्त हुई। नाट्यवेद, क्योंकि लोक-सामान्य का विषय बना, इस दृष्टि से लोक-जीवन में उसको आदर-सम्मान प्राप्त हुआ और पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया।

● ● ●

तीन

•

माट्य विधान
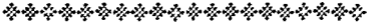
नाट्यशाला और उसका रचना विधान

•

नाट्य : नृत्त : नृत्य

नाट्यशाला और उसका रचना विधान

नाट्यशाला

नाट्यशाला के विधि-विधानों पर आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र और कला-स्थापत्य-विषयक विभिन्न लक्षण ग्रन्थों में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। नाट्यशाला के रचना विधान पर आगे विचार किया गया है। शास्त्रीय तथा लक्षण ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्यों, नाटकों, आख्यायिकाओं, कथाओं, पुराणों और जैन-बौद्ध ग्रन्थों में नाट्यशाला के अनेक नाम देखने को मिलते हैं। **नाट्यवेश्म, नाट्यमण्डप, चतुरस्रशाला, पथ्यशाला, रंगशाला, रंगमण्डप, प्रेक्षागार, प्रेक्षागृह, दरीगृह और शिलावेश्म** आदि अनेक नाम नाट्यशाला के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि जैसे-जैसे नाट्यकला का प्रचार-प्रसार होता गया, वैसे-वैसे नाट्यशालाओं की स्थापना का भी अधिकाधिक प्रचलन हुआ। नट-मण्डलियों द्वारा नाटकों का देशव्यापी प्रचार-प्रसार होने के साथ ही राजाओं, रईसों और सामन्तों ने नाट्यशालाओं के निर्माण में अधिक रुचि प्रदर्शित की। राजभवनों एवं महलों में नाट्य-संगीतशालाओं का निर्माण करना सम्मान का विषय समझा जाता रहा।

नाट्यशालाओं का इतिहास हम वैदिक युग से आरम्भ कर सकते हैं। वैदिक युग की यज्ञ वेदियाँ ही नाट्यशालाओं के प्राचीन रूप थे। वैदिक यज्ञों के समय पढ़ी जाने वाली सम्वादात्मक ऋचाओं की प्रेरणा पर ही आगे चल कर नाटकों का उदय हुआ। प्राचीन आख्यानों एवं कथाओं से, जिनको आचार्य भरत ने भी उद्धृत किया है, यह जानकारी मिलती है कि यज्ञों के समय नाटकों का अभिनय हुआ करता था। हरिवंशपुराण (२।९१। २६) में वर्णित प्रद्युम्न-विवाह की कथा में वासुदेव श्रीकृष्ण के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख हुआ है। इस अवसर पर भद्र नामक एक नट ने उपस्थित ऋषि-महर्षियों के समक्ष अद्भुत नाट्य प्रदर्शन किया था, जिसके पुरस्कार में उसे आकाश मार्ग में विचरण करने का वरदान प्राप्त हुआ।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में एक प्राचीन उपाख्यान के सन्दर्भ में बताया गया है कि पितामह ब्रह्मा के आदेश पर महान् स्थपति विश्वकर्मा ने सर्वलक्षण सम्पन्न नाट्यशाला का निर्माण किया था। देवराज इन्द्र के ध्वज महोत्सव के अवसर पर उस नाट्यशाला में दैत्यदानवनाशन नामक नाटक का अभिनय किया गया। यह नाट्यशाला कहाँ बनायी गयी थी, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसे कैलाश पर्वत पर बनाया गया था। कैलाश पर्वत नटराज शंकर और पर्वतराजपुत्री भगवती पार्वती का लीला-

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, भरत के नाट्यशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र आदि ग्रन्थो मे प्राचीन भारत मे नृत्य-सगीत की लोकप्रियता के पर्याप्त प्रमाण देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार कला के उन्नयन और समाज म उनके प्रयोग प्रवेश के प्रचुर प्रमाण हमे भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति और हर्ष के नाटको तथा अश्वघोष, बाण, माघ, श्रीहर्ष एव जयदेव के काव्यो मे देखने को मिलते हैं। इन स्रोतो से ज्ञात होता है कि कौमुदी महोत्सव, पुष्पावचय, उद्यानक्रीडा और जलक्रीडा आदि मनोरजनो के समय नृत्य-गीत का आयोजन किया जाता था।

नृत्य-सगीत आदि मनोरजनो के साथ-साथ उक्त ग्रन्थो म नाट्यशालाओ और सगीतशालाओ क अस्तित्व की भी चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। रामायणकाल की अयोध्या नगरी म नटो, नर्तको और गायको के सघ हुआ करते थे। लकेश्वर रावण की पत्नी मन्दोदरी विदुषी होने के साथ-साथ नाट्य-सगीत कलाओ मे भी सिद्धहस्त थी। रावण के राजभवन मे नाट्यशाला और सगीतशाला का होना पाया जाता है। रामायण (६।२४।४२-४३) के कतिपय स्थलो पर रगमच एव नाट्यशाला का उल्लेख हुआ है। महाभारत के वन पर्व (१५।१३) मे रगमच पर रामायण और कौबेररम्भाभिसार नामक दो नाटको के अभिनीत होने का उल्लेख है।

नाट्यशाला के अस्तित्व की सूचना देने वाले प्राचीन ग्रन्थो मे भास के प्रतिमानाटक का नाम पहले आता है। भास का स्थितिकाल ४०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। दक्षिण के चाक्यारो द्वारा उनके नाटको का अब तक अभिनय होता आ रहा है। भास के नाटक अभिनय की दृष्टि से लोकप्रिय तो हैं ही, साथ ही उनसे प्राचीन भारत मे नाट्यशालाओ के अस्तित्व की भी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध होती है। उनके प्रतिमानाटक से ज्ञात होता है कि महाराज श्रीराम के अन्त पुर मे एक पथ्यशाला या नाट्यशाला थी, जिसम रगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी जाती थी। यह नाट्यशाला सम्भवत चतुरस्र थी क्योकि राजदरबारो एव अन्त पुरो मे इसी मध्यम कोटि की नाट्यशालाओ के निर्माण का विधान था। इस उल्लेख से नाट्यकला की लोकप्रियता का भी पता चलता है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र (२।१७।१।११) मे स्पष्ट निर्देश किया है कि गाँवो म कोई भी नाट्यगृह, विहार तथा क्रीडाशाला नही होनी चाहिए, क्योकि उससे कृषि आदि कार्यो मे बाधा उत्पन्न होती है, जिससे कि राजकोश की क्षति होती है।

जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थो मे नाट्यशाला की प्रचुर एव विस्तृत चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के ग्रन्थो मे नाट्यशाला की निर्माण विधियो पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है। बौद्धधर्म म भिक्षु भिक्षुणियो को किसी भी प्रकार के कला-आयोजनो मे सम्मिलित होना वर्जित था। विनयपिटक के चुल्लवग्ग की एक कथा मे बताया गया है कि अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु एक बार जब कीटागिरि की रगशाला मे नाटक देखने के अनन्तर किसी नर्तकी से वार्तालाप करते हुए पकडे गये, तो उन्हे विहार से तत्काल निकाल दिया गया। चुल्लवग्ग मे, जिसको कि ईसा पूर्व की रचना माना जाता है, नाट्यशाला का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि उस युग मे नाट्यशालाओ मे नाटको का अभिनय होता था।

अन्य कलाओं के साथ-साथ नाट्यकला और नाट्यशाला पर भी महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में प्रचुर सामग्री देखने को मिलती है। कालिदास ने मेघदूत (१।२७) में शिलावेश्म का उल्लेख करते हुए लिखा है : हे मेघ, वहाँ पहुँच कर तुम नीच नामक पहाड़ी पर विश्राम करने के लिए रुक जाना। वहाँ फूले हुए कदम्ब वृक्षों को देख कर तुम्हें ऐसा लगेगा, मानो तुम से मिलने के लिए वे पुलकित हो उठे हों। उस पहाड़ी पर गुफाओं (शिलावेश्मों) में तुम्हें सुगन्ध भरी वायु का सुख प्राप्त होगा, वे शिलावेश्म, जिन्हें वहाँ के सम्भ्रान्त लोग अपनी प्रेमिकाओं एवं रखैलों के साथ जवानी की उद्दाम रतिक्रीडा करते समय उपयोग में लाते थे' :

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोः
त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम्
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥

ये शिलावेश्म एक प्रकार की नाट्यशालाएँ ही थीं, जहाँ नाट्य-संगीत के अतिरिक्त सम्पन्न, सम्भ्रान्त नागरक वेश्याओं (पण्यस्त्री) और अपनी प्रेमिकाओं के साथ रतिसुख का आनन्द लेते थे। कुमारसम्भव (१।१०) में कालिदास ने इन शिलावेश्मों को दरीगृह के नाम से कहा है और उनके सम्बन्ध में लिखा है कि : 'किरात जब अपनी प्रेमिकाओं के साथ उन विलास-मण्डपों या रति आवासों (दरीगृहों) में रतिक्रीडा करते हैं, तो उस समय वहाँ की ओषधियाँ उनके लिए बिना तेल के दीपक का काम करती हैं'

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

आगे के श्लोक (१।१४) में कालिदास ने लिखा है कि 'इन गुफाओं में अपने प्रियतमों के साथ रतिक्रीडा करते समय जब किन्नरियाँ अपने शरीरों से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती हैं, तब बादल ही उन गुफाओं के द्वारों पर परदा बन कर अँधेरा कर देते हैं'

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां
यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बा-
स्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥

ये दरीगृह या शिलावेश्म वस्तुतः नाट्यशालाओं के ही रूप थे। कुछ असम्भव नहीं कि इन शिलावेश्मों में कलानिपुण सुन्दरियों को वेतन देकर रखा जाता रहा हो। विशेष आयोजनों के समय जैसे वसन्तोत्सव या

कौमुदी महोत्सव पर इन शिलावेश्मो मे सम्भवत नृत्य-सगीत का भी आयोजन हुआ करता था। उनके द्वारो पर परदा टाँग कर उनसे नाट्यशालाओ का काम भी लिया जाता था। ऊपर कुमारसम्भव के श्लोक मे बादलो द्वारा परदा बन कर अँधेरा करने का जो उल्लेख किया गया है, उसमे यही ध्वनित होता है कि उन दरीगृहो के द्वारो पर परदे टाँगे जाते थे और उन्हें नृत्य-अभिनय के उपयोग मे भी लाया जाता था।

महाकवि कालिदास ने **मालविकाग्निमित्र** नाटक के प्रथम अक मे सगीतशाला और नाट्यशाला का उल्लेख किया है। महाराज अग्निमित्र की इन सगीत-नाट्यशाला मे आचार्य गणदास और आचार्य हरदत्त द्वारा नाट्य-सगीत की विधिवत् शिक्षा देने का भी उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर कालिदास ने प्रेक्षागृह का उल्लेख करते हुए विदूषक के मुँह से कहलाया है 'तो आप दोना (गणदास, हरदत्त) नाट्यशाला (प्रेक्षागृह) मे चल कर सगीत का साज जुटाएँ **(तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे सगीतरचना कृत्वा...)**।

नाट्यशाला के उक्त विभिन नामो की चर्चाएँ काव्य-नाटक आदि ग्रन्था मे विशेष रूप से देखने को मिलती है। इन उल्लेखो को देख कर सहज ही यह विश्वास होता है कि प्राचीन काल मे ही नाट्य-सगीत का व्यापक प्रचार-प्रसार हो चुका था और शास्त्र-विधानो के अनुसार नाट्यशालाओं का निर्माण हो चुका था।

जैनधर्म के ग्रन्थों में नाट्यशाला की निर्माण विधि पर शास्त्रीय दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। **त्रिलोक-प्रज्ञप्ति** के तीसरे अध्याय की २२ से ६२ तक की गाथाओ मे भवनो, प्रासादो देव-मन्दिरो और वेदिकाओ के निर्माण की विधियाँ बतायी गयी है। जैन मन्दिरो के निर्माण प्रसग मे उक्त गाथाओ मे वन्दन, अभिषेक, नृत्य, सगीत और आलोक के लिए अलग-अलग मण्डप बनाये जाने का उल्लेख किया गया है। इन मण्डपो के नाम हैं **क्रीडागृह** (नाट्यशाला), **गुणनगृह** (स्वाध्यायशाला) और **पटशाला** (चित्रशाला)। इसी प्रकार असुर भवनो के सन्दर्भ मे भी रगशाला बनाने का विधान किया गया है।

जैन पुराणो मे तीर्थंकरा के धर्मोपदेश के लिए सभाभवन **(समवकरण)** की रचना का विधान बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि इस सभाभवन की रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने करायी थी। **त्रिलोक प्रज्ञप्ति** (४।७११–९४२) और जिनसेन कृत **आदि पुराण** (पर्व २३) मे धर्मोपदेश के उद्देश्य से निर्मित इस सभाभवन के विन्यास तथा प्रमाण आदि की विधियो पर विस्तार से चर्चा की गयी है। सभाभवन के बाहर धूमिशाल नामक कोट (कोष्ठ) बनाने का निर्देश है, जिसकी चारों दिशाओं मे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक चार गोपुर द्वार निर्मित होने चाहिएँ। इन गोपुर द्वारो को अनेक भूमियो, अट्टालिकाओं और प्रतोलिया से सज्जित करने का विधान है। गोपुरो के बाह्य भाग मे मकरतोरण और आभ्यन्तर भाग मे रत्नतोरण की रचना बतायी गयी है। इन बाह्याभ्यन्तर तोरणो के बीच के दोनों पार्श्वों मे एक-एक नाट्यशाला के निर्माण का विधान किया गया है।

धूमिशाल नामक कोष्ठ के अन्दर प्रवेश करने पर जिन भवन के अन्तराल से पाँच-पाँच चैत्य प्रासादो का निर्माण करना चाहिए। इन चैत्य प्रासादा को भी उपवन और वापियों से अलङ्कृत करने का विधान है। उनकी वीथियो के दोनो पार्श्वों मे दो-दो नाट्यशालाओ का निर्माण करना बताया गया है। ये नाट्यशालाएँ सामान्य शरीर प्रमाण से बारह गुनी ऊँची होनी चाहिएँ। इस सम्बन्ध मे लिखा गया है कि एक-एक नाट्यशाला

मे ३२ रगभूमियाँ (रगमच) होनी चाहिएँ। वे रगभूमियाँ आकार-प्रकार मे ऐसी होनी चाहिएँ जिनमे प्रत्येक पर ३२-३२ नर्तकियाँ अभिनय कर सकें।

जैनधर्म की मान्यताओ एव निर्देशों के अनुसार जैन-मन्दिरो मे हस्तिशाला और रगशाला (सभा मण्डप) बनवाना आवश्यक बताया गया है। इन नियमो और निर्देशो के अनुसार जैन मन्दिरो मे चित्र, मूर्ति और स्थापत्य, तीनों कलाओ का सगम आज भी देखने को मिलता है। आबू का जैन मन्दिर जैन कला और स्थापत्य का अद्वितीय उदाहरण माना जाता है। उसका निर्माण १०८८ वि० (१०३१ ई०) मे हुआ था। इस मन्दिर के सम्बन्ध मे डॉ० हीरालाल जैन ने (भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० ३३४-३३५) लिखा है, 'मुख्य मन्दिर का रगमण्डप या सभामण्डप गोलाकार २४ स्तम्भों पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ के अग्र भाग पर तिरछे शिलापट आरोपित हैं, जो उस भव्य छत को धारण किये हुए हैं। छत की पद्मशिला के मध्य मे लोलक की कारीगरी कला के इतिहास मे अद्वितीय है। उत्तरोत्तर छोटे होते गये चन्द्रमण्डलों (ददरी) युक्त कचुलक सहित १६ विद्याधरियों की आकृतियाँ अत्यन्त मनोज्ञ हैं। इस रगमण्डप की रचना तथा उत्कीर्णन-कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह किसी दिव्य लोक मे आ पहुँचा हो।'

इस मन्दिर के सामने बने भगवान् नेमिनाथ मन्दिर मे भी एक रगशाला है, जिसकी रचना उक्त विधि-विधान से की गयी है। इन दोनो मन्दिरो की कलात्मक सज्जा अद्भुत एव अद्वितीय है।

आचार्य वात्स्यायन ने अनेक प्रकार की कला-गोष्ठियों का उल्लेख किया है। ये कला गोष्ठियाँ पूर्व निश्चित दिन पर सरस्वती भवन मे, किसी वेश्या के घर पर या नाट्यशाला मे आयोजित की जाती थीं। उनमे बाहर से बुलाये गये नट-नर्तक गायकों को पुरस्कार देकर विदा किया जाता था (कामसूत्र १।४।३०)। आचार्य वात्स्यायन ने तत्कालीन भारत के नाट्य-सगीत-अनुराग की चर्चा करते हुए लिखा है कि गन्धर्वशालाओं और नाट्यशालाओ मे गणिका पुत्री तथा इसी प्रकार की कलानुरागिणी युवतियो के लिए नृत्य-सगीत की विधिवत् शिक्षा की व्यवस्था थी।

नाट्यशास्त्र में नाट्यशाला का रचना विधान

आचार्य भरत ने नाट्योत्पत्ति के अनन्तर नाट्यशास्त्र के दूसरे अध्याय मे रगयोजना या नाट्यशाला के रचना-विधान का विस्तार से वर्णन किया है। नाट्यशाला को उन्होंने यज्ञ के समान श्रेष्ठ बताया है (यज्ञेन सम्मितम्–२।१२४) और अभिनेताओ तथा नाट्य मे सम्बद्ध सभी व्यक्तियो के लिए उसके प्रति निष्ठा रखने का विधान किया है। नाट्य का निर्माण और भरत पुत्रों (शिष्यों), गन्धर्वों तथा अप्सराओं द्वारा उसका शिक्षण-प्रशिक्षण हो जाने के अनन्तर उसके प्रयोग के लिए आचार्य भरत ने पितामह ब्रह्मा से नाट्यशाला की रचना करने के लिए निवेदन किया। पितामह ने विश्वकर्मा को आदेश दिया कि वह लौकिक नाट्यशाला का निर्माण करें। विश्वकर्मा ने शास्त्रीय दृष्टि से परिकल्पना करके नाट्यमण्डप के तीन प्रकार निर्धारित किये : १. आयताकार (विकृष्ट), २. वर्गाकार (चतुरस्र) और ३. त्रिभुजाकार (त्र्यस्र) या तिकोना। प्रमाण (माप) के आधार पर क्रमश उनके नामकरण हुए १. ज्येष्ठ (बड़ा), २. मध्यम (मझला) और ३ हीन (छोटा)।

हस्तदण्ड के अनुसार क्रमश उनका प्रमाण एक सौ आठ, चौंसठ और बत्तीस हाथ निश्चित किया गया। ज्येष्ठ नाटचमण्डप देवताओं के लिए, मध्यम राजाओं के लिए और कनिष्ठ शेष मनुष्यों के लिए निर्धारित किया गया। इन तीनों प्रेक्षागृहों (नाटचशालाओं) में मध्यम प्रकार का नाटच-मण्डप उत्तम बताया गया है, क्योंकि उसमें कथोपकथन (पाठ्य) और संगीत सरलता से सुना जा सकता है

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम्।
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत्॥

नाटचशास्त्र—२।१२

मध्यम कोटि की इस चतुरस्र नाटचशाला के निर्माण के लिए सर्व प्रथम भूमि का सर्वेक्षण होना बताया गया है। इसके लिए इंजीनियर (प्रयोजक) को चाहिए कि वह समतल, स्थिर काले अथवा सफेद रंग की भूमि को चुने। उस चतुरस्र भूमि को दो भागों में विभक्त किया जाय। पुन उसके पिछले भाग को दो समान हिस्सों में अलग कर दिया जाय। उनमें से आगे के हिस्से में रंगशीर्ष और पीछे के हिस्से में नेपथ्यगृह की स्थापना की जाय। किसी शुभ तिथि, वार, नक्षत्र और करण आदि पर शंख, दुन्दुभी तथा मृदंग आदि वादनों के साथ मंगल घोष करते हुए नाटचशाला का शिलान्यास करना चाहिए। पहले भित्तिकर्म और तदनन्तर स्तम्भों का निर्माण करना चाहिए। वास्तुशास्त्र की विधियों के अनुसार स्तम्भों का निर्माण कार्य पूरा हो जाने के अनन्तर नाटच-शाला में उनको बैठाते समय यह मंगलकामना की जानी चाहिए कि 'जिस प्रकार मेरु पर्वत अचल और हिमालय महाबलशाली है, हे स्तम्भ, उसी प्रकार तू भी अचल और महाशक्तिशाली बन कर राजा के लिए जयस्वी सिद्ध हो' :

यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबल ।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव॥

नाटचशास्त्र—२।६२

तदनन्तर निर्दोष एवं कुशल कारीगरों द्वारा क्रमश नेपथ्यगृह, रंगपीठ और मत्तवारणी का निर्माण किया जाय।

रंगशीर्ष (रंगपीठ का ऊपरी भाग) को अनेक प्रकार के शिल्पों से सज्जित करना चाहिए। उसमें सर्प, सिंह और हाथी आदि की आकृतियाँ चित्रित की जानी चाहिएँ। इसके अतिरिक्त उसको अनेक प्रकार की पुतलियों, वेदिकाओं, चौकोर सुन्दर जालियों और स्तम्भों से सज्जित करना चाहिए।

नाटचशाला का आकार पर्वत-कन्दरा की भाँति होना चाहिए। उसमें ध्वनि के गुंजन के लिए छोटी-छोटी ऐसी खिड़कियाँ होनी चाहिए, जिनसे वायु का निःसरण तो हो सके, किन्तु प्रवेश न होने पावे। उसकी रचना ऐसी होनी चाहिए, जिसमें अभिनेताओं, गायकों और वाद्ययंत्रों की ध्वनि का गुंजन हो। उसकी दीवारों को स्त्री-पुरुषों के जोड़ों, लताबन्धों, और रतिक्रीडा विषयक चित्रों से सज्जित करना चाहिए।

वास्तुशास्त्र के विधान पर सर्वलक्षण-सम्पन्न नाट्यशाला का निर्माण हो जाने के अनन्तर शास्त्रज्ञ, विनीत, पवित्र, दीक्षाप्राप्त एव शान्तप्रकृति नाट्याचार्य द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओ, लोकपालो, गन्धर्वो, अप्सराओ, मुनियो, असुरो, यक्षो और नाट्यकुमारियो का आवाहन कर उनसे अनुग्रह-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाय। नाट्य की निर्विघ्नता के लिए इन्द्रायुध जर्जर की पूजा की जाय। आचार्य भरत का कहना है कि नाट्यशाला एक यज्ञवेदी के समान है। नाट्यदेवता का पूजन किये बिना उसमे नाट्य का प्रयोग नही करना चाहिए :

> यज्ञेन सम्मितं ह्येतद्रंगदैवतपूजनम्।
> आपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत्॥

नाट्यशास्त्र—३।९७

इस प्रकार वास्तुविद्या के विधानो के अनुसार नाट्यशाला का निर्माण करना चाहिए और उस नवनिर्मित नाट्यशाला की पूजा-प्रतिष्ठा करने के अनन्तर अभिनेताओ को उसमे अभिनय करना चाहिए।

आचार्य भरत के अनुरोध पर पितामह ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा द्वारा नाट्यशाला का निर्माण हो जाने के अनन्तर उसमे दो नाटको का प्रथम बार अभिनय हुआ। आचार्य भरत के **नाट्यशास्त्र** के चौथे अध्याय मे **अमृतमन्थन** नामक समवकार और **त्रिपुरदाह** नामक डिम के अभिनीत होने का उल्लेख किया गया है। इस समवकार की रचना स्वय ब्रह्मा ने की थी। उसमे करणो तथा अगहारो का समावेश भगवान् शकर ने किया। तदनन्तर आचार्य भरत ने अपने शिष्यो-प्रशिष्यो को उसमे प्रशिक्षित किया और उन्ही के द्वारा वह नाट्यशाला मे अभिनीत हुआ। इस समवकार को धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति का साधन बताया गया है। साथ ही ब्रह्मा के निर्देश पर आचार्य भरत द्वारा उसके अभिनीत होने का भी उल्लेख किया गया है :

> योऽयं समवकारस्तु धर्मकामार्थसाधकः।
> मया प्राग्ग्रथितो विद्वन् स प्रयोगः प्रयुज्यताम्॥

नाट्यशास्त्र—४।३

इन दोनो नाटको के अभिनय के लिए उस नगपति हिमालय (कैलाश) पर नाट्यशाला का निर्माण किया गया जो कि अनेक पर्वतो से अधिष्ठित, विभिन्न प्राणियो, देव-गन्धर्व-यक्ष कुलो तथा मुनिजनो से युक्त, सुन्दर कन्दराओं और निर्झरो से सुशोभित था :

> ततो हिमवतः पृष्ठे नानानगसमाकुले।
> बहुभूतगणाकीर्णे रम्यकन्दरनिर्झरे॥

पूर्वरङ्ग. कृत. पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तम।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसज्ञ प्रयोजित॥

नाट्यशास्त्र—४।९-१०

इस प्रकार नगपति हिमालय पर निर्मित नाट्यशाला मे प्रथम बार जब उक्त दोनो नाटको का अभिनय हुआ तो उसमे देवता तथा दानवो ने अपने-अपने भावो एव कर्मों का वास्तविक प्रदर्शन देख कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। अभिनय से हर्षित देव-दानवो तथा भगवान् शकर ने ब्रह्मा से कहा 'हे महामते, आपके द्वारा विरचित यह नाट्य बडा ही सुन्दर है। यह यश का उन्नायक, शुभकर, अर्थ, पुण्य और बुद्धि का सवर्द्धन करने वाला है'

अहो नाट्यमिद सम्यक् त्वया सृष्ट महामते।
यशस्य च शुभार्यं च पुण्य बुद्धिविवर्द्धनम्॥

नाट्यशास्त्र—४।१२

विश्वकर्मा द्वारा निर्मित नाट्यशाला मे दैत्यदानव-नाशन नामक नाटक का अभिनय भी किया गया। इस सन्दर्भ का उल्लेख नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे पहले किया जा चुका है। नाट्यशाला के रचना विधान पर वास्तुशिल्प विषयक जिन ग्रन्थो मे विचार किया गया है उनमे मानसार का नाम प्रमुख है।

मानसार मे नाट्यशाला का रचना विधान

मानसार भारतीय वास्तुशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है, जिसकी रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग मानी जाती है। इस ग्रन्थ के अनेक स्थलो पर नृत्य, नर्तक, गणिक, रगक, रगशाला, नृत्तमण्डप, नृत्यालय और नाट्यगृह आदि शब्दो का उल्लेख हुआ मिलता है।

ग्रन्थ के तीसरे अध्याय (४) मे मण्डप (महल), सभाशाला, प्रपा (प्याऊ) और रगशाला (नाट्यशाला) सब को वास्तु के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। उसके नवम ग्राम लक्षण नामक अध्याय (११६) मे ब्राह्मणो के लिए नन्द्यावर्त नामक ग्राम का विन्यास करते हुए लिखा गया है कि उसके पश्चिम भाग मे वादको के घर और उन्ही के निकट गणिकाओ के लिए नृत्यालय (नाट्यगृह) होने चाहिएँ। आगे भूमिलम्ब विधान नामक ग्यारहवें अध्याय (१४४) मे नौ तल्ला के मन्दिर के मध्य मे रगशाला के बनवाये जाने का विधान है। इस ग्रन्थ के स्तम्भ लक्षण नामक पद्रहवें अध्याय (२७०-२७१) मे लकडी के सग्रह के लिए प्रस्थान करते समय जिन शुभ और अशुभ शकुनो का वर्णन किया गया है उनमे नर्तक का भी उल्लेख हुआ है। पांच तले भवनो का लक्षण बताते हुए तेईसवें अध्याय (४७ ५०) मे यह विधान किया गया है कि उनमे रगशाला भी बनायी जाय। इसी प्रकार देवताओ के परिवार विधान नामक बत्तीसवें अध्याय (७९-८१) मे सत्यक या अन्तरिक्ष पद मे वाद्यकारो और पूषण या वितथ पद मे नाट्यकारो के घर बनाये जाने का विधान है। इसी सन्दर्भ मे यह भी लिखा गया है कि दक्षिण-पश्चिम वरुण पद के बीच मे नाचने वाले लडको (गणिकों) के आलय होने चाहिएँ।

मानसार के **मण्डप विधान** नामक चौतीसवें अध्याय (३७-५२) मे नृत्य साधना और गीत साधना के लिए पृथक् रूप से सातवाँ मण्डप बनाने का विधान किया गया है। इसको वहाँ **नृतमण्डप** (नृत्य-सगीतशाला) नाम दिया गया है। इस सातवें मण्डप की लम्बाई-चौड़ाई और उसके विभिन्न हिस्सो के निर्माण का विस्तार से विवेचन किया गया है (११९-२०४, २०९-२१०)। **आस्थान मण्डप** के मध्य मे भी तीन भाग या वर्ग प्रमाण की और शाला नामक मण्डप मे चतुरस्र **रगशाला** बनाने का विधान किया गया है। इसी प्रकार निर्देश किया गया है कि देवताओ, ब्राह्मणो और राजाओ के मण्डपो मे भी एक रगशाला (**रंगक**) होनी चाहिए। **शाला विधान** नामक पैंतीसवें अध्याय (१२१, १४३, १५३) मे देवताओ, तपस्वियो, ब्राह्मणो और अन्य वर्णों के लिए बनवाये जाने वाले आवासो के साथ रगशाला भी बनाये जाने का विधान है।

इस प्रकार **मानसार** के उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत मे नृत्यशालाओ के निर्माण की विधियाँ निश्चित हो चुकी थी और व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक भवनो के निर्माण के साथ ही नाट्यशालाओं के निर्माण का भी प्रचलन हो चुका था। ग्रन्थ के चौतीसवे अध्याय मे नाट्य मण्डप बनाने की जो विधि बतायी गयी है वह इस बात का प्रमाण है कि नाट्यशालाओं के निर्माण की परम्परा का बहुत विकास हो चुका था। समाज के विभिन्न वर्गों के लिए बनाये जाने वाली भिन्न भिन्न कोटि की नाट्यशालाओ के उक्त वर्णनो को देख कर यह भी ज्ञात होता है कि सामान्य और विशिष्ट, दोनों प्रकार के जन-जीवन मे उसका प्रवेश हो चुका था। नृत्य और सगीत मे जितनी रुचि स्त्रियो की थी, सम्भवत उतनी ही रुचि पुरुषो की भी थी।

मानसार मे बिखरी हुई ललित कला विषयक सामग्री से और विशेष रूप से नृत्य एव नाट्यशाला से सम्बद्ध उल्लेखो को देख कर भारत मे नृत्य-सगीत की पर्याप्त लोकप्रियता का पता चलता है।

नाटच : नृत्त : नृत्य

आचार्य भरत के नाटचशास्त्र, आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनवभारती और आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण प्रभृति नाटचशास्त्रीय ग्रन्थो मे और आचार्य धनजय कृत दशरूपक आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्था मे नाटच, नृत्त तथा नृत्य के सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त शारदातनय के भावप्रकाशन, विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण, शार्ङ्गदेव के सगीतरत्नाकर, कृष्णशर्मन् के मन्दारमरन्दचम्पू और रामचन्द्र गुणभद्र के नाटचदर्पण आदि ग्रन्थो मे भी उनका विवेचन देखने को मिलता है। इन सब का आधार दशरूपक और उसकी अवलोक वृत्ति है।

सामान्यत उक्त तीनो शब्दो को एक ही अर्थ का द्योतक माना जाता है, या बहुधा उनका अर्थान्तर म अशुद्ध प्रयोग किया जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि उनकी मूल प्रवृत्ति एव व्युत्पत्ति तक पहुँचने की अध्येता आवश्यकता ही नही समझता। नाटचशास्त्र के इन महत्वपूर्ण अगा का सयुक्तियुक्त विवेचन इसलिए भी आवश्यक है कि उन पर ही सारा नाटचशास्त्र आधारित है।

नाटच, नृत्त और नृत्य—नाटचशास्त्र की विकास-परम्परा के द्योतक है। नाटचशास्त्र की उत्पत्ति के सन्दर्भ मे अभिनयदर्पण मे आचार्य नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि परमेष्ठि ब्रह्मा ने नाटचवेद का निर्माण कर उस अभिनय के लिए सर्व प्रथम आचार्य भरत को दिया। आचार्य भरत ने उसमे गन्धर्वों और अप्सराओ को दीक्षित किया। तदनन्तर गन्धर्वों और अप्सराओ के साथ आचार्य भरत ने उस नाटचवेद को नाटच, नृत्त और नृत्य—इन तीन रूपा म प्रस्तुत किया

ततश्च भरत सार्धं गन्धर्वाप्सरसा गणैः।
नाटच नृत्त तथा नृत्यमग्रे शम्भो प्रयुक्तवान्॥२॥

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत इन नृत्यभेदो के उद्धत प्रयोगा को देख कर शकर ने अपने मुख्य गण तण्डु द्वारा भरत को नाटचवेद की विधिवत् शिक्षा दिलायी। तदनन्तर नाटचशास्त्र की परम्परा आगे बढ़ी।

इस आख्यान से यह ज्ञात होता है कि पितामह द्वारा सृष्ट नाटचवेद की परम्परा नाटच, नृत्त और नृत्य के रुप मे विकसित हुई। सस्कृत मे नट्, नत् और णट्—तीन धातुएँ हैं, जिनसे क्रमश नाटच, नृत्त और नृत्य शब्दो की निष्पत्ति हुई। उनकी इसी स्वतत्र निष्पत्ति के कारण उनके अर्थ और प्रयोग की विधियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं।

भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण

वैयाकरण पाणिनि के मतानुसार नाट्य शब्द नट् धातु से निष्पन्न हुआ है। ऋग्वेद (७।१०४।२३) मे भी नट् धातु का प्रयोग मिलता है। नट् और नत् ये दोनों धातुएँ अपने मूल रूप मे प्राचीनतम हैं और उनका प्रयोग अलग-अलग रूप एव अर्थ मे होता आया है। पाणिनि ने स्वय इनका उल्लेख (४।३।१२९) अलग-अलग रूप मे किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तर काल मे उनका प्रयोग अधिक व्यापक रूप मे होने लगा था। नट् धातु का प्रयोग पहले तो अभिनय और गात्र-विक्षेपण के अर्थ मे और नत् धातु का प्रयोग केवल अभिनय के अर्थ में होता रहा, किन्तु बाद मे नट् धातु केवल अभिनयार्थक और नत् धातु केवल गात्र-विक्षेपणात्मक अर्थ मे प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार नाट्य शब्द की निष्पत्ति अभिनयार्थक नट् धातु से और नृत्त तथा नृत्य शब्दो की निष्पत्ति गात्र-विक्षेपणार्थक नत् एव णट् धातु से हुई। इसी रूप मे उनके प्रयोग की परम्परा आगे बढ़ी।

नाट्य

वैयाकरण पाणिनि ने नटो के धर्म या आम्नाय को नाट्य कहा है (नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम्, अष्टाध्यायी ४।३।१२९)। बाद मे इसी नाम से उनके कुल-ग्रन्थों का भी अभिधान हुआ। आचार्य धनजय ने दशरूपक (१।७) मे काव्य निबद्ध पात्रों की अवस्थाओ के अनुकरण को नाट्य कहा है। काव्य मे नायक की जो धीरोदात्त आदि अवस्थाएँ बनायी गयी हैं, नट अभिनय द्वारा जब उनकी एकरूपता प्राप्त कर लेता है तब वही एकरूपता की प्राप्ति नाट्य (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) कहलाती है। उसमे आगिक अभिनय के साथ सात्विक अभिनय भी होता है। काव्य मे वर्णित राम-दुष्यन्तादि नायको की अवस्थाओ का अभिनेताओ द्वारा आगिक एव सात्विक अभिनयो के माध्यम से ऐसा अनुकरण करना, जिससे दर्शको एव श्रोताओ को राम-दुष्यन्तादि के चरितो की तादात्म्य प्रतीति हो, उसे नाट्य कहा जाता है।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र (१।११८) मे नाट्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "'जिसमे सातों द्वीपो के निवासियो, देवताओ, असुरो, राजाओ, ऋषियो और गृहस्थो आदि के कार्यों एव चरितों का अनुकरण या प्रदर्शन हो उसे नाट्य कहा जाता है' .

देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्॥

धनजय के दशरूपक की परम्परा मे लिखे गये महेन्द्र विक्रम के भरतकोश मे कहा गया है कि नटो द्वारा जो प्रदर्शित किया जाता है उसे नाट्य कहते हैं। उसमे नृत्त-गीत आदि का प्रयोग नही होता (नटैर्यत्प्रदर्श्यते तन्नाट्यम्। तत्र नृत्तगीताना प्रवेशो नास्ति)। महिम भट्ट ने व्यक्तिविवेक म नाट्य को गीतादि से रजित बताते हुए लिखा गया है कि विभाव-अनुभावादि के वर्णन मे जो आनन्दोपलब्धि होती है उसको काव्य कहा जाता है और जब नटो द्वारा गीतादि से रजित उसका प्रयोग किया जाता है, तब उसी को नाट्य कहते हैं .

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाटचं गीतादि रञ्जितम्॥

नाटच का विषय रस है। इसीलिए नाटच को रसाश्रित कहा गया है (रसाश्रयं नाटचम्)। यह अवस्थानुकृति ऐसी होनी चाहिए, जो भावक को सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति करा सके। गीत एवं वाणी से संयुक्त होकर नृत्त और नृत्य, नाटच को पूर्णता प्रदान करते हैं। रसाश्रित होने के कारण नाटच द्वारा ही प्रेक्षक को रसानुभूति होती है। इस दृष्टि से नृत्त और नृत्य उसके सहायक हैं।

अभिनय कला की दृष्टि से नाटकों में दो विधाएँ देखने को मिलती हैं : रूपक और उपरूपक। रूपक नाटच की विधा है और उपरूपक नृत्य की।

दशरूपक में नाटच शब्द की उक्त परिभाषा में शाब्दिक पक्ष की प्रधानता है। नाटचशास्त्र में नाटच को रसाश्रय कहा गया है और उसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है वाक्यार्थाभिनयरसाश्रयं नाटचम्। इस परिभाषा के अनुसार नाटच उसे कहा जाता है, जिसमें किसी वाक्यार्थ को अभिनय द्वारा अभिव्यक्त कर सहृदय सामाजिक के मन में रस उत्पन्न किया जाय। इस तरह नाटच को रसाश्रय मानने में उसका महत्व अधिक बढ जाता है। अभिनेताओं द्वारा राम-दुष्यन्तादि के अभिनय से सहृदय सामाजिकों में तादात्म्य प्रतीति तभी सम्भव है, जब रसोद्रेक हो। वह वाक्य और अर्थ अर्थात् वस्तु और भाव के द्वारा ही सम्भव है।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण (श्लोक १५) में नाटच का लक्षण देते हुए लिखा है कि :'किसी पौराणिक एवं प्राचीन चरित पर आधारित ऐसी कथा के अभिनय (नटन) को नाटच कहा जाता है, जो लोक सम्पूजित हो' :

नाटचं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्।

इस लक्षण में एक विशेष बात सामने आयी है। उसमें कथावस्तु के उल्लेख के साथ ही लोकरुचि के समावेश का भी विधान किया गया है। अभिनय में लोकरुचि को प्रमुखता इसलिए दी गयी है, क्योंकि उसका सम्बन्ध लोक से ही बँधा हुआ है। इससे पूर्व आचार्य भरत ने भी (नाटचशास्त्र—१।११९) कहा है कि सुख-दुःखों से समन्वित लोक के स्वभाव को विभिन्न आंगिक अभिनयों द्वारा प्रदर्शित करना ही नाटच है

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्यभिधीयते॥

आचार्य भरत के मत से प्रभावित आचार्य सागरनन्दी का भी यही अभिमत है कि सुख-दुःखों से उत्पन्न लोक की अवस्थाओं को जब अभिनय द्वारा व्यक्त किया जाता है, शास्त्रविदों ने उसी को नाटच नाम से अभिहित किया है।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने विधान किया है (अभिनयदर्पण—१२) कि : 'नाटच और नृत्य का विशेष रूप से पर्वों और त्योहारो के समय आयोजन करना चाहिए' :

द्रष्टव्ये नाटचनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः।

नृत्त

अभिनय की दृष्टि स नाटच के अनन्तर नृत्त का दूसरा स्थान है। आचार्य धनजय ने दशरूपक (१।१०) मे लिखा है कि नृत्त ताल और लय पर आश्रित होता है (नृत्तं ताललयाश्रयम्)। नृत्त मे ताल और लय के अनुरूप हाथ-पैरो का सचालन मात्र होता है। उसमे गात्र विक्षेपण या अग-सचालन तो होता है, किन्तु भावो का प्रदर्शन नही होता है। यही उसकी विशेष विधा है। इसी विधा को लक्ष्य करके आचार्य नन्दिकेश्वर ने (अभि०—१५) नृत्त का लक्षण देते हुए लिखा है *'जिस अभिनय मे भावो का प्रदर्शन नही किया जाता, उसे नृत्त कहते हैं'* -

भावाभिनयहीन तु नृत्तमित्यभिधीयते।

आचार्य नन्दिकेश्वर की उक्त परिभाषा आचार्य भरत के नाटचशास्त्र से प्रभावित है। आचार्य भरत ने नाटच मे अभिनय का सयोग स्वाभाविक माना है, क्योकि वह अभिनय का एक भेद है। अभिनय के बिना नाटघ का कोई महत्व नही है, क्योकि कर्म (वस्तु) और भाव (अर्थ) की व्यजना के लिए अभिनय की आवश्यकता होती है। नाटच मे भी वाक्यार्थ को ही प्रमुखता दी गयी है। ऐसी स्थिति मे आचार्य भरत के समक्ष ऋषियो ने यह जिज्ञासा प्रकट की (नाटचशास्त्र—४।२६७) कि भावार्थ को अभिव्यजित करने के लिए अभिनय की योजना तो उचित है, किन्तु नृत्त के प्रयोग की आवश्यकता क्या है? और साथ ही यह नृत्त क्या है और उसका स्वरूप तथा उसकी प्रकृति क्या है? स्पष्ट है कि नृत्त न तो गीतार्थ सम्बन्ध की दृष्टि से उपयोगी है और न ही उसके द्वारा गीतार्थ को अभिव्यजित किया जा सकता है। फिर उसके प्रयोग तथा प्रयोजन का औचित्य क्या है?

न गीतकार्यसम्बद्ध न चाप्यर्थस्य भावकम्।
कस्मान्नृत्त कृत ह्येतद्गीतेष्वासारितेषु च॥

ऋषियो की इस जिज्ञासा का आचार्य भरत ने नाटघशास्त्र (४।२६९-२७१) मे सयुक्तियुक्त समाधान किया। उन्होंने नृत्त की आवश्यकता एव उपयोगिता के सम्बन्ध मे पहला कारण तो यह बताया कि अभिनय के साथ उसका प्रयोग इसलिए आवश्यक है, क्योकि वह शोभा का उत्कर्षक है। दूसरे मे वह मगलकारी है और लोकजीवन की उसमे स्वाभाविक अभिरुचि होती है। तीसरे मे विवाहोत्सव, पुत्रजन्म, वर के श्वसुर घर मे प्रवेश, आमोद प्रमोद, हर्ष-उल्लास और अभ्युदय के अवसरो पर उसके प्रयोग का विधान है।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने भी (अभिनयदर्पण—श्लोक १३-१४) नृत्त-प्रयोग के विशेष अवसरों का विधान किया है। उन्होंने लिखा है कि : 'राज्याभिषेक, महोत्सव, यात्राकाल, तीर्थयात्रा, प्रियजनों के समागम, नगरप्रवेश, गृहप्रवेश, पुत्रजन्म और इसी प्रकार के अन्य कार्यों की शुभकामना एवं मांगल्य प्राप्ति के लिए नृत्त का आयोजन करना चाहिए' :

नृत्तं तत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसङ्गमे॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं माङ्गल्यं सर्वकर्मभिः॥

इस प्रकार केवल ताल-लय के आश्रित होने पर भी अभिनय में नृत्त की आवश्यकता मानी गयी। आचार्य भरत का भी कहना है (नाट्यशास्त्र—४।२७१) कि : 'भूत समूह के द्वारा प्रतिक्षेपों (प्रचुर स्तुति से युक्त गीत विशेषों) से गीत का आरम्भ किया जाता है। ये गीत अभिनय के आरम्भ में विविध वाद्ययंत्रों के साथ सम्पन्न होते हैं। वाद्ययंत्रों के इन प्रतिक्षेपों के प्रयोग से गीत के अभिनय और नृत्त के विभाजन में सहायता ली जाती है। उनमें सम्यक् व्यवस्था देने के लिए ही उसका प्रयोग किया जाता है' .

अतश्चैव प्रतिक्षेपाद्भूतसङ्घैः प्रवर्तिताः।
ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ् नृत्तविभागकाः॥

इस प्रकार अभिनय कला में नाट्य के रहते हुए भी नृत्त की आवश्यकता अनुभव की गयी और सभी नाट्याचार्यों ने उसके महत्व को स्वीकार किया।

नृत्य

अभिनय का तीसरा भेद नृत्य है। उसकी निष्पत्ति नृत् धातु से हुई है। आचार्य धनंजय के दशरूपक (१।९) में नृत्य की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि : 'नृत्य भावों पर आश्रित होता है' (भावाश्रयं नृत्यम्)। इसका यह आशय हुआ कि जिस अभिनय द्वारा किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति से सहृदय सामाजिक के भावों को अभिव्यंजित किया जाता है, उसे नृत्य कहते हैं।

अभिनयदर्पण (श्लोक १६) में ऐसे अभिनय को नृत्य कहा गया है, जिसमें रस, भाव और व्यंजना का प्रदर्शन हो। इस नृत्य का आयोजन सभा और राजदरबार में किया जाना चाहिए :

रसभावव्यंजनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते।
एतन्नृत्यं महाराजसभायां कल्पयेत् सदा॥

इस प्रकार नृत्य मे रस, भाव और व्यजना, तीनों का प्रदर्शन होता है। इस दृष्टि से नाट्य और नृत्त की अपेक्षा नृत्य का अभिनय मे अधिक महत्व सिद्ध होता है। उसके प्रयोग के लिए नर्तक-नर्तकी को पर्याप्त अभ्यास और साधना की आवश्यकता है। नाट्य मे रसो की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया है। नृत्त मे ताल-लय की सगति की प्रधानता है। किन्तु नृत्य मे रस, भाव के साथ ही व्यजना का भी प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से नृत्य का अभिनय कला मे विशेष स्थान है।

नृत्य के दो भेदो—ताण्डव और लास्य—तथा उनके उपभेदो का वर्णन आगे यथास्थान किया गया है। नाट्य, नृत्त और नृत्य का विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त उनके पारस्परिक अन्तर को जान लेना आवश्यक है।

नाट्य, नृत्त और नृत्य में अन्तर

शास्त्रीय दृष्टि से नाट्य, नृत्त और नृत्य की विधाओं एव स्थितियो पर विचार किया जा चुका है। लक्षण ग्रन्थो मे उनकी जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनसे स्पष्ट है कि तीनो का अपना-अपना अलग महत्व है। उनके प्रयोजन और प्रयोग को दृष्टि मे रख कर ही उनकी पारस्परिक भिन्नता स्पष्ट की गयी है।

नाट्य और नृत्य

नाट्य की अपेक्षा नृत्य कुछ भिन्न है। उनकी यह भिन्नता विषयवस्तु पर आधारित है। नाट्य रसाश्रित है और नृत्य भावाश्रित। अनुकरण प्रधान होते हुए भी नृत्य मे भावो की और नाट्य मे अवस्थाओ की प्रमुखता होती है। नृत्य मे कथोपकथन की गौणता होती है, जब कि नाट्य मे उसकी प्रमुखता रहती है। नृत्य मे काव्य-सौष्ठव की और श्रवण-सुरुचि की अपेक्षा दृश्यात्मकता अधिक होती है। नृत्य नेत्र का विषय है, श्रवण का नही, किन्तु नाट्य मे दोनो होते है। नृत्य का मुख्य विषय देखना है। उसमे आगिक अभिनय की प्रमुखता होती है। भावाश्रित होने के कारण नृत्य मे पदार्थ के अभिनय की प्रमुखता होती है, जब कि रसाश्रित होने के कारण नाट्य मे वाक्याभिनय को श्रेष्ठ माना जाता है।

नाट्यशास्त्र, दशरूपक और अभिनयदर्पण आदि लक्षण ग्रन्थो के आधार पर नाट्य, नृत्त और नृत्य का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हुए डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है

नाट्य

१ नाट्य को रूपक कहने का कारण यह है कि अभिनयकर्ता पर मूल कथा के व्यक्तियो का आरोप किया जाता है।[6]
२ नाट्य मे नायक की धीरोदात्त अवस्थाओ और उनकी वेश-रचना आदि का अनुकरण प्रमुख होता है।
३ नाट्य मे सात्विक अभिनय प्रमुख रूप से विद्यमान होता है।

४ नाटच मे वाक्यार्थ का अभिनय होता है।
५ नाटच रसाश्रित होता है।

नृत्य

१ नृत्य मे भावा का अनुकरण प्रधान होना है।
२ उसम आगिक अभिनय पर बल दिया जाता है।
३ उसमे पदार्थ का अभिनय होता है।

नृत्य और नृत्त

नृत्य और नृत्त को प्राय एक ही समझा जाता है, किन्तु दोनो म पर्याप्त भिन्नता है। नृत्य अभिनय प्रधान होता है, जब कि नृत्त मे अभिनय की अपेक्षा नही होती है। नृत्य भावा पर आश्रित होता है और नृत्त ताल-लय पर। दोनो के अन्तर को डॉ० ओझा के मतानुसार अधिक स्पष्ट रूप मे इस प्रकार समझा जा सकता है

१ नृत्त मे अग विक्षेपण केवल ताल और लय के सहारे होता है, किन्तु नृत्य मे वह भावा पर अवलम्बित होता है।
२ नृत्त म किसी विषय का अभिनय नही होता है, किन्तु नृत्य मे पदार्थ का अभिनय आवश्यक होता है।
३ नृत्त केवल सौन्दर्य विधेयक होता है, किन्तु नृत्य भावाभिनय मे सहायक होता है।
४ नृत्त स्थानीय होता है, किन्तु नृत्य सार्वभौमिक।

ताण्डव और लास्य

नाटचशास्त्रीय ग्रन्थो मे नृत्त के दो भेद बताये गये हैं ताण्डव और लास्य। भगवान् नटराज द्वारा आविष्कृत और महामुनि तण्डु द्वारा प्रवर्तित पुरुषा का उद्धत नृत्त ताण्डव नाम से कहा गया है। भगवती पार्वती द्वारा आविष्कृत और कुल-ललिताओ द्वारा प्रवर्तित सुकुमार एव विलासयुक्त नृत्त का लास्य नाम से कहा गया है। ताण्डव नृत्त के अधिष्ठाता स्वय भगवान् शकर और लास्य नृत्त की अधिष्ठातृ भगवती पार्वती हैं। ताण्डव पुरुषा का और लास्य महिलाआ का नृत्त है।

ताण्डव नृत्त

नटराज के ताण्डव नृत्त की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे आचार्य भरत के नाटचशास्त्र (४।२५४ २५६) मे बताया गया है कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वस करने के उपरान्त उसी सान्ध्यवेला मे नटराज शकर ने विविध रेचका, अगहारो तथा पिण्डीबन्धा सहित ताण्डव नृत्त किया और भगवती पार्वती ने लास्य नृत्त

की योजना कर उसमे भगवान् शकर का साथ दिया। इस नृत्त मे मृदग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिभ (ढोल), गोमुख, पणव और दुर्दर आदि वाद्ययत्रो का प्रयोग किया गया था। वह ताल और लय पर आधारित था।

इस प्रकार अगहार, रेचक और पिण्डीबन्धो के सयोग से भगवान् शकर ने जिस नृत्त की सृष्टि की उसे विधि-विधान पूर्वक तण्डु मुनि को सिखाया। तण्डु मुनि ने उस नृत्त मे गान तथा वाद्ययत्रो का सयोग कर उसे ताण्डव नृत्त के नाम से प्रचलित किया

सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ॥

× × ×

नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः सः ताण्डव इति स्मृतः॥

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति और उसकी परम्परा के सम्बन्ध मे आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण (श्लोक ५) के आरम्भ मे लिखा है कि पितामह ब्रह्मा ने नाट्यवेद की सृष्टि कर उसे अभिनय के लिए आचार्य भरत को दिया। आचार्य भरत ने उस नाट्यवेद मे गन्धर्वो और अप्सराओ को दीक्षित कर उसे भगवान् शकर के सामने अभिनीत किया। उस अभिनय मे भगवान् शकर को कुछ दोष दिखायी दिये। उन्होंने अपने मुख्य गण तण्डु को आदेश दिया कि वह भरत द्वारा प्रस्तुत अभिनय के उद्धत प्रयोगो का परिमार्जन करे। इस प्रकार भगवान् शकर के गण तण्डु द्वारा भरत को उपदिष्ट नाट्यवेद को मुनिजनो ने मानवी सृष्टि मे ताण्डव नाम से प्रचलित किया :

बुद्ध्वाऽथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन् ।

इस प्रकार आचार्य नन्दिकेश्वर के मतानुसार भगवान् शकर के गण महामुनि तण्डु द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस नृत्त का ताण्डव नामकरण हुआ। ताण्डव नृत्त के सम्बन्ध मे आचार्य भरत का निर्देश है कि उसका प्रयोग प्राय देवताओ की पूजा-अर्चना के अवसर पर करना चाहिए, इसके अतिरिक्त शृगार रस के सुकुमार भावो की अवतारणा मे भी उसका प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार के रागात्मक या नृत्तात्मक प्रबन्धो की रचना सस्कृत मे की गयी है।

नाट्यशास्त्र मे ताण्डव नृत्त की प्रयोग विधियो का विधान करते हुए आचार्य भरत ने आगे लिखा है कि उसमे वर्धमानक ताल का समावेश होता है, जो कि कलाओ, वर्णों और लयो पर आधारित होता है। उसमे स्वर, ताल, लय और कलाओं के अनुसार वाद्ययत्रो की योजना करते हुए अर्थ-व्यजना के लिए गात्र-विक्षेप (अग-सचालन) किया जाता है।

नाट्य विधान

किसी गीत के पद भाग (अगवस्तु) की समाप्ति पर उसकी भावाभिव्यक्ति के लिए शृंगार रस के अन्तर्गत पति-पत्नी के प्रेम-व्यापारों के प्रदर्शन के लिए और वसन्त आदि ऋतुओं तथा चन्द्रोदय आदि अवसरों पर जब नायिका अपने प्रियतम की निकटता प्राप्त करती है, ऐसी अवस्था में भी ताण्डव नृत्त का प्रयोग किया जाता है। आचार्य भरत का विधान है कि (नाट्यशास्त्र—४।३२४) ताण्डव नृत्त में सूची चारी का प्रयोग भाण्ड वाद्य के साथ करना चाहिए

तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे।

ताण्डव नृत्त के भेद

नटराज के ताण्डव नृत्त के अनेक भेद बताये गये हैं, जैसे भैरव ताण्डव, गौरी ताण्डव, उमा ताण्डव और साध्य ताण्डव आदि। नटराज के इन ताण्डव नृत्त भेदों में सृष्टि-सम्बन्धी पांच प्रक्रियाओं का निरूपण किया गया है, जिनके नाम हैं सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोभाव और अनुग्रह (मोक्ष)।

शास्त्रीय ग्रन्थों में नटराज शंकर के चार रूप बताये गये हैं। उनके नाम हैं संहार मूर्ति (ध्वंसात्मक रूप), दक्षिणा मूर्ति (शुभ रूप), अनुग्रह मूर्ति (वरप्रदायक रूप) और नृत्य मूर्ति (संगीतात्मक रूप)। उनके नृत्य मूर्ति रूप की १०८ मुद्राएँ बतायी गयी हैं। मन्दिरों, कलामण्डपों और संग्रहालयों में भगवान् नटराज की इन नृत्य मूर्तियों के अनेकविध रूप देखे जा सकते हैं। इन नृत्य मूर्तियों पर आगे यथास्थान विस्तार से लिखा गया है।

लास्य नृत्य

लोक में अभिनय की सृष्टि करते समय भगवती पार्वती ने जिस विलासयुक्त सुकुमार नृत्य का सृजन किया था, उसी को लास्य के नाम से कहा गया। नाट्यशास्त्र और अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में लास्य के सम्बन्ध में विवेचन देखने को मिलता है। नाट्यशास्त्र में लास्य के दस भेदों का निरूपण किया गया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं

१ गेयपद बैठे हुए व्यक्ति द्वारा वीणा आदि वादन के साथ गाया जाने वाला नृत्य।
२ स्थित पाठ्य कामपीडित स्त्री द्वारा आसनस्थ मुद्रा में किया जाने वाला प्राकृत पाठ।
३ पुष्प गण्डिका संस्कृत पाठ के साथ विभिन्न छन्दों के प्रयोग द्वारा स्त्री-पुरुषों की पारस्परिक चेष्टाओं का अभिव्यजन।
४ आसीन वाद्य के बिना किसी शोकाभिभूत स्त्री द्वारा लेटे-लेटे किया गया पाठ।
५ प्रच्छेदक अपने प्रेमी की प्राप्ति के लिए अनुतप्त कामिनी द्वारा वीणावादन के साथ किया जाने वाला गान।

६. सैन्धव : उस स्त्री की संगत मे गाया जाने वाला गीत, जिसका प्रेमी संकेत-क्रिया से अनभिज्ञ है।
७. द्विमूढ़क : स्त्री वेषधारी पुरुष द्वारा किया जाने वाला नृत्य।
८. त्रिमूढ़क : रसभावपूर्ण, सम्वादात्मक चौरस गीत।
९. उत्तमोत्तक : क्षुब्ध प्रेम की कटुता से युक्त गान।
१०. उक्तप्रयुक्त : वह सम्भाषण (उक्ति-प्रत्युक्ति) जिसमे प्रेम-पात्र को अलीकवत् प्रतीत होने वाला उपालम्भ दिया जाय।

● ● ●

चार

●

नाट्य परम्परा

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖
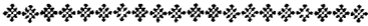
कला और समष्टि चेतना

●

प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कला मण्डपों में अभिनयकला

●

नृत्तमूर्तियों में अभिनयकला

●

अभिनयकला में परम्परा और लोकरुचि

●

अभिनेता और उनकी सामाजिक स्थिति

कला और समष्टि चेतना

मनुष्य मे सौन्दर्योपासना की प्रवृत्ति अनादि है। सौन्दर्य-जिज्ञासा की इस प्रवृत्ति ने ही सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया। मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास मे कला का सर्वाधिक योगदान रहा है। यही कारण है कि विभिन्न देशो के इतिहास की सर्वांगीण जानकारी प्राप्त करने के लिए सभ्यता और संस्कृति की जननी कला के इतिहास की जानकारी आवश्यक बतायी गयी है।

भारतीय जीवन मे कला को सत्य, शाश्वत, नित्य और अनादि माना गया है। उसकी आराधना लोकमगल और परमार्थ, दोनो के लिए की गयी है। कला एक कृति है, कलाकार की अभिव्यक्ति। यह सृष्टि उस परम सत्तावान् कलाकार की कृति या अभिव्यक्ति है। इसी भाव को लक्ष्य करके छान्दोग्य उपनिषद् (४।८।३) मे लिखा गया है कि उस आयतनवान् कलापुरुष परमेश्वर का प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन भी कला है। यह सृष्टिकला त्रिविध रूपा है। उसके प्रतीक हैं सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्।

वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म को आनन्दमय और उसकी अभिव्यक्ति (सृष्टि) को भी आनन्दमयी कहा गया है। उसकी यह आनन्दमयी सत्ता सोलह कलाओं द्वारा उद्भासित है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, समुद्र, अग्नि, सूर्य और विद्युत् आदि उसके कला-अश हैं। कलामय होने के कारण ही कलाकार अरूप से रूप की उपासना और साधक निर्गुण मे सगुण का आधान करता है। निराकार को साकार मे रूपायित करने के लिए कलाकार ने इन्ही प्रतिमानो का आश्रय लेकर अपने लक्ष्य को पूरा किया। यह लक्ष्य था परमानन्द की प्राप्ति। कला इसी परमानन्द-प्राप्ति का साधन है। भोग मे पर्यवसित होने वाली कला वस्तुत कला नही है, जिसमे परमानन्द की प्राप्ति हो, वही श्रेष्ठ कला है.

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला परा।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

भारतीय कलाकार ने कला को कला के लिए न मान कर जीवन के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित किया। इस प्रकार जीवन के लिए कला की उपयोगिता बढी। उसने नैतिक, सामाजिक और धार्मिक आदर्शों को रूपायित किया। इन आदर्शों के रूप मे कला की भावधारा व्यक्ति-व्यक्ति के अन्तस् का विषय

बनी। लोक-चेतना को उत्प्रेरित कर एक ओर उसने परम्परागत मर्यादा की रक्षा की और दूसरी ओर नयी मान्यताओं को स्थापित कर जीवन को नयी दिशाएँ प्रदान की।

भारतीय कला के उदय और उन्नयन का इतिहास बहुत प्राचीन एवं वृहत् है। कला के सभी रूपों के दर्शन हमें वैदिक ऋचाओं में होते हैं। उन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने कला को इस विराट् ब्रह्माण्ड की अन्तश्चेतना के रूप में देखा और लोक-सामान्य को उसकी अनुभूति का मार्ग बताया। सरल, भावुक और प्रकृति के अनुरागी वैदिक युगीन लोक-जीवन में कलाप्रेम के अनेक उदाहरण वैदिक ऋचाओं में देखने को मिलते हैं। नृत्य, गीत, वाद्य, कविता, नाटक, कहानी, क्रीडाएँ और विविध मनोरंजन की सामग्री संहिताओं में बिखरी हुई है, जो तत्कालीन समाज की कलाभिरुचि की सूचक है।

वैदिक युग वस्तुतः धर्म, कला और साहित्य का संगम था। धर्माचरण उस युग का जीवन था, साहित्य चिन्तन प्रकृत व्यसन और कला उसके सुसंस्कृत जीवन की अपरिहार्य संगिनी। कला के प्रति स्वाभाविक अभिरुचि तत्कालीन समाज के सौन्दर्य प्रेम की द्योतक थी। आगे चल कर शिशुनाग, मौर्य और गुप्त युगों के समय कला की जो महान् समृद्धि देखने को मिलती है, उसकी प्रेरणा और प्रोत्साहन का आधार यही युग रहा है। इन प्राचीन राजकुलों के पोषण-संरक्षण में कला की यह परम्परा निरन्तर उन्नत होकर आगे बढ़ती गयी।

राजकुलों द्वारा संरक्षित और समाज द्वारा समादृत यह कला-थाती साहित्य की भी प्रेरणा का केन्द्र बनी और धर्म के क्षेत्र में भी उसका प्रभाव परिलक्षित हुआ। रामायण, महाभारत और परवर्ती पुराण ग्रन्थों में एवं तत्कालीन जन-जीवन में कला का आदर-सम्मान तथा प्रचार-प्रसार निरन्तर बढ़ता गया। वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्मों के साहित्य में उसको व्यापक रूप में स्थान मिला और धार्मिक पन्थों का प्रतीक बन कर द्वीपान्तरों में उसका प्रचार-प्रसार हुआ। इस प्रकार धर्म और साहित्य, दोनों को उसने प्रभावित किया।

साहित्य और समाज में कला के व्यापक अनुराग के कारण जहाँ उसका क्षेत्र निरन्तर बढ़ता गया, वहीं उसमें कुछ विकार और सस्तेपन का भी समावेश होने लगा। मध्ययुगीन भारत में एक ओर जहाँ कला पर स्वतन्त्र लक्षण ग्रन्थों की रचना होकर उसका शास्त्रीय विवेचन हुआ, वहीं दूसरी ओर चमत्कार, चतुराई एवं अनूठे ढंग पर कही गयी प्रत्येक बात को कला नाम दिया जाने लगा। कलारसिक जिस ग्रन्थकार को जो भी बात विशिष्ट या अनहोनी प्रतीत हुई, उसी को उसने अपनी सूची में टाँक दिया। फलस्वरूप व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, आयुर्वेद, राजनीति, काव्य, नाटक, आख्यायिका, आख्यान और समस्यापूर्ति एवं प्रहेलिका से लेकर उछलना, कूदना, रंगबाजी, सेज बिछाना, तलवार चलाना, घुड़सवारी करना, यहाँ तक कि बटेर लड़ाना, तोता-मैना पढ़ाना तथा जुआ खेलना आदि अन्यान्य विषयों को कला के अन्तर्गत परिगणित किया जाने लगा। इन कलाविधानों को देख कर वस्तुतः यह कहना कठिन है कि कला के रसिक उस समाज ने ऐसे किस विषय को अछूता रखा, जिसे कला के अन्तर्गत न माना हो।

कला के प्रति मध्ययुगीन साहित्य और समाज मे इस धारणा के दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह कि तत्कालीन साहित्य-निर्माताओ और समाज ने कला को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया कि उसके अन्तर्गत सभी विद्याएँ एव शास्त्र परिगणित कर दिये गये। दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि कला को इतने सस्ते रूप मे ग्रहण किया गया कि उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही न रह जाय। कौशल, चतुराई और वाग्जाल मात्र उसका ध्येय माना गया।

कला की यह स्थिति भी अपने निर्माताओ के साथ ही समाप्त हो गयी। जो स्थायी है सार्वजनीन, सार्वकालिक और अविनश्वर है, वह तब भी था और अब भी है। साहित्य की भाँति कला पर भी युगो की छाप हो सकती है, किन्तु उसकी गति कही पर अवरुद्ध हो गयी हो, ऐसा देखने को नही मिलता है। कला की यह अविरत धारा सर्वत्र, सभी युगो एव परिस्थितियो मे लोकचेतना को प्रभावित करती रही और उसकी भावनाओं तथा आस्थाओं का प्रतीक बन कर सदा उसी म सम्बन्ध बनाये रही। उसने व्यक्ति के लिए, समाज के लिए और विश्व-मानवता के लिए ऐसा विशाल मच तैयार किया, जिसके सत्य, शिव और सुन्दर तीन स्तम्भ है। इस धरातल पर, इस मच पर पहुँच कर कोई भी कलाकार सभी प्रकार के व्यामोहो से सर्वथा असम्पृक्त होकर जिस कलाकृति का निर्माण करता है, उसका त्रयकालिक एव सार्वजनीन महत्व होता है। इसी व्यष्टि-रचना मे समष्टि-चेतना के दर्शन होने लगते हैं। कला के निर्माण और कलाकार की साधना का यही प्रमुख लक्ष्य रहा है।

●

प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कला मण्डपों में अभिनयकला

साहित्य के क्षेत्र में अभिनयकला की जो व्यापकता और लोकप्रियता रही है, कला के क्षेत्र में भी उसके प्रभाव एवं प्रचार-प्रसार का स्वरूप बहुत विस्तृत रहा है। भारतीय साहित्यकारों और कलाकारों ने अपनी कृतियों में समान रूप से उसके अस्तित्व को स्वीकार किया। अभिनयकला का यह अस्तित्व हमें प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक, दोनों युगों की सामग्री में देखने को मिलता है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए कला-मण्डपों, मन्दिरों, मूर्तियों और चित्रों में सर्वत्र उसके व्यापक प्रभाव के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त सिक्कों, अभिलेखों और प्रशस्तियों में भी उसके अस्तित्व के बीज बिखरे हुए हैं। अभिनयकला की यह पुरातन एवं व्यापक थाती अतीत भारत की कला-समृद्धि का गौरवशाली इतिहास प्रस्तुत करती है।

प्रागैतिहासिक अवशेष

कला की कहानी मानव जीवन के इतिहास के साथ ही आरम्भ हुई। मनुष्य की उदय वेला के साथ ही उसका भी उदय हुआ और जैसे-जैसे मनुष्य ने अपना विकास किया, वैसे-वैसे कला का क्षेत्र भी बढ़ा। मनुष्य ने धीरे धीरे सभ्यता के क्षेत्र में जो प्रगति की, कला के ये अवशेष उसी के साक्षी हैं। वस्तुतः कला के विकास की यह कहानी प्रकारान्तर से मनुष्य के विकास की कहानी है।

प्रागैतिहासिक युग की गुफाओं और चट्टानों में उत्खनित जो कला-सामग्री पुरातत्वज्ञ विद्वानों को प्राप्त हुई है, उसका परीक्षण करके असन्दिग्ध रूप से यह प्रमाणित हो चुका है कि ललित कलाओं में मनुष्य की आरम्भ से ही अभिरुचि थी। यह उपलब्ध सामग्री अनेक स्थानों से कई रूपों में प्राप्त हुई है। उसको देख कर यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन जन-जीवन बड़ा कलाप्रेमी, उल्लासप्रिय और रंगीन था।

भारत में अब तक जितने भी प्रागैतिहासिक स्थानों का उत्खनन हुआ है, उनमें मोहनजोदारो और हड़प्पा का नाम प्रमुख है। इन दोनों प्रागैतिहासिक महत्व के स्थानों से अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है। इस सामग्री की समीक्षा करने पर विद्वानों ने तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति की बहुत-सी बातों का पता लगाया है। इस सामग्री में जो कला-वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें मृत्तिका और धातु की कुछ मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं। इन कांस्य-मूर्तियों में एक मूर्ति ऐसी है, जिसमें नृत्य करती तन्वंगी युवती अंकित है। इस

तन्वंगी नर्तकी की समीक्षा करने वाले विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि प्रागैतिहासिक मानव ललित कलाओं के प्रति बड़ा अनुरागी था और नृत्यकला के क्षेत्र में उसकी अभिरुचि बड़ी परिष्कृत हो चुकी थी।

मोहनजोदारो की यह नृत्यांगना भारतीय कला-इतिहास की प्रथम मूल्यवान् उपलब्धि है, जो कि सम्प्रति नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में रखी हुई है। गले में हँसुली और बायें हाथ की कलाई पर बाजुओं तक चूड़ियाँ पहने यह अनावृत नर्तकी अपनी कमर पर एक हाथ टिकाये ऐसी मुद्रा में खड़ी है, मानो अभी थिरक उठेगी। इस कला कृति के आंगिक अनुपात में भले ही तारतम्य न हो, किन्तु उसमें एक ऐसी लय, गति एवं भंगिमा है, जो दर्शक को बरबस आकर्षित करती है।

इसी प्रकार लोथल (सूरत के निकट), मिर्जापुर, पटना, काठियावाड़, उदयगिरि और महाबलीपुरम् आदि प्रागैतिहासिक महत्व के केन्द्रों से उत्खनन में प्राप्त कला-सामग्री का नाम उल्लेखनीय है। इस सामग्री में जो कला-वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें नाट्य एवं अभिनय से सम्बद्ध वस्तुओं का भी समावेश है। उनको देख कर सहज ही यह जानने को मिलता है कि भारत में नृत्यकला के प्रति बहुत पहले गहन अभिरुचि थी। उपलब्ध नृत्य मुद्राओं को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी विशेष व्यावहारिक प्रयोजन के लिए भी उनका उपयोग होता था। यह इसलिए भी युक्ति-संगत जान पड़ता है कि नृत्य-संकेतों द्वारा भाव एवं आशय के प्रकाशन की यही प्रवृत्ति उन विविध नृत्यों में भी प्रदर्शित है, जो आदिम मानव सभ्यता के परिचायक हैं।

आंगिक संकेतों द्वारा भावाभिव्यंजन की यह प्रवृत्ति नृत्य मुद्राओं के अतिरिक्त चित्रकला में भी देखने को मिलती है। अभिनय मुद्राएँ, जो सार्वभौमिक भाव-भूमि पर आधारित हैं, परम्परा से प्रयुक्त मनुष्य के भावाभिव्यंजन के प्रमुख साधनों के रूप में उपयोग में लायी जाती रही हैं।

नृत्य-संगीत के पुराकालीन अस्तित्व के सूचक उपकरण समय-समय पर विभिन्न पुरातत्त्व खोजों में प्राप्त होते रहे हैं। पाटलिपुत्र, तक्षशिला से प्राप्त सामग्री में, कौशाम्बी के भग्नावशेषों में और कला-संग्रहालयों में सुरक्षित सामग्री में इस प्रकार के अनेक प्रमाण सुरक्षित हैं। यह सामग्री इतनी प्रचुर और प्रामाणिक है कि उसके आधार पर कला-इतिहास की विलुप्त कड़ियों को क्रमबद्ध रूप में ग्रथित किया जा सकता है।

ऐतिहासिक

प्रागैतिहासिक युग की कलाभिरुचि के परिचायक जो प्रमाण उपलब्ध हैं, यद्यपि वे पर्याप्त नहीं हैं, फिर भी उनके आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि कला इस देश के जन-जीवन का अभिन्न अंग थी। इस कला थाती का विकसित, परिष्कृत एवं उन्नत रूप हमें ऐतिहासिक युग की उपलब्ध सामग्री में देखने को मिलता है। इस सन्दर्भ में पहले उस सामग्री का उल्लेख किया जा रहा है, जो कला-मण्डित गुफाओं, अभिलेखों और सिक्कों में सुरक्षित है।

प्राचीन भारत में नृत्यकला के अस्तित्व एवं प्रचार प्रसार की परिचायिका सामग्री में नाट्यशालाओं का नाम प्रमुख है। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में इन नाट्यशालाओं के रूप, प्रकार और प्रमाण आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलते हैं। साहित्य में सुरक्षित इस सामग्री का यथास्थान विस्तार

से विवेचन किया गया है। दूसरे प्रकार के साधन वे कला-मण्डप हैं, जो कि देश के विभिन्न छोरो मे वर्तमान हैं और जिनमे प्राचीन भारत की कला-समृद्धि का इतिहास जीवित है। इस प्रकार के जो कला मण्डप अब तक सुरक्षित रह पाये हैं, उन पर उत्कीर्णित अभिलेखो, उन पर अकित चित्रो और अभिनय के लिए बनायी गयी नाट्यशालाओ को देख कर यह ज्ञात होता है कि भारत मे नृत्यकला की अपनी उन्नत परम्परा थी।

इस प्रकार के कला मण्डपो मे सीतावेंगा और जोगीमारा की गुफाओ का नाम प्रमुख है। इन गुफाओ मे उपलब्ध अभिलेखो के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि उनका निर्माण ३०० ई० पूर्व या इसके आस-पास हुआ था। ये गुफाएँ सरगुजा रियासत की पहाडियो पर बनी है। इन गुफाओ मे जो शिलावेश्म बना हुआ है, उसको देख कर विद्वानों की धारणा है कि वह प्रेक्षागार था।

सीतावेंगा और जोगीमारा के अतिरिक्त कटक (उडीसा) के समीप उदयगिरि या खण्डगिरि की गुफाओ का निर्माण काल २०० ई० पूर्व माना जाता है। वहाँ की हाथीगुम्फा या रानीगुम्फा के प्रकोष्ठ मे बने एक भित्तिचित्र मे नृत्य-सगीत-रत स्त्री का सुन्दर चित्र बना हुआ है। इस चित्र मे सयुत हस्त मुद्रा की मार्दवता दर्शनीय है। खारवेल की हाथीगुम्फा प्रशस्ति मे राज्य तिलक के तीसरे वर्ष जनता द्वारा नृत्य-सगीत और वाद्य के साथ वृहद् उत्सव मनाये जाने का उल्लेख किया गया है (ततिय वसे गधव वेद बुधो दप नत गीत वादित सदसनाहि उसव समाज कारापनाहि च क्रीडापयति)।

दक्षिण भारत मे अमरावती (२री श० ई०) की प्रसिद्ध कला-कृतियो मे नृत्य-वाद्य-रत अप्सराओ का अकन दर्शनीय है। बोधिसत्व के समक्ष तुषित स्वर्ग मे अप्सराएँ नृत्य करती हुई दिखायी गयी है, जो बोधिसत्व को ससार मे अवतरित होने के लिए प्रार्थना कर रही हैं।

इसी प्रकार अजन्ता, बाघ, सित्तनवासल, एलोरा, एलीफेंटा और बादामी आदि की गुफाओ मे बने चित्रा तथा मूर्तियो मे अभिनयकला की समृद्धि देखने को मिलती है। उनम नृत्य करती स्त्रियाँ विभिन्न मुद्राएँ धारण किये हुए हैं। ये मुद्राएँ शास्त्रीय दृष्टि से बनायी गयी है।

नृत्य और सगीत के अधिष्ठाता गन्धर्वो और अप्सराओ का भारतीय साहित्य मे व्यापक रूप से उल्लेख देखने को मिलता है। साहित्य मे उनके जो शब्दचित्र उतारे गये हैं, कलाकारो ने उनको मूर्तियो और चित्रो मे रूपायित किया है। अजन्ता की चित्रावली मे नृत्य सगीत-रत राक्षस, किन्नर, नाग, यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओ का सजीव चित्रण देखने को मिलता है। अभय, वरद और वितर्क की विभिन्न मुद्राओ मे अकित भगवान् बुद्ध कला-जिज्ञासुओ के आकर्षण केन्द्र रहे हैं।

भावनाओ, विचारो और विषयवस्तु की अभिव्यक्ति के लिए अजन्ता की चित्रावली मे जिन उपादानो का आश्रय लिया गया है, उनमे हस्तमुद्राओ का विशेष महत्व है। मुख की भगिमाएँ और नेत्रो के कटाक्ष, हस्तमुद्राओ के अभिप्रायो को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने मे सफल सिद्ध हुए हैं। हस्तमुद्राओ को प्रदर्शित करने मे कलाकार की शास्त्रीय दृष्टि रही है। नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण के विनियोगो को अजन्ता की चित्रावली मे बडे कौशल एव सजगता से दर्शाया गया है। उनमे गति, स्थिरता और अद्भुत आकर्षण है।

दक्षिण में तंजोर के निकट बनी सित्तनवासल की प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण महेन्द्र वर्मा प्रथम (६२५ ई०) के राज्यकाल में हुआ था। राजा महेन्द्र वर्मा कवियों और कलाकारों के बड़े आश्रयदाता रहे हैं। सित्तनवासल के गुफा चित्रों में दिव्य नायिका विद्याधरियों को मेघों के बीच नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है। ये चित्र कलाकारों की अभिनय रुचि और लोकप्रियता के परिचायक हैं। इसी प्रकार मेघों के बीच उड़ते हुए एवं नृत्य करते गन्धर्वों तथा अप्सराओं का चित्रण एलोरा की कला में भी देखने को मिलता है, जिनका निर्माण ८वीं से १०वीं शताब्दी ई० के बीच हुआ।

चित्रकला और मूर्तिकला में गन्धर्वों तथा अप्सराओं को प्राय उड़ते हुए दिखाया गया है। देवताओं से उनकी भिन्नता दर्शित करने के लिए उन्हें देवताओं के पार्श्व में खड़ा किया गया है। बाघ की गुफाओं में भी इस प्रकार की अप्सराओं-देवताओं का चित्रण हुआ है। सौंदर्य-प्रसाधनों से अलंकृत होकर नर्तक-नर्तकियाँ सामूहिक रूप में नृत्य करते हुए दिखाये गये हैं। शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार के गोलाकार नृत्य को हल्लीस नाम से कहा गया है।

सामान्यतः देश के विभिन्न अंचलों में और विशेष रूप से दक्षिण के मन्दिरों में देवमूर्तियों के सम्मुख नृत्य करती हुई देवदासियों का अंकन देखने को मिलता है। ये देवदासियाँ एकनिष्ठ आराधिका थी और भक्ति भाव में तल्लीन एवं विभोर होकर अपने आराध्य के सामने अपना सब कुछ निछावर कर देती थीं। आज भी मन्दिरों की सेविकाओं के रूप में देवदासी प्रथा प्रचलित है, किन्तु अब उनकी वह स्थिति नहीं रह गयी है। पुराणों में जिन देव लोक की नृत्यांगनाओं (अप्सराओं) का उल्लेख हुआ है, उन्हीं की परम्परा में देवदासी प्रथा का प्रचलन हुआ।

ऐतिहासिक सामग्री में अभिनयकला के प्राचीन अस्तित्व को सूचित करने में सिक्कों और अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन शासकों और युगों में अभिनयकला की लोकप्रियता की सूचक यह सामग्री प्रचुर रूप में उपलब्ध है। मौर्य युग से हम इस प्रकार की सामग्री को उद्धृत कर सकते हैं।

सम्राट् अशोक (२७७-२३६ ई० पूर्व) के अभिलेखों में उस समाज की निन्दा की गयी है, जो नृत्य-संगीत पूर्ण वैभवशाली जीवन व्यतीत करता हो (न च समाजो कतव्यो, बहुक हि दोस समाजम्हि)। मौर्य युग और उसके बाद के जो कलात्मक उदाहरण देखने को मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि जनता संगीत-नृत्य के प्रति अभिरुचि रखती थी, किन्तु राजा के भय से उसको प्रकट करने में असमर्थ थी। भरहुत (२०० ई० पूर्व) के स्तम्भ पर उत्कीर्णित नृत्य-संगीत रत अप्सराएँ इसका प्रमाण हैं। भरहुत वेदिका पर अंकित नृत्य करती और वाद्य बजाती अप्सराओं की मनोरम छवियाँ उस युग की अभिनयप्रियता के पुष्ट उदाहरण हैं।

कला के प्रति सम्राट् अशोक का जो दृष्टिकोण था, बाद के शासक उससे सहमत नहीं रहे। इसलिए उन्होंने नृत्य, गीत, संगीत, मूर्ति और चित्र आदि कलाओं को प्रश्रय दिया। भरहुत वेदिका के अतिरिक्त दक्षिण भारत की अमरावती (२री० श० ई०) कला के उत्कीर्णन और उसके बाद गुप्त युग के अभिलेखा-भिलेखों में परवर्ती शासकों की कलाप्रियता के प्रचुर उदाहरण देखने को मिलते हैं।

महाराज समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) की प्रयाग प्रशस्ति से उनकी संगीतप्रियता का पता चलता है। वीणावादन में इन्हें मुनिश्रेष्ठ नारद तथा तुम्बुरु से भी दक्ष बताया गया है (गन्धर्वललितैर्व्रडित त्रिदशपति-गुरु-तुम्बुरु-नारदादेः)। इसकी पुष्टि उन सिक्कों से होती है, जिन पर वीणा की छवि के साथ उनका नाम भी खुदा हुआ है। उनमें एक सिक्के पर उनके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१४ ई०) को सिंहासन पर बैठ कर नाटक देखते हुए अंकित किया गया है। इन अंकनों से स्पष्ट रूप से यह जानने को मिलता है कि महाराज समुद्रगुप्त और महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय को संगीत नाट्य कलाओं के प्रति अतिशय अनुराग था और वे उसके संवर्धन, पोषण एवं प्रचार-प्रसार के लिए सचेष्ट रहे।

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोदों के सन्दर्भ में अभिलेख-सामग्री के द्वारा इस आशय के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि उस समय विजययात्रा, रथयात्रा या देवयात्रा के अवसर पर संगीत-नृत्य के वृहद् आयोजन हुआ करते थे। जन-सामान्य द्वारा उनकी सामूहिक प्रतियोगिताएँ होती थी। विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व युवक-युवती को संगीत-नाट्य कलाओं में अभिज्ञता प्रमाणित करनी होती थी।

देवपारा से उपलब्ध एक अभिलेख (६०० ई०) में ऐसे नट-मण्डप का उल्लेख हुआ है, जिसमें संगीत-नृत्य का आयोजन हुआ करता था। यह नट-मण्डप वस्तुतः एक व्यवस्थित नाट्यशाला रही होगी, क्योंकि प्राचीन भारत में इस प्रकार की नाट्यशालाओं के अस्तित्व के उल्लेख व्यापक रूप में देखने को मिलते हैं। देव मन्दिरों और कला-मण्डपों में नाट्यशालाओं के निर्माण की परम्परा बहुत पुरानी है। उक्त अभिलेख में इसी प्रकार के नट-मण्डप का उल्लेख किया गया है। देवपारा में उपलब्ध एक अभिलेख में मन्दिर गणिकाओं का उल्लेख हुआ है, जो कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उन्मुक्त भाव से नृत्य करती हुई वर्णित हैं।

इसी प्रकार तेजपुर में उपलब्ध ताम्रपत्र के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि नर्तकियाँ सुन्दर वस्त्र पहने राज-धज कर नृत्य करती थीं। चाहमान (११वीं श० ई०) लेखों में वाद्य-नृत्य-गान से युक्त समारोह का उल्लेख किया गया है। उस समय रथयात्रा या देवयात्रा के जुलूसों में इस प्रकार के आयोजन हुआ करते थे।

इस प्रकार प्रागैतिहासिक सामग्री में और ऐतिहासिक कला-मण्डपों, देव मन्दिरों, सिक्कों और अभिलेखों में अभिनय कला के अस्तित्व के प्रचुर प्रमाण सुरक्षित हैं। इस सामग्री के अध्ययन से कला शिल्पियों और सामान्य जन-जीवन में अभिनयकला की लोकप्रियता का पता चलता है। देव मन्दिरों में स्थापित नृत्त मूर्तियों में अभिनयकला की जो समृद्ध थाती सुरक्षित है, उसका विवेचन आगे किया गया है।

●

नृत्त-मूर्तियों में अभिनयकला

संस्कृत साहित्य के शिल्प-विषयक ग्रन्थों में मूर्तियों के प्रमाणभेद और रूप-आकार-विविधा पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस सन्दर्भ में नृत्त-मूर्तियों की विधियों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। यह प्रतिमा-निर्माण-शास्त्र प्राचीन भारत के कलाचार्यों एवं शिल्पियों की विचारणा का प्रमुख विषय रहा है।

शास्त्र-ग्रन्थों में नृत्त-मूर्तियों के नानाविध हस्तभेदों का निरूपण देखने को मिलता है, जैसे दण्डहस्त, गजहस्त, करिहस्त, पद्महस्त और पद्मपाणि आदि। हस्तभेदों के ये नाम विशेष विशेष क्रियाओं एवं मुद्राओं के कारण अभिहित हुए। विभिन्न भावों को प्रदर्शित करने के लिए मूर्तिकला में भिन्न भिन्न मुद्राओं के रूप देखने को मिलते हैं, जैसे योग मुद्रा, अभय मुद्रा, वरद मुद्रा, सूची मुद्रा, ध्यान मुद्रा, ज्ञान मुद्रा, धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा और भूमिस्पर्श मुद्रा आदि।

विभिन्न आंगिक मुद्राओं द्वारा भावाभिव्यंजन की विशद व्याख्या इन नृत्त-मूर्तियों में देखने को मिलती है। शिल्पशास्त्र और नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों में नृत्य की जितनी मुद्राओं के लक्षण बताये गये हैं, उन सबका चित्रण इन मूर्तियों में देखने को मिलता है। कुछ नृत्त-मूर्तियाँ ऐसी भी उपलब्ध हुई हैं, जिनकी मुद्राओं का समाधान शास्त्र ग्रन्थों से नहीं होता। ये मुद्राएँ शिल्पियों ने लोक-परम्परा से ग्रहण कीं।

नृत्त-मूर्तियों के निर्माता शिल्पियों ने भावों की अभिव्यक्ति के लिए विशेष रूप से भंगिमा का आश्रय लिया है। जिस साधन या माध्यम द्वारा स्वभाव एवं मनोभाव की व्यंग्यात्मक प्रक्रिया प्रकट की जाती है, उसी का नाम भंगिमा है। भंगिमा की इस महत्वपूर्ण विधा के कारण नृत्त-मूर्तियों के अनेक भेद किये जा सकते हैं, जैसे समभंग, अभंग, त्रिभंग और अतिभंग। कला के क्षेत्र में भंगिमा की यह विधा कलाकार की विदग्धता का मानदण्ड मानी गयी है। इसीलिए उसे कला के षडंगों में स्थान दिया गया।

नृत्त मूर्तियों में उनके निर्माता शिल्पियों ने अनेक प्रकार के आसनों की योजना की है। ये आसन शास्त्रीय ग्रन्थों में दिये गये हैं। इस प्रकार के कुछ आसनों के नाम हैं चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिक आसन, भद्रासन, सिंहासन और गोमुख आसन आदि। उनमें जो भाव ग्रथित हैं, ये आसन उसके प्रतीक हैं।

अभिनयकला में इस प्रकार के प्रतीकों का बड़ा महत्व माना गया है। अभिप्रेत विषय को प्रतीकों या संकेतों के द्वारा अभिव्यक्त करना ही अभिनय का उद्देश्य है। नृत्त मूर्तियों में इन प्रतीकों को बड़े कौशल

से दर्शाया गया है। विष्णु के लिए शख-चक्र गदा पद्म, कामदेव के लिए धनुष बाण, इन्द्र के लिए अकुश-ध्वज, बलराम के लिए हल मूसल, शिव के लिए त्रिशूल-डमरू, परशुराम के लिए परशु-धनुष, सरस्वती के लिए वीणा-पुस्तक, ब्रह्मा के लिए कमण्डलु-स्रुवा-पद्म, लक्ष्मी के लिए कमल-पुष्प और कृष्ण के लिए मुरली के प्रतीक दिये गये है।

भारत मे नृत्त-मूर्तियो की परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन और वृहद् है। मोहनजोदारो की नृत्यागना प्रथम उपलब्धि है, जो कि इस महान् राष्ट्र की कला परम्परा की गौरवशाली एव सहजनीय थाती है। यह थाती कला कृतियो और साहित्यिक सन्दर्भों के रूप मे निरन्तर आगे बढती गयी। रामायण और महाभारत, जो कि सस्कृत के महाकाव्यो और पुराणो के प्रेरणास्रोत है और जिनका निर्माण काल ५०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है, कला के परम्परागत सन्दर्भो को भी सूचित करते है। रामायण मे माता जानकी की स्वर्णमयी प्रतिमा बनवाने का उल्लेख है। इसी प्रकार महाभारत मे भी महाबली भीम की मनुष्याकार धातु प्रतिमा निर्मित कराये जाने का निर्देश है। इसी प्रकार जैन ग्रन्थो और बौद्ध ग्रन्थो मे नृत्त-मूर्तियो की निर्माण विधियो का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक स्थानो के उत्खनन तथा देश के विभिन्न अचलो मे प्रतिष्ठित प्राचीन मन्दिरो म देवी देवताओ की बहुसख्यक नृत्त-मूर्तियाँ देखने को मिलती है। विभिन्न नृत्य मुद्राओ को धारण किये ये देव मूर्तियाँ उपासना, आराधना और भक्ति-भावना की प्रतीक है। उपासना एव आराधना के अनेक रूपो को आधार बना कर इन मूर्तियो का निर्माण हुआ। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनमे दिगम्बर एव भयावह रूप धारण किये हुए महाशक्ति काली, शिव के ऊपर नृत्य करती हुई दिखायी गयी है। काली के उपासक इस भाव की मूर्ति को अपनी उपासना की अधिष्ठातृ देवी मानते हैं।

नटराज भगवान् शकर की नृत्त-मूर्तियो की भाँति नटवर श्रीकृष्ण की विविध भाव मुद्राओ का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्य रूप से सारे देश मे और विशेष रूप से ब्रज-भूमि मे श्रीकृष्ण और उनकी सतत सहयोगिनी गोपिकाओ की रास मण्डित छवियो मे नृत्य का समृद्ध रूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार गणेश, इन्द्र, विष्णु, सरस्वती आदि देवी-देवताओ की नृत्त-मूर्तियाँ कला-इतिहास की सहजनीय थाती हैं।

भारत धर्मप्राण देश है। भारत भूमि के पग-पग पर प्रतिष्ठित देव मन्दिर, उसकी धार्मिक अन्तश्चेतना के जीवित प्रतीक हैं। इन मन्दिरों का महत्व न केवल धार्मिक प्रतिष्ठाना के रूप मे, अपितु कला-प्रतिष्ठाना के रूप मे भी विश्रुत रहा है। वे सास्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विचार विनिमय के भी केन्द्र रहे हैं। प्राचीन भारत के वे विद्या-केन्द्र एव प्रकार से सभागृह थे और उनमें सगीत-नाट्य का भी आयोजन हुआ करता था। वे शास्त्रार्थ, वाद-विवाद और विद्वत्ता के भी प्रतिष्ठान थे। उनमे सुरक्षित लेख-अभिलेख और कला सामग्री इतिहास की महत्वपूर्ण धरोहर है।

धार्मिक अन्तश्चेतना के प्रतीक इन मन्दिरो को भव्य कलाकृति के रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय भारत के प्राचीन राजवशो को है। इन प्राचीन राजवशो मे शिशुनाग और नन्द युगो (७२५-३२५ ई० पूर्व) का विशेष महत्व माना जाता है। इन दोना राजवशो के समय निर्मित यक्ष-यक्षिणियो की आदमकद विशाल

प्रतिमाएँ भारतीय मूर्तिकला के इतिहास की सबसे प्राचीन उपलब्धियाँ हैं। इन प्रतिमाओं में दर्शित भाव-मुद्राएँ अभिनयकला की प्राचीनता एवं लोकप्रियता के उज्ज्वल प्रमाण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन शिल्पियों ने इनको निर्मित किया, वे अभिनयकला के विशेष जानकार थे। उसके बाद सम्राट् अशोक के समय (३०० ई० पूर्व के लगभग) बनी यक्ष-यक्षिणियों की बहुसंख्यक प्रतिमाएँ मूर्तिकला के इतिहास की समृद्ध परम्परा को सूचित करती हैं। मौर्ययुग की बनी भगवान् बुद्ध की जीवनी से सम्बद्ध प्रतिमाओं का विशेष महत्व है, जिनमें मुद्राओं के द्वारा भावांकन की विलक्षणता दर्शनीय है और जिसकी उन्नत थाती भरहुत, साँची तथा बोध गया आदि के मूर्ति शिल्प में उभर कर सामने आयी है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में गान्धार कला का उदय हुआ, जिसका प्रसार चौथी शताब्दी तक चलता रहा। गान्धार शैली की इन बहुसंख्यक कला-कृतियों में भाव-भंगी का अनोखा अंकन देखने को मिलता है। गान्धार शैली का प्रभाव मथुरा शैली के रूप में अधिक निखर कर सामने आया, जिसका समय ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी है। मथुरा शैली की यक्ष-यक्षिणियों की प्रतिमाओं में जो भाव-भंगिमाएँ दर्शित हैं, उनमें अभिनयकला का मूर्त रूप देखने को मिलता है। इन कला-कृतियों में लोक-जीवन का सजीव चित्रण हुआ है और इसीलिए कला के इतिहास पर उनकी अमिट छाप अंकित है।

गान्धार और मथुरा शिल्प-शैलियों के समय ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग दक्षिण भारत के सातवाहन राजाओं के संरक्षण में साहित्य के साथ-साथ एक नयी कला-शैली का जन्म हुआ, जिसका उदयकाल २री शताब्दी ई० माना जाता है और जो कि अमरावती कला के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें साँची के शिल्प का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। भक्ति और उपासना की विविध भाव-भंगिमाओं से अलंकृत अमरावती की मूर्तियों में अपार शोभा के दर्शन होते हैं। उनमें दर्शित लावण्यमयी नारी मूर्तियों की हस्त-मुद्राएँ तथा मुख-चेष्टाएँ बहुत ही आकर्षक एवं दर्शनीय हैं।

कला की यह परम्परागत थाती गुप्त, वाकाटक, चालुक्य, पल्लव और चोल राजवंशों के समय विशेष रूप में फूली फली और विकसित हुई। गुप्तयुग भारतीय कला का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग में कला के सभी अंगों का विकास हुआ। मथुरा और सारनाथ उसके प्रमुख केन्द्र थे। इन दोनों में जातक कथाओं के आधार पर बनी बोधिसत्त्व, अवलोकितेश्वर और मैत्रेय की भव्य मूर्तियाँ, विशेष रूप से अभय मुद्रा धारण किये भगवान् तथागत की प्रतिमाएँ भारतीय कलाकारों की गहन साधना को प्रकट करती हैं। गुप्त-युग में निर्मित शिव, गणेश, त्रिमूर्ति और विष्णु, दुर्गा, लक्ष्मी तथा सरस्वती आदि देवी-देवताओं की प्रस्तर मूर्तियाँ और उनमें दर्शित भाव-भंगिमाएँ एवं मुद्राएँ अभिनयकला की गौरवशाली परम्परा को प्रकट करती हैं।

बौद्ध आदर्शों की ही भाँति जैन आदर्शों पर भी भव्य एवं विशाल नृत्त मूर्तियों का व्यापक रूप में निर्माण हुआ। अभय और वरद की मुद्राएँ धारण किये जैन प्रतिमाएँ अपने निर्माता कलाकारों की यशस्वी कथा को आज भी अमर बनाये हैं। जैन मूर्तियों की पीठिका तथा आसनों पर अंकित नर्तकियों के अंकन अभिनय कला की लोकप्रियता की सूचना देते हैं। अम्बिका देवी की प्रतिमाओं के निर्माण में प्रायः इस प्रकार की

नृत्त-मूर्तियो का स्वरूप देखने को मिलता है। आशाधर के प्रतिष्ठासार मे अम्बिका देवी की स्तुति के परिचायक इस श्लोक मे अभिनय की विशेष मुद्रा धारण किये हुए उनकी वन्दना की गयी है :

> सव्यैकव्युपगप्रियकरसुतप्रीत्यै करे बिभ्रतीं।
> दिव्याभ्रस्तवक शुभकरकरश्लिष्टान्यहस्ताङ्गुलिम्॥

जैन कलाकारो ने प्रतिमाशास्त्र के विधि-विधानो पर कलात्मक मन्दिरो और प्रतिमाओ का निर्माण कर कला के इतिहास को समृद्ध किया। मूर्तियो और चित्रो मे अभिनयकला की विशेष मुद्राओ को दर्शित कर के उन्होंने लोक-मानस की अभीप्साओं को पूरा करने मे महत्वपूर्ण योग दिया।

नटराज की नृत्त-मूर्तियो के निर्माण मे दक्षिण के राजवशों का विशेष योगदान रहा। दक्षिण मे इस प्रकार की कांस्य और प्रस्तर प्रतिमाएँ व्यापक रूप मे बनी, जो कि आज न केवल भारतीय कला-सग्रहालयों, अपितु विदेशी कला-सग्रहालयों की भी शोभा बढा रही है। इस दिशा मे दक्षिण के चोल राजाओ (८००-१२०० ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके समय बने भव्य एव विशाल मन्दिर और उनमे स्थापित ताल-लय-बद्ध नटराज की प्रतिमाएँ सत्-चित्-आनन्द की प्रतीक और अपने निर्माता शिल्पियों के अद्भुत कौशल के अनुपम उदाहरण है।

चोल राजाओ के समय बनी लगभग २९४ कांस्य मूर्तियो का एक बृहद् सग्रह नागपट्टनम् से प्राप्त हुआ था, जो कि मद्रास सग्रहालय मे सुरक्षित है। यह नागपट्टनम् दक्षिण भारत के पूर्वीय सागर तट पर एक बन्दरगाह था, जिसका उल्लेख मानसोल्लास आदि ग्रन्थो मे देखने को मिलता है। इस सग्रह मे बुद्ध, मैत्रेय, अवलोकितेश्वर, मजुश्री और तारा की भव्य प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। इस युग मे निर्मित अनेक भव्य मूर्तियाँ मलाया, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपान्तरो तक गयी।

नटराज की नृत्त-मूर्तियो के निर्माण मे चोल राजाओ का शासन काल स्वर्ण युग के नाम से कहा जाता है। इस युग मे निर्मित चिदम्बरम् के मन्दिर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विशाल एव भव्य मन्दिर मे नटराज के १०८ नृत्यो का अकन किया गया है। चोलकालीन नटराज की नृत्त-मूर्तियों मे मद्रास सग्रहालय का सग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इस सग्रहालय मे सुरक्षित अधिकतर मूर्तियाँ चोल राज्यकाल ९वीं श० ई० की हैं। इसके अतिरिक्त तिरुवरगल से उपलब्ध और राष्ट्रीय सग्रहालय, नयी दिल्ली तथा प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई के सग्रहो मे सुरक्षित नटराज की नृत्त-मूर्तियो का नाम उल्लेखनीय है। इन सग्रहो की अधिकतर मूर्तियाँ १०वीं शताब्दी ई० की हैं। नटराज की नृत्त-मूर्तियाँ भारत के अतिरिक्त श्रीलका, एमस्टरडम, बेंकाक, पेरिस, बोस्टन, ब्रुकलेन और साउथ केंसिंगटन आदि विदेशी कला-प्रतिष्ठानो एव अन्यान्य व्यक्तिगत सग्रहो मे भी बहुत बडी सख्या मे सुरक्षित हैं। चोल राजाओं के सरक्षण मे नटराज के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओ की भी बहुसख्यक नृत्त-मूर्तियो का निर्माण हुआ।

चोलकालीन मूर्तिशिल्प का प्रभाव बाद मे विशेष रूप से दक्षिण भारत मे और सामान्य रूप से समस्त देश के कलाकारो पर परिलक्षित हुआ। लगभग १७वी श० ई० तक उसकी अटूट परम्परा बनी रही।

अभिनयकला के इतिहास मे नटराज की नृत्त-मूर्तियो मे नादन्त नृत्त-मूर्ति का विशेष महत्व माना जाता है। उसमे भगवान् नटराज को चतुर्भुज रूप मे अकित किया गया है। उनके इस रूप मे सृष्टि और सहार, दोनो के भाव दर्शित हैं। नटराज एक हाथ मे डमरू और दूसरे मे अग्निज्वाला धारण किये ए हैं। उनका तीसरा हाथ अभय मुद्रा और चौथा हाथ दण्डहस्त मुद्रा मे अवस्थित है। अपने पैरा के नीचे वे अज्ञान, अविद्या, दुष्प्रवृत्तियो, बाधाओ और अमगलो के प्रतीक अपस्मार राक्षस को दबाये हुए हैं। उनके मस्तिक से गगधारा और ल्लाट पर चन्द्र विराजमान है। जटाएँ हवा मे लहरा रही हैं। एक कान म नारी कुण्डल और दूसरे कान मे पुरुष कुण्डल हैं, जो कि अर्घ नारीश्वर स्वरूप के प्रतीक हैं।

नटराज की इस नादन्त नृत्त-मूर्ति का आधार एक पौराणिक आख्यान है। इस आख्यान के अनुसार एक बार विष्णु भगवान् सहित महायोगीश्वर शकर कुछ अभिमानी ऋपिया का दर्प चूर्ण करने के लिए वन मे गये। जाते ही विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर लिया, जिसको देख कर ऋपिया के मन म काम-विकार उत्पन हो गया। किन्तु जब उन्हे वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ तो वे भगवान् शकर पर बडे रुष्ट हुए। उन्होंने अपने तपोबल से एक सिंह उत्पन्न किया। वह ज्यो ही भगवान् शकर की ओर झपटा कि शकर ने उसकी छाती का भेदन कर उसकी चर्म निकाल ली और उसे अपने गले मे लपेट कर नृत्त करने लगे। ऋषियो ने अपनी मन्त्र शक्ति से सर्प उत्पन्न किये। शकर ने उनको भी गले मे धारण कर लिया और नाचने लगे। क्रुद्ध ऋपियो ने अन्त मे एक बौना राक्षस पैदा किया। उसका नाम अपस्मार था। वह आक्रमण के लिए शकर भगवान् की ओर झपटा। उसे भी उन्होंने अपने पैरो के नीचे दबोच लिया और पूर्ववत् नृत्तरत हो गये। ऋपियो के सभी उपाय पूरे हो गये। वे हार मान बैठे।

भगवान् शकर की इस लीला को देखने के लिए सब देवता एकत्र हुए। उनका यह नृत्त रूप सर्वथा अपूर्व और अद्भुत था। देवताओ ने नटराज से प्रार्थना की कि वे पुन एक बार उस नृत्त की आवृति करें। नटराज ने अपने नादन्त नृत्त की एक बार पुनरावृत्ति की। उसे देख कर देवगण बडे प्रसन्न हुए।

भगवान् नटराज की यह नादन्त नृत्त-मूर्ति सम्प्रति चिदम्बरम् (तिल्लई) के मन्दिर मे सुरक्षित है। जिस सभा मण्डप मे यह मूर्ति प्रतिष्ठित है, उसे चोल राजाओ ने स्वर्ण से मढवाया था।

एलोरा के प्रसिद्ध कला मण्डप मे भी नटराज की नादन्त नृत्त-मूर्ति है। एलोरा की कला मे ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, तीनो धर्मो का समन्वय दर्शित है। भगवान् शकर की यह नृत्त-मूर्ति अष्ट भुजयुक्त है। उनके एक हाथ मे डमरू है, दूसरा नाभि के निकट है, तीसरा परिधान से ढका हुआ वक्ष के पास अवस्थित है, चौथा कटि पर टिका है और पाँचवाँ ऊपर उठा हुआ है। शेष तीनो हाथ भग्न हो गये हैं। उनके मुख पर उल्लास और अधरो पर मुस्कान है। गले मे मुकुट जटित हार है। उनके निकट ही स्कन्द को अक मे लिए माता पार्वती खडी हैं। पार्षदा मे से एक वशी बजा रहा है और दूसरा मृदग। पास ही मे दो स्त्रियाँ वाद्य लिए खडी हैं।

नटराज की यह अष्टभुज मूर्ति भी नादन्त के नाम से कही जाती है। चिदम्बरम् की चतुर्भुज मूर्ति की भांति इसमें भी अविद्या के प्रतीक अपस्मार राक्षस को पैरों के नीचे दिखाया गया है।

एलोरा के अतिरिक्त नृत्त-मूर्तियों के निर्माण की यह परम्परा एलीफेंटा, मामल्लपुरम् और बादामी आदि के कला-मण्डपों के प्रस्तर शिल्प में भी देखने को मिलती है।

उत्तर-मध्यकाल (९००-१३०० ई०) में नृत्त मूर्तियों के निर्माण की यह परम्परा कोणार्क, भुवनेश्वरम् और खजुराहो के मूर्ति शिल्प में उभर कर सामने आयी। इन तीनों देवालयों में कला का कोई भी रूप अछूता नहीं रहा, जिसका अंकन वहां न हुआ हो। खजुराहो के मन्दिरों पर नृत्यरत अप्सराओं एवं गणिकाओं का अंकन भावाभिव्यंजन, कलात्मक सौष्ठव और सज्जा की दृष्टि से अपने-आप में अनुपम है। ये नृत्यरत सुन्दरियाँ अभिनयदर्पण में वर्णित मुद्राओं को धारण किये ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो अभी थिरक उठेंगी।

खजुराहो मूर्ति शिल्प की परम्परा में जमसोत (१२वीं श० ई०) के मूर्ति शिल्प का उल्लेखनीय स्थान है। कला के इतिहास में इस नयी उपलब्धि का श्रेय प्रयाग संग्रहालय को है। हाल ही में प्रयाग संग्रहालय ने भूमि गर्भ में छिपे एक ध्वस्त विशाल मन्दिर का जीर्णोद्धार कर वहाँ से सैकड़ों भव्य मूर्तियों को प्राप्त किया है। यह सारी कला थाती सम्प्रति प्रयाग संग्रहालय की सम्पत्ति बन गयी है। इन उपलब्ध मूर्तियों में खजुराहो की ही भांति अभिनय की विभिन्न भाव-मुद्राओं को धारण किये दिव्य अप्सराएँ और भव्य नारी छवियाँ देखने को मिलती हैं।

इस प्रकार प्रागैतिहासिक युग से लेकर लगभग १२वीं श० ई० तक मूर्तिकला के वृहत् इतिहास में नृत्त-मूर्तियों की निर्माण-परम्परा अटूट रूप में निरन्तर आगे बढ़ती रही। अतीत के अनेक युगों की कलाभिरुचि की वे अमर निधि हैं।

●

अभिनयकला में परम्परा और लोकरुचि

अभिनयकला मे परम्परा और लोकरुचि का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। कला के लक्षण ग्रन्थो मे शास्त्रीय विधि-विधानो के साथ ही लोक-रूढियो पर आधारित नियात्मक एव व्यावहारिक पक्ष को भी प्रमुखता दी गयी है। अभिनयकला या अन्य कलाओ के क्षेत्र मे ही नही, साहित्य मे भी लोक मान्यताओ को बडा महत्व दिया गया है। साहित्य के परिपोषण तथा सवर्द्धन के लिए लोक-प्रचलित प्रथाओ, परम्पराओ, कहावतो, किवदन्तियो, अनुश्रुतियो और रूढियो का उल्लेखनीय योगदान रहा है। लोक-जीवन की परम्पराएँ युग की अभीप्साओ, अभिरुचियो और मान्यताओ के अनुसार निरन्तर आगे बढती गयी। कुछ तो अपनी जन्मदातृ आदिम जातियो के विलय के साथ ही समाप्त हो गयी, किन्तु कुछ अविरत रूप म सस्कृत एव परिष्कृत होती हुई निरन्तर अग्रसर होती रहीं।

साहित्य को लोक जीवन के साथ सम्बद्ध करने वाले युगदर्शी साहित्य स्रष्टाओ न लोकानुभवो को अपनी कृतियो मे ढाल कर उन्हें आगे के युगो को दिया। सभी विषय के ग्रन्थकारो के समक्ष लोकरुचि का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण बना रहा। उनको प्रमाण रूप से उद्धृत कर ग्रन्थकारो ने अपने मतो की पुष्टि की।

नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने स्थान-स्थान पर लोकमत का बडा सम्मान किया है। आचार्य भरत का कहना है कि अभिनय मे न केवल अभिनेता को अपितु श्रोता और दर्शक को भी लोक तथा शास्त्र का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। लोकाचार, लोकभाषा और लोकशिल्प के ज्ञाता दर्शक ही नाट्य या अभिनय का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। 'नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से सम्बद्ध हो, भले ही उसमें व्याकरणशास्त्र और छन्दशास्त्र का समन्वय दर्शित हो, उसकी सफलता तभी स भव है, जब वह लोकमान्य हो। नाट्य की लोकमान्यता का आधार लोकस्वभाव का अभिनिवेश होता है। इसलिए नाट्य प्रयोग की सफलता विफलता मे लोकरुचि ही सब से बडा प्रमाण है'

वेदाध्यात्मोपपन्न तु शब्दछन्द· समन्वितम्।
लोकसिद्ध भवेत् सिद्धं नाट्य लोकस्वभावजम्॥
तस्मात् नाट्य-प्रयोगे तु प्रमाण लोकमिष्यते।

नाट्यशास्त्र—२६।११२-११३

नाट्य मे लोकधर्म की श्रेष्ठता को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। नाट्यशास्त्र (१३।७०-७४) मे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी अभिनयो का अलग-अलग विवेचन किया गया है। लोकधर्मी अभिनय का लक्षण करते हुए आचार्य भरत ने (नाट्यशास्त्र—१३।७२) मे लिखा है कि जिस नाट्य मे विभिन्न स्त्री-पुरुषो के मनोगत भावो का अभिव्यजन हो, उसे लोकधर्मी नाट्य कहते हैं। लोक द्वारा समर्थित एव मान्य जो शास्त्र, धर्म, शिल्प और क्रियाएँ हैं, उन्ही को नाट्य मे कहा गया है -

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रिया।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥

अभिनेता, दर्शक, श्रोता और यहाँ तक कि नाटक के रचनाकार को लोक-परम्पराओ से सुपरिचित होना चाहिए। रामचन्द्र गुणभद्र ने अपने नाट्यदर्पण (श्लोक १।४) मे लिखा है कि 'जो (नाटककार, अभिनेता आदि) गीत-वाद्य-नृत्य को नही जानते और जो लोक व्यवहार मे कुशल नही है, वे नाटको का अभिनय और रचना करने के अधिकारी नही हैं' -

न गीतवाद्यनृत्तज्ञा लोकस्थितिविदो न ये।
अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते बहिर्मुखाः॥

आचार्य भरत एव अन्य नाट्याचार्यों की भाँति आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण मे स्थान-स्थान पर लोक-परम्पराओ की मान्यता को स्वीकार किया है। अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना मे उन्होने अभिनय की पुरातन थाती को लोक परम्परा द्वारा प्रवर्तित होने का उल्लेख किया है।

प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कला-कृतियो मे अभिनयकला की परम्परा कुछ तो शास्त्रीय विधानो पर आधारित है और कुछ लोकमान्यताओ पर। यह महान् थाती लोक-परम्परा, लोक-विश्वासो और मौखिक अनुश्रुतियों के रूप मे सुरक्षित रह कर आगे बढी। परम्परागत लोक-रुचियो को आधार बना कर शास्त्रकारो ने उनकी शास्त्रीय विधियाँ निश्चित की। लोक-परम्परा सदा विकासोन्मुख रही और उसकी मान्यताएँ तथा उसके प्रतिमान युग की अभिरुचियो के अनुरूप परिवर्तित होते गये। इस दृष्टि से चित्र, मूर्ति, सगीत और अभिनय आदि कलाओ का विश्लेषण किया जाय तो उन पर लोकरुचि की छाप स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। यही कारण है कि भरत, धनजय, अभिनवगुप्त, नन्दिकेश्वर और रामचन्द्र गुणभद्र आदि नाट्याचार्यों ने अभिनय के अनेक रूपो को लोक से ग्रहण करने का उल्लेख किया है। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कला के क्षेत्र मे परम्पराएँ पहले स्थापित हुई और उन्हें शास्त्रीय परिवेश बाद मे दिया गया। इस अभिप्राय की पुष्टि प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युग की उन कला-कृतियों को देख कर होती है, जो शास्त्र विधियो से सर्वथा मुक्त हैं और शास्त्र-ग्रन्थों के विधि विधानो से जिनकी व्याख्या नही की जा सकती है।

यह लोक-परम्परा बहुधा पैतृक रही है और उसके लिए पढ़ने-लिखने पर उतना बल नहीं दिया गया, जितना कि अभ्यास और क्रिया पर दिया गया। कला की महान् थाती को सुरक्षित रखने और उसको आगे बढ़ाने में जो योगदान शास्त्रीय कलाकारों एवं शिल्पियों का रहा है, उससे कुछ कम योगदान पैतृक परम्परा के कलाकारों एवं शिल्पियों का नहीं रहा। लोक जीवन में कला के प्रचार-प्रसार का एकमात्र श्रेय लोक कलाकारों को ही है।

अभिनेता और उनकी सामाजिक स्थिति

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे अभिनेताओ की विशेष योग्यता एव विदग्धता के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के उल्लेख देखने को मिलते हैं। इन अभिनेताओ मे गन्धर्व-अप्सराएँ, नर्तक-नर्तकी, नट-नटी, सूत्रधार, विदूषक, विट, नायक, नायिका और गणिका आदि का नाम प्रमुख है। नाट्याचार्य रामचन्द्र गुणभद्र ने नाट्यदर्पण (श्लोक ११४) मे लिखा है कि जो (अभिनेता) गीत, वाद्य तथा नृत्य को नही जानते और जो लोक-व्यवहार मे कुशल नही होते, वे नाटको की रचना और अभिनय-प्रयोग के अधिकारी नही हैं।

इस प्रकार अभिनेताओ को अभिनयकला की जानकारी के लिए गीत, वाद्य और नृत्य के अतिरिक्त लोक-व्यवहारो का भी ज्ञाता होना चाहिए। अन्य अनेक ग्रन्थो मे उक्त अभिनेताओ के कार्य और कौशल के सम्बन्ध मे अनेक तरह के उदाहरण देखने को मिलते हैं।

अभिनेताओ के इस सन्दर्भ मे गन्धर्व-अप्सराओ का भी उल्लेख किया गया है। नृत्य-सगीत कलाओ के वे अधिष्ठाता हैं और लोक तथा शास्त्र मे इन कलाओ की प्रतिष्ठा का बहुत बडा श्रेय उन्ही को है। कला का कोई भी अग अछूता नही है, जहाँ उनके अस्तित्व एव व्यक्तित्व की सुरभि व्याप्त न हो। वेदो से लेकर पुराणो और परवर्ती साहित्य मे सर्वत्र उनके अस्तित्व की चर्चाएँ बिखरी हुई हैं। इसलिए अभिनय कला के अधिष्ठाता गन्धर्व-अप्सराओ का अभिनेताओ मे प्रथम स्थान है।

गन्धर्व

हरिवश पुराण मे स्वारोचिष मन्वन्तर और अरिष्टा के गर्भ से गन्धर्वों की उत्पत्ति बतायी गयी है। वे देव योनि हैं, देवताओ की सभा मे गान, वाद्य और नृत्य इनका प्रमुख कार्य है। गन्धर्वों की दो श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—दिव्य और मर्त्य। जो मनुष्य इस कल्प मे अपने पुण्य बल से गन्धर्व हुए वे मर्त्य और जो इस कल्प के प्रारम्भ मे ही गन्धर्व हैं, वे दिव्य कहे गये हैं। गन्धर्वों मे यक्ष, राक्षस, पिशाच, सिद्ध, चारण, नाग और किन्नर आदि की गणना की गयी है। भारतीय साहित्य मे उनके इन सभी रूपो की विस्तार से चर्चाएँ देखने को मिलती हैं।

ऋग्वेद (१।१६२।२, ८।७७।५) मे गन्धर्व को मेघ (गामुदकं धारयतीति गन्धर्वो मेघः) और सूर्य (गवां रश्मीनां धर्ता सूर्यः) के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। शब्दकल्पद्रुम मे गन्धर्व शब्द की व्युत्पत्ति करते

हुए लिखा गया है कि गन्धर्व सगीत-वाद्यादि द्वारा मनोरजन प्राप्त करने वाले स्वर्गगायक हैं (गन्ध सगीत-वाद्यादिजनितप्रमोदं प्राप्नोति गन्धर्वः स्वर्गगायकः)।

संगीत-नृत्य-निष्णात होने के साथ-साथ वे शुभ-आयुष् के देने वाले भी हैं। वेद मत्रो मे उन्हें पितरो के समवर्ती माना गया है। उन्हे सोमरक्षक और मधुरभाषी कहा गया है। अथर्ववेद के एक मत्र (५।३७।७) मे कहा गया है कि गन्धर्व उर्वशी, घृताची, रम्भा, तिलोत्तमा और मेनका आदि अप्सराओ के पति और सिर पर शिखण्डी धारण किये हुए नृत्य करते हैं (आनृत्यन्तः शिखण्डिनः गन्धर्वस्याप्सरापतेः)।

पुराणो, रामायण, महाभारत और शास्त्रीय ग्रन्थो मे गन्धर्वों को देव गायकों के रूप मे वर्णित किया गया है। जैनो तथा बौद्धो के साहित्य और सस्कृत के परवर्ती काव्य-नाटको मे गन्धर्वों को विद्याधरो तथा यक्षो के तुल्य माना गया है। मानसार (५८।९-१०) मे उनका लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

> नृत्तं वा वैष्णवं वापि वैशाखं स्थानक तु वा।
> गीतवीणाविधानैश्च गन्धर्वश्चेति कथ्यते॥

अप्सराएँ

स्वर्ग की अप्सराएँ केवल कल्पना मात्र नही हैं। वे गन्धर्वों की पत्नियाँ हैं। गन्धर्वों की ही भाँति वे भी नृत्य, गीत और सगीत की अधिष्ठातृ बतायी गयी हैं। उनका अप्रतिम सौन्दर्य सारे देव लोक मे अनुपम माना गया है।

वेदो, पुराणो, शास्त्रीय ग्रन्थों और परवर्ती काव्य-नाटको मे सर्वत्र उनके अस्तित्व की सजीव चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। अथर्ववेद (४।३७।४) की एक ऋचा के अनुसार मधुर गीत और मनमोहक नृत्य ही उनका विशेष कार्य था। भरत के नाट्यशास्त्र और नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण आदि शास्त्रीय ग्रन्थों मे ब्रह्मा की आज्ञा से नृत्य-प्रयोग मे अप्सराओ के योगदान का उल्लेख हुआ है। उर्वशी, घृताची, रम्भा, तिलोत्तमा और मेनका आदि अप्सराएँ देवराज इन्द्र की सभा की शोभा थी, जिनके सम्बन्ध मे साहित्य और लोक-जीवन, दोनों मे रोचक कथाएँ देखने-सुनने को मिलती हैं।

गन्धर्वों और अप्सराओ की चर्चाओ को जिस उत्सुकता से साहित्यकारो ने अपनी कृतियों मे स्थान दिया, उसी अभिरुचि से कलाकारो ने उन्हें अपनी कला-कृतियो मे दर्शित किया। स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन त्रिविध रूपो मे उनका बहुविध चित्रण देखने को मिलता है। मथुरा, गान्धार, गुप्त और चालुक्य की कला-शैलियों मे उनकी अनेक मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं, जो भव्यता एव सजीवता मे अनुपम हैं। गुफा-चित्रो और मध्ययुगीन चित्र-शैलियो मे उनको व्यापक रूप से चित्रित किया गया है।

नर्तक-नर्तकी

अभिनेताओ मे नर्तक-नर्तकी की योग्यताओ एव कार्यों का नाट्य प्रयोग के सन्दर्भ मे यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। भाष्यकार पतजलि के महाभाष्य के प्रसगो मे नर्तक-नर्तकी से नट-नटी की भिन्नता पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। सामाजिक और धार्मिक जीवन मे उनकी क्या लोकप्रियता एव श्रेष्ठता रही है, इसका भी उल्लेख किया गया है।

सूत्रधार

सूत्रधार नट-समुदाय का मुखिया है। इसी अर्थ मे उसे **नटगामिणी** कहा गया है। नाटक का वह मुख्य अभिनेता तथा व्यवस्थापक और रगशाला का प्रमुख शिल्पी है। सब अभिनेताओ के सूत्र उसके द्वारा सचालित होने के कारण उसे **सूत्रधार** कहा गया है। रगशाला मे अभिनेताओ को प्रशिक्षित करना भी उसका कार्य है। उसका कार्य पात्रो की रूप-सज्जा और उनके द्वारा रगभूमि पर अभिनय कराना भी है। नाट्यशास्त्रीय एव काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे उसकी योग्यताओ का दिग्दर्शन करते हुए लिखा गया है कि वह समस्त कलाओ, शिल्पो एव शास्त्रो का ज्ञाता होता है। देशान्तरो और लोकाचारो की उसे पूर्ण जानकारी होती है। वह नैतिक गुणो से सुसम्पन्न और परम्परा के आदर्शों से सुपरिचित होता है। वह व्यवहार-कुशल, धैर्यवान्, सगीतज्ञ और बडा चतुर होता है। नाट्याचार्य के अतिरिक्त अभिनय मे उसे मुख्य भूमिका का भी निर्वाह करना होता है।

नट या स्थापक

वह सूत्रधार का अनुचर हुआ करता है। भरत, भारत, चारण, कुशीलव, शैलूष, और नर्तक आदि उसके अनेक नाम हैं। नट द्वारा अग, वाणी आदि विविध व्यापारो की सहायता से सम्पादित राम-युधिष्ठिर आदि चरितो की अवस्थाओ का अनुकरण ही **अभिनय** है। इस दृष्टि से अभिनय मे नट का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। साहित्यदर्पण (६।२६) मे लिखा है कि पूर्वरग विधान के बाद जब सूत्रधार रगमच से उतर आता है, तब नट रगमच पर आकर नाटक-प्रयोग की आस्थापना करता है। इस दृष्टि से उसे **स्थापक** भी कहा जाता है।

गुण और रूप मे वह सूत्रधार के अनुरूप होता है और रगमच के निर्माण तथा नाट्यशाला के अभिनय कार्य मे वह सूत्रधार की सहायता करता है। वह सब प्रकार के रूप धारण करने वाला होता है।

नटी

सूत्रधार की स्त्री को नटी कहा जाता है। अपने सर्व गुण-सम्पन्न एव विद्वान् पति की भाँति वह भी अभिनयकला मे कुशल होती है। पातिव्रत्य एव गृहस्थ के उत्तरदायित्वो का निर्वाह करने के साथ-साथ वह

अपनी कला-साधना मे भी निपुण होती है। अभिनय मे वह किसी महत्वपूर्ण नारी पात्र की भूमिका ग्रहण करती हैं।

विट

नाट्यशास्त्र (३५।५५) मे विट को वेश्योपचार-कुशल, मधुरभाषी, प्रवीण, काव्यकार्य मे कुशल, तर्क-वितर्क मे सक्षम, वाग्मी और चतुर बताया गया है। **साहित्यदर्पण** (३।४०-४१) मे लिखा हुआ है कि विट, चेट, विदूषक आदि श्रृगारी नायक के सहायक होते हैं। ये सहायक स्वामिभक्त, नर्मनिपुण, मानिनी नायिका के मनाने मे चतुर और सच्चरित्र हुआ करते हैं।

साहित्यदर्पण मे विट उसको कहा गया है, जो वैयक्तिक सुख भोग के लिए अपनी धन-सम्पति लुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओ मे निपुण हो, वेश्योपचार मे चतुर हो, बातचीत करने मे कुशल हो, स्वभाव से मधुर हो और सभा-गोष्ठियो मे जिसकी बडी पूछ हो।

वात्स्यायन के **कामसूत्र (नागरक प्रकरण)** मे विट को रसिक नागरक का सहचर कहा गया है। वह सम्पूर्ण विषय भोगो का उपभोक्ता, कलाविद् और गुण सम्पन्न होता है। वह सपत्नीक और सुव्यवस्थित गृहस्थ होता है। वेश्याओ और रसिक समाज मे उसका बडा आदर-सम्मान होता है और उन्ही की सेवा-सुश्रूषा करके वह अपनी आजीविका चलाता है।

विदूषक

विदूषक श्रृगारी नायक का सहायक होता है। **नाट्यशास्त्र** (३५।५७) मे उसे बौना, बडे-बडे दाँतो वाला, कुबडा, बहुभाषी, कुरूप, खल और पीनवर्ण आँखो वाला कहा गया है। **साहित्यदर्पण** (३।४२) मे लिखा हुआ है कि विदूषक का नाम किसी फूल या वसन्त आदि ऋतु के नाम पर रखा जाता है। वह अपने कार्यो, शरीर, वेष भूषा और बोलचाल आदि से दूसरो को हँसाने मे निपुण होता है। दूसरो से झगडने मे उसे आनन्द आता है। अपने विदूषक कार्य (हँसने-हँसाने) मे वह कुशल होता है।

कामसूत्र (नागरक प्रकरण) मे विदूषक को रसिक नागरक का सहचर कहा गया है। सगीत, नृत्य आदि किसी एक कला मे वह निपुण होता है। सब का कौतुक करने मे वह सिद्धहस्त होता है। वह सब का विश्वासपात्र होता है। हास्यरस मे कुशल होने के कारण उसको वैहासिक भी कहा जाता है। वह नायक-नायिकाओ और वेश्या-नागरको के बीच सन्धि विग्रह कराने मे कुशल होता है। वह नागरको और वेश्याओ पर आश्रित होकर उन्ही के द्वारा अपनी आजीविका चलाता है।

नायक

अभिनेताओ म नायक-नायिका का विशेष महत्व माना गया है। रामचन्द्र गुणभद्र ने अपने **नाट्यदर्पण** के नाटक-निर्णय प्रकरण मे लिखा है कि अधम प्रवृत्ति के पुरुष तथा स्त्रियो को नायक-नायिका के रूप मे

ग्रहण नही करना चाहिए। जो उत्तम और मध्यम प्रकृति के स्त्री-पुरुष है, उन्हे ही कवि या नाटककार नायक-नायिका के रूप मे प्रधान नाटकीय चरित्र-चित्रण का विषय बनाता है। नायक की सब से बडी विशेषता होती है धैर्य। इसके अतिरिक्त उदात्तता, उद्धतता, ललितता और शान्तता, यह चतुर्विध स्वभाव पृथक्-पृथक् रूप मे नायक मे वर्णित हुआ करता है। यह भी सम्भव है कि किसी एक नायक मे उन चारो गुणो का एक साथ समन्वय हो, किन्तु यह सामान्य नियम नही है, अपवाद ही कहा जायगा।

आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण (३।३०) मे नायक उसे कहा गया है, जो सहृदय सामाजिक को नाटककार अथवा कवि के आदर्शों की ओर ले जाने वाला हो। जो त्याग की भावना से भरपूर, महान् कार्यो का कर्ता, सत्कुलीन, बुद्धि वैभव से सम्पन्न, रूप, यौवन तथा उत्साह की सम्पदाओ से युक्त, कार्य-सम्पादन मे सदा जागरूक, जनता का स्नेह भाजन और तेजस्विता, चतुरता एव सदाचार आदि सद्गुणो से सम्पन्न हो।

आचार्य वात्स्यायन ने गुण-दोषो के आधार पर नायक के उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार बताये हैं और कामशास्त्र की दृष्टि से उनका विस्तृत विवेचन किया है।

नायिका

साहित्यदर्पण (३।५६) की कारिका मे कहा गया है कि रस के आलम्बन रूप से काव्य-नाटक मे उपस्थापित नायिका मे नायक के उक्त त्याग, आर्जव आदि सभी सद्गुणो का समावेश होना चाहिए। आचार्य वात्स्यायन ने अवस्था, आकृति, अनुराग और स्वभाव की दृष्टि से नायिकाओ के भिन्न-भिन्न वर्गों का विस्तार से विवेचन किया है।

गणिका

अभिनयकला की उन्नति और ख्याति मे जिन कलाकारा एव अभिनेताओ का महत्वपूर्ण योगदान रहा, उनमे गणिकाओ का नाम उल्लेखनीय है। देवलोक एव गन्धर्वलोक मे जो स्थिति दिव्यागना अप्सराओ एव विद्याधरियो की रही है, मनुष्य लोक मे वही स्थिति गणिकाओ की रही। अप्सराओ एव विद्याधरियों द्वारा प्रवर्तित नृत्य-सगीत की परम्परागत थाती को अपना कुलधर्म बनाकर गणिकाओ ने उसको उजागर किया। ये अप्सराओ के ही समान रूपवती हुआ करती थीं। प्राचीन भारत के गणतत्रो मे गण की सार्वजनिक सम्पत्ति होने के कारण उनको गणिका नाम से कहा गया। एक सभ्य, सुशिक्षित एव सस्कृत नारी के रूप मे समाज मे उनका बडा आदर-सम्मान था। सस्कृत नाटको मे अन्य नारी पात्रो को प्राकृत मे, किन्तु गणिका को सस्कृत मे सम्वाद करते हुए दिखाया गया है। उनकी अपनी स्वतत्र सस्थाएँ हुआ करती थीं।

वे समस्त कलाओं की जानकार हुआ करती थी। न केवल समाज मे, अपितु साहित्य मे भी उनके कला-नैपुण्य के प्रचुर उदाहरण देखने को मिलते हैं। भरत, वात्स्यायन आदि आचार्यों ने उनके विलक्षण कलाकर्म की बडी प्रशसा की है। भास और शूद्रक के नाटको की नायिका वसन्तसेना और वैशाली गणतत्र की गणिका अम्बपाली इतिहास मे अमर है। नाटको और कथा-कृतियो मे उनके व्यक्तित्व और प्रभुत्व का

व्यापक वर्णन देखने को मिलता है। नृत्य-संगीत की परम्परा को अपने वंशानुगत पैतृक व्यवसाय के रूप में अपना कर उन्होंने उसको उजागर किया।

अभिनेताओं की स्थिति पर विधि ग्रन्थों की व्यवस्था

अभिनेताओं और नटों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में अनेक तरह के उल्लेख देखने को मिलते हैं। कुछ बातें उनकी लोकप्रियता की और कुछ उनकी अवमानना की सूचना देती हैं। प्राचीन भारत में एक ओर जहाँ राजाओं, सामन्तों और श्रेष्ठी-श्रीमन्तों में नटों-अभिनेताओं एवं नट-मण्डलियों की लोकप्रियता तथा गुणग्राहकता की कमी नहीं थी, वहीं दूसरी ओर स्मृतियों, विधि-ग्रन्थों तथा अर्थशास्त्र आदि में उनकी अवमानना के उल्लेख भी देखने को मिलते हैं। इन उल्लेखों से विदित होता है कि कला को व्यापारिक रूप देकर उसे जीविकोपार्जन का साधन बनाने वाले नट-नटियों का स्तर समाज में निकृष्ट माना जाता था। उसके अनेक कारण थे। नट लोग अपने कला-कर्तव्य को दिखाने के अलावा अपनी स्त्रियों का सतीत्व बेचने में भी नहीं हिचकते थे। इसीलिए उन्हें जयाजीव तथा रूपजीव कहा गया। विष्णुस्मृति (१६।८) में उन्हें अयोगव कहा गया है। अयोगव अर्थात् शूद्र और वेश्या से उत्पन्न वर्णसंकर सन्तान। नटी को वहाँ रूपजीवा वेश्या के रूप में अंकित किया गया है। महाभाष्य (६।१।१३) में नटियों के सतीत्व के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है। इसी प्रकार मनुस्मृति (८।३६२) में लिखा गया है कि नट अपनी स्त्रियों को दूसरों के हाथों बेच देते थे।

इस प्रकार के अनैतिक आचरण द्वारा जीविकोपार्जन करने के कारण विधि-ग्रन्थों में उनके लिए कई तरह के निषेध बनाये गये हैं और दण्ड का विधान किया गया है। बौधायन स्मृति (१।२।१३) में नटजीवी होना पाप बताया गया है और इस प्रकार की वृत्ति अपनाने के लिए निषेध किया गया है। इसी प्रकार के अन्य उल्लेख उनके सम्बन्ध में देखने को मिलते हैं।

धर्मसूत्रों और स्मृति ग्रन्थों में कुशीलवों और नटों के सम्बन्ध में हेय दृष्टि अपनायी गयी है और नृत्य एवं अभिनय देखने पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।१।३।११ १२) में कहा गया है कि किशोरों को सभा-समाजों में जाना और नृत्य देखना वर्जित है। मनुस्मृति (२।१७८) में भी विधान किया गया है कि विद्यार्थी ब्रह्मचारी को नृत्य, गान और संगीत से अलग रहना चाहिए। मनुस्मृति (८।६५) में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो ब्राह्मण अभिनय करता है, वह शूद्र है। इसी प्रकार गौतम धर्मसूत्र (५।१८) में भी कहा गया है कि जो ब्राह्मण नृत्य करता है, वाद्य बजाता है और ताल देता है, उसे देवोत्सवों में आमन्त्रित नहीं करना चाहिए।

धर्म-ग्रन्थों में नट को चाण्डाल आदि अन्त्यजों की कोटि में परिगणित किया गया है। अत्रिस्मृति (१९९) में सात अन्त्यजों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं १ रजक (धोबी), २. चर्मकार, ३ नट, ४ बुरुड (बाँस का काम करने वाला), ५ कैवर्त (मछली मारने वाला), ६ मेद और ७ भिल्ल। इसी प्रकार

वेदव्यासस्मृति (१।१२-१५) मे भी चर्मकार, भट, भिल्ल, रजक, पुष्कर, नट, विराट, मेद, चाण्डाल, दास, स्वपच और कोलिप आदि बारह अन्त्यजो के नाम गिनाये गये है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३।२६५) की व्याख्या मिताक्षरा मे अन्त्यजो की दो श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। अत्रिस्मृति मे निर्दिष्ट उक्त सात अन्त्यजो को पहली श्रेणी मे रखा गया है।

मनुस्मृति (१०।१२) मे लिखा गया है कि क्षत्रिय व्रात्य (जिसका उपनयन सस्कार न हुआ हो) का उसी प्रकार की नारी से जब सम्बन्ध होता है, तब उनके द्वारा उत्पन्न सन्तान को झल्ल, मल्ल, निच्छिवी (लिच्छिवी), नट, करण, खश तथा द्रविड कहते हैं।

शैलूष की गणना अन्त्यजो मे की गयी है। बगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और पजाब मे उसे अछूत जाति माना जाता है। हारीत ने शैलूष और नट मे अन्तर बताया है। अपरार्क के अनुसार शैलूष अभिनयजीवी जाति है, किन्तु वह नटो से भिन्न है। नट अपने खेलो के लिए प्रसिद्ध है। उसकी प्रसिद्धि रस्सी तथा जादू का खेल दिखाने से है, जब कि शैलूष नाचने-गाने वाली जाति है।

विष्णुधर्मसूत्र (५१।१३), मनुस्मृति (४।२१४) और हारीत आदि मे शैलूष को रगावतारी (रगसाज) से भिन्न बताया गया है और ब्रह्मपुराण मे इसे नटो के लिए जीविका खोजने वाला बताया गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (९।३८) मे शैलूष को रजक एव व्याध की श्रेणी मे रखा गया है। यही बात याज्ञवल्क्यस्मृति (२।४८) मे भी पायी जाती है।

नट और नर्तक को उशना (१९) ने वैश्य नारी एव रजक (रगसाज) की सन्तान बताया है। बृहस्पति ने नट और नर्तक को अलग-अलग रूप मे लिखा है और बताया है कि ब्राह्मणों के लिए उनका अन्न अभोज्य है। अत्रि (७।२) ने उनकी पृथक्-पृथक् चर्चा की है और उनको हीन श्रेणी का बताया है।

रगावतारी का अपर नाम तारक है। मनुस्मृति (४।२१५) के अनुसार वह शैलूष एव नटो से भिन्न जाति है। दक्षस्मृति (१७।३६) तथा विष्णुधर्मसूत्र (५१।१४) मे भी रगावतारी की चर्चा है। ब्रह्मपुराण मे उसे नट कहा गया है और लिखा गया है कि वह रगमच पर कार्य करता है तथा वस्त्र, मुखाकृतियों के परिवर्तन एव साज-सज्जा का काम करता है। मैत्रो उपनिषद् (७।८) मे भी उसका उल्लेख हुआ है।

कुशीलव का उल्लेख भी धर्म-ग्रन्थो मे हुआ है। बौधायन के अनुसार यह अम्बष्ठ पुरुष तथा वैदेहक नारी की सन्तान है। अमरकोश मे उसे चारण (भाट) कहा गया है। बौधायन के विरुद्ध कौटिल्य (३।७) ने इसे वैदेहक पुरुष एव अम्बष्ठ नारी की सन्तान कहा है।

धर्मसूत्रो और स्मृतिग्रन्थों के उक्त निषेधो और प्रतिबन्धो के बावजूद भी प्रत्येक युग के जन जीवन मे नाट्यकला को और उसके सरक्षक एव सायक नट, शैलूष, कुशीलव आदि को समाज के सभी क्षेत्रो मे पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त रही। नाट्यकला को लौकिक ही नही, पारलौकिक अभ्युदय का भी साधन स्वीकार किया गया। ललित कलाओ मे उसको उच्च स्थान प्राप्त रहा और राजदरबारो से लेकर निम्न मध्य वर्ग के समाज तक उसका अबाध प्रवेश रहा। राजदरबारो मे राजकुमारियो की शिक्षा का वह प्रमुख अग बनी रही और उसके आयोजन के लिए कलापूर्ण नाट्यशालाओ का निर्माण किया गया। न केवल राजदरबारो मे, अपितु जन-

सामान्य की शिक्षा-दीक्षा के लिए सार्वजनिक नाट्यशालाओं का निर्माण हुआ और सभी क्षेत्रों के युवक-युवतियों ने बड़ी रुचि के साथ उनमें नाट्यकला का प्रशिक्षण प्राप्त किया। जहां तक धार्मिक दृष्टि से नाट्यकला के प्रचार एवं अपनाव का प्रश्न है, देव प्रतिमाओं और मन्दिरों के समक्ष उसके प्रदर्शन तथा आयोजन की परम्परा भी बहुत पुरानी है। भागवत धर्म के अनुयायी समाज ने भक्तिभावना से गद्‌गद् होकर अपने आराध्य की प्रसन्नता के लिए नृत्य एवं अभिनय का आश्रय लिया। संस्कृत, हिन्दी और सभी प्रादेशिक भाषाओं में रचा गया विपुल कृष्णभक्ति साहित्य अधिकतर गेय है। ब्रजजीवन के रास नृत्यकला की श्रेष्ठता और लोकप्रियता के अमिट उदाहरण हैं, जिनकी परम्परा अब तक बनी हुई है।

प्राचीन धर्मग्रन्थों की निषेधाज्ञाओं और समाज में नट, अभिनेताओं के प्रति हेय धारणा स्थापित करने के बावजूद भी उनके ये सारे विधि विधान केवल सैद्धान्तिक रूप तक ही सीमित रह कर ग्रन्थों की शोभा बढ़ाते रहे, क्रियात्मक जीवन में उनको किसी भी युग में स्वीकार नहीं किया गया। नाट्यकला की लोकप्रियता के विरोध में इस प्रकार के प्रतिबन्धों का पोषक एवं समर्थक वर्ग वस्तुतः अपनी अहम्मन्यता एवं अपने स्वार्थों से पराभूत था। समाज को निम्न-उच्च वर्गों में विभाजित कर वह पारस्परिक विषमता बनाये रखने का पक्षपाती था।

नाट्यकला की वस्तुस्थिति और समाज में उसकी लोकप्रियता की प्रतिष्ठा का महान् प्रयत्न आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र है। आचार्य भरत ने ही सर्व प्रथम नाट्यकला को धार्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का साधन स्वीकार किया। उनके बाद अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने ग्रन्थ-निर्माण कर नाट्यकला के प्रचार-प्रसार को अधिक बल और सम्मान दिया। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (प्रथम अध्याय ३६, ७४, ७५) में तो यहां तक लिखा कि नाट्यवेद के अध्ययन, अनुशीलन और नाट्य के प्रदर्शन का वही फल प्राप्त होता है, जो वेदाध्ययन और यज्ञ करने से होता है। इस प्रकार नाट्यकला को वेदाध्ययन और यज्ञानुष्ठान जितना सम्मान प्राप्त हुआ और परवर्ती साहित्य तथा लोक में उसका मान-सम्मान एवं प्रचार प्रसार निरन्तर बढ़ता गया। परम्परा से अभिनय-वृत्ति को उत्कृष्ट कला के रूप में आदर-सम्मान प्राप्त होने के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। न केवल राजा-रईसों, अपितु कवियों एवं कथाकारों का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। भवभूति और बाण आदि प्रतिष्ठित नाटककारों एवं कथाकारों की जीवनी से ज्ञात होता है है कि नट-नर्तकों के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता रही।

नट-नटियों के सम्बन्ध में स्मृतियों तथा विधि-ग्रन्थों के प्रतिषेधों के बावजूद भी उनकी सामाजिक लोकप्रियता के अनेक उदाहरण साहित्य में तथा क्रियात्मक जीवन में प्रचुर रूप में देखने को मिलते हैं। संस्कृत की कथाओं, आख्यायिकाओं, काव्यों और नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नटों की अपनी अलग मण्डलियाँ हुआ करती थी, जो कि सूत्रधार (नट-मण्डली के मुखिया) के नेतृत्व में अपनी कला के प्रदर्शन के लिए एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमा करती थी। वही उनकी आजीविका का साधन था। आचार्य कौटिल्य ने इसी कारण नट मण्डलियों के राज्य प्रवेश पर शुल्क निर्धारित किया है।

इन उल्लेखो को देख कर यह भी ज्ञात होता है कि राजा, सामन्त और धनी-मानी लोग उनके आश्रयदाता थे। देश के ओर-छोर तक ऐसे गुणग्राही लोगो की कमी नही थी। किसी धार्मिक पर्व, पुत्रोत्सव, विवाहोत्सव, राज्याभिषेक, युद्धयात्रा और विजयोत्सव के समय नट-मण्डलियो द्वारा अभिनयो का आयोजन हुआ करता था। व्यक्तिगत नाट्यशालाओं मे भी वृत्ति देकर उनकी नियुक्ति की जाती थी। सम्पन्न लोगो और सामान्य जनता मे उनके गुण-ग्राहको की कमी नही थी।

सामान्य जन जीवन मे उनकी लोकप्रियता के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। जनता से उनका सम्बन्ध घनिष्ठ रूप मे बँधा हुआ था। लोग बडे उत्साह और उमग से उनके अभिनयो और करतबो को देखा करते थे। बडी सख्या मे एकत्र होकर उनकी कला से अपना मनोरजन करते थे। इस तरह जनता के जीवन मे प्रवेश करके उन्होने अपनी सामाजिक उपयोगिता अर्जित कर ली थी और वे पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे।

नट मण्डलियो के बीच चलने वाली प्रतिस्पर्धा मे भी नाट्यकला की लोकप्रियता और उपयोगिता का पता चलता है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा से जहाँ नट मण्डलियो की गहन साधना और दीर्घ अभ्यास की बातें प्रकट होती हैं, वही कला की उन्नति का ध्येय भी प्रकाश मे आता है। ये प्रतिस्पर्धाएँ धन, यश और मान-सम्मान का भी कारण सिद्ध होती थी। न केवल नट मण्डलियो मे, अपितु राज्याश्रित नाट्याचार्यों के बीच भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धाएँ होती थी। मृच्छकटिक और मालविकाग्निमित्र इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारत मे नट-नर्तको और नट मण्डलियो की विश्रुत लोकप्रियता उनकी सामाजिक स्थिति का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती है। सामान्य जन-जीवन मे वे घुल मिल गये थे और उनके मनोरजन का माध्यम बन चुके थे। सस्कृत नाटको की प्रस्तावना से भी उनके अस्तित्व और उनकी श्रेष्ठता का पता चलता है।

• • •

पाँच

•

नाट्योत्कर्ष
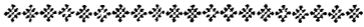
साहित्य में नाट्यकला

•

अष्टाध्यायी में नाट्यकला

•

रामायण और महाभारत में नाट्यकला

•

अर्थशास्त्र में नाट्यकला

•

महाभाष्य में नाट्यकला

•

कामसूत्र में नाट्यकला

•

पुराणों में नाट्यकला

•

रासलीला और छालिक्य अभिनय

साहित्य में नाटचकला

नाटचकला पर मौलिक रूप से शास्त्रीय ग्रन्थो मे जो-कुछ लिखा गया है, उसका परिचय आरम्भ म 'नाटच साहित्य' के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा चुका है। भारतीय जन-जीवन मे नाटचकला के प्रभाव प्रयोग की व्यापकता पर भी यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। इस दृष्टि मे नाटचकला के अस्तित्व और महत्व का सहज ही स्पष्टीकरण हो जाता है।

सस्कृत के विशाल वाङमय का यदि इस दृष्टि से अनुशीलन किया जाय, तो वैदिक काल से लेकर अब तक सभी युगो की प्रतिनिधि रचनाओ पर नाटचकला की छाप अकित है। साहित्य की एक महत्वपूर्ण एव स्वतत्र विधा होने के साथ ही नाटचकला ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो म प्रवेश कर अपनी लोकप्रियता एव महानता का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

साहित्य मे नाटचकला के प्रभाव और प्रसार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अपने-आप मे वह एक स्वतत्र विषय हो सकता है। उतने विस्तार मे न जाकर यहाँ कुछ प्रमुख कृतिया पर ही विचार किया गया है। इन कृतियो से नाटचकला की व्यापकता का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही यह भी पता चलता है कि प्रयोग रूप मे व्यावहारिक दृष्टि से उसकी कितनी अधिक उपयोगिता रही। युग-युगा म साहित्य-सृजन और लोकानुरजन का माध्यम बन कर लोकमानस से सदा ही उसका सम्बन्ध बना रहा। इस प्रकार साहित्य और समाज दोना को उससे प्रेरणा प्राप्त होती रही।

वैदिक युग मे नाटचकला

वैदिक युग मे कलाओ के अस्तित्व की व्यापक सूचनाएँ उपलब्ध हैं। उस युग म कलाआ के वाहक एव प्रवर्तक तीन प्रकार के कलाकारो का पता चलता है, जिनके नाम है गायक, वादक और नर्तक। कलाकारा की ये तीनो श्रेणियाँ पर्याप्त उन्नति पर थी। सगीत और नृत्य का विशेष आयोजन होता था। उनमे नर्तका के अतिरिक्त नर्तकियाँ भी भाग लेती थी।

वैदिक युगीन समन नामक उत्सव का अपना ऐतिहासिक महत्व है। यह उत्सव रात्रि मे आयोजित होता था। सगीत-नृत्य के लिए रात्रिकाल ही उपयुक्त माना जाता था। इसलिए उनका आयोजन बहुधा रात मे ही किया जाता था। इस उत्सव मे कुमारियाँ स्वेच्छानुसार अपने लिए वर का चुनाव करती थीं। इस कारण उसमे युवक भी बडे उत्साह से भाग लेते थे। इस उत्सव मे घुडदौड और सगीत-नृत्य की

सज्जा) के लिए कलाकारों (निर्देशकों) को, समय-यापन के लिए राजकुमारों को और धैर्ययुक्त कार्यों के लिए बढ़ई को नियुक्त करना चाहिए।

इस उद्धरण में नृत्यकला के प्राय सभी तत्त्व विद्यमान हैं। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक युगीन समाज मे नाट्यकला का व्यापक प्रचार-प्रसार हुए बिना इस प्रकार की प्रामाणिक एव विस्तृत सूचनाओं का वेदमन्त्रों मे सन्निवेश होना सम्भव नही था। इस उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि यज्ञो के समय नृत्त-गीत के लिए सूतों और शैलूषों को नियुक्त किया जाता था। इस सामग्री के अनुशीलन से पता चलता है कि समाज मे कलाओं और कलाकारो की अलग-अलग श्रेणियाँ बन चुकी थी। तत्कालीन समाज नृत्त-गीत के अगो से सुपरिचित हो चुका था।

कलानुरागी वैदिक युग मे नाट्य की लोकप्रियता का परिचय अथर्ववेद के एक मन्त्र से मिलता है। राष्ट्रप्रेम की उत्कट भावना से प्रेरित अथर्ववेद के **पृथिवीसूक्त** (१२।१।४१) की एक ऋचा मे गायन और नृत्य का उल्लेख हुआ है। इस ऋचा मे कवि ने भूतल के मनुष्यों द्वारा नृत्य-गीतो के मनोहर आयोजन का उल्लेख करते हुए लिखा है 'जिस भूमि पर मनुष्य नाचते-गाते हैं' (यस्या गायन्ति नृत्यन्ति भूम्या मर्त्या....)। इसी प्रकार **काठक सहिता** (१७।१३) मे भी नृत्य-सगीत और नर्तक-गायकों का उल्लेख हुआ है।

वेद सहिताओं की ही भाँति, ब्राह्मणग्रन्थो, आरण्यको, उपनिषदो और षड्वेदागों मे नाट्य-सगीत विषयक सामग्री बिखरी हुई है। **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (३।४।१।१५) मे आयोगू, मागध (भाट) सूत (अभिनेता), शैलूष (गायक) आदि कलाकारो के नाम देखने को मिलते हैं। इस सन्दर्भ मे नृत्य के साथ वीणा बजाये जाने का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार **कात्यायन श्रौतसूत्र** (७।८।२५) मे सोमपान के अवसर पर एक छोटा-सा अभिनय होने का उल्लेख हुआ है।

इन उल्लेखों मे ज्ञात होता है कि वैदिक युग मे कलाकारो और कलाओ का एक निश्चित स्थान बन चुका था। उस युग के समाज का जो स्वरूप सहिताओं और परवर्ती वैदिक साहित्य म देखने को मिलता है, उससे यह भी विदित होता है कि परमार्थ प्राप्ति के साधनो मे कला को भी एक साधन माना गया था। इस प्रकार कला न केवल ऐहिक जीवन के मनोविनोद एव मनोरजन तक ही सीमित थी, अपितु उसे धर्म, अध्यात्म और परमार्थ प्राप्ति का भी माध्यम माना जाता था।

कला की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्तियाँ भी अपना स्वतन्त्र विकास कर रही थीं। यद्यपि वह धर्म के सुनहरे तन्तुओं से परिवेष्टित थी, फिर भी उसे सभी दिशाओ मे आगे बढने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उसकी इन लोकोन्मुखी प्रवृत्तियों का परिचय **कौषीतकी ब्राह्मण** (२४।५) के उस प्रसग से मिलता है, जिसमें कलाओं की विस्तृत सूची प्रस्तुत की गयी है। इस सूची को देख कर तत्कालीन जन-जीवन मे कला के सहज प्रवेश का स्पष्ट पता चलता है। इस सूची मे जिन कलाओ का उल्लेख किया गया है उनमे नृत्य-सगीत का भी नाम है। नृत्य, गीत और वाद्य, तीनों को तब शिल्प के अन्तर्गत माना जाता था। वैदिक युग मे शिल्प का व्यापक अर्थ मे प्रयोग होता था। **कौषीतकी ब्राह्मण** (२९।५) के एक प्रसग मे शिल्प

अष्टाध्यायी में नाट्यकला

वैदिक युग मे नाट्यकला के अस्तित्व पर अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी सिद्धि एव पुष्टि के लिए यहाँ आचार्य शिलालि द्वारा प्रणीत नटसूत्र को उद्धृत किया जा रहा है। इस नटसूत्र का उल्लेख वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पूर्व) ने अपनी अष्टाध्यायी मे किया है। इस नष्टप्राय सूत्रग्रन्थ के नामावशेष मात्र से यह ज्ञात होता है कि वैदिक-युग मे ज्ञान एव विचारो के वाहक सम्प्रदायो, शाखाओ या चरणो की भाँति शिलालि लोगों का भी एक चरण (शाख) था। यह चरण ऋग्वेद से सम्बद्ध था और उसके द्वारा ही नाट्य की महान् थाती का सूत्रपात हुआ। यह थाती न जाने कितने उच्च विचारको द्वारा आगे बढी, किन्तु उसके परिचायक साधनो का सम्प्रति सर्वथा अभाव है। नटसूत्र उसी प्रौढ परम्परा का एक नष्टप्राय ग्रन्थ है, जो कि वैदिक युगीन नाट्य-परम्परा के इतिहास को प्रकाशित करता है।

षड्वेदागो मे सूत्र ग्रन्थो का भी एक नाम है। पाणिनि ने दो प्रकार के सूत्र ग्रन्थो का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं : पाराशर्य तथा कर्मन्दक के भिक्षुसूत्र और शिलालि तथा कृशाश्व के नटसूत्र (अष्टाध्यायी ४।३। ११०-१११)। ये दोनो सूत्रग्रन्थ लौकिक विषयो से सम्बद्ध थे, किन्तु इन्हे वही मान्यता प्रदान की गयी, जो वैदिक ग्रन्थो को प्राप्त थी।

पाराशर्य और शिलालि, इन दोनो चरणो (सस्थाओ) का सगठन वैदिक युग मे ही हो चुका था। उनका सम्बन्ध ऋग्वेद से था। अन्य चरणो की तरह इनमे भी गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा वेदो का अध्ययन-अध्यापन होता था। पाराशर्य चरण के लोगो ने भिक्षुसूत्रो (वेदान्त सूत्रो) का प्रणयन किया और शिलालि चरण के लोगो ने नटसूत्रो का। ये दोनो विषय परवर्ती बुद्धिजीवी समाज मे इतने प्रचलित हुए कि उनमे सम्बद्ध वैदिक ग्रन्थो का नाम लुप्त हो गया और उनके स्थान पर इन्ही लौकिक विषयो को मान्यता प्राप्त हुई।

नटसूत्रो के निर्माता कृशाश्व और शिलालि के चरणों या सम्प्रदायो का विकास अलग-अलग रूप मे हुआ। कृशाश्व परम्परा के अनुयायियो को कृशाश्विन् और शिलालि परम्परा के अनुयायियो को शैलालिन् या शैलाल नाम से कहा गया। बाद मे इसीलिए कृशाश्विन् और शैलालिक शब्दो का प्रयोग नाट्यसूत्र तथा नटो के लिए होने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद मे कृशाश्व की अपेक्षा शिलालि की परम्परा अधिक उजागर हुई, क्योंकि बाद के ग्रन्थकारो ने, जिनमें महाभाष्य के रचयिता पतजलि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, शैलालो की ही अधिक चर्चा की।

इस प्रकार वैदिक युग मे ही नाट्यशास्त्र के मूल उद्गम **नाट्यसूत्र** का निर्माण हुआ और परम्परा से उसे वही मान्यता प्राप्त होती गयी, जो छन्द-ग्रन्थो या शाखा-ग्रन्थो को प्राप्त थी। इस आशय का उल्लेख **काशिका** मे भी देखने को मिलता है (**भिक्षुनटसूत्रयो छन्दस्त्वम्**)। वैयाकरण पाणिनि ने (४।३।१२९) भी यही सिद्ध किया है कि वैदिक चरणो के धर्म और आम्नाय ग्रन्थो की भाँति नाट्यशास्त्र को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। इसीलिए नटो के धर्म और नटो के आम्नाय, दोनो को **नाट्य** नाम से कहा गया (**नटाना धर्म आम्नायो वा नाट्यम्**)। इसी आम्नाय के नाम पर उनके कुल ग्रन्थो का भी अभिधान हुआ। इस तरह **नाट्य** नटो के कुल-ग्रन्थ भी कहलाये। पाणिनि ने **नट** शब्द का उल्लेख छान्दोग, औविथक, याज्ञिक और बह्वृच आदि वैदिककालीन सस्थाओ के साथ किया है। इन सबके अपने-अपने स्वतन्त्र आम्नाय थे, जिनका प्रवर्तन वैदिक युग मे हो चुका था। इस प्रकार नटो का नाट्य आम्नाय भी वैदिक कालीन सिद्ध होता है।

इन नटसूत्रो की उत्तरकालीन स्थिति के सम्बन्ध मे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** (पृ० ३०८ ३१०, ३३० ३३१) मे लिखा है कि आचार्य शिलालि के नटसूत्रो का सन्निवेश (प्रति सस्करण) भरत के वर्तमान **नाट्यशास्त्र** मे उसी प्रकार हो गया, जैसे कि अग्निवेश के आयुर्वेद ग्रन्थ का **चरक सहिता** मे हुआ।

इस प्रकार पाणिनि की **अष्टाध्यायी** मे नाट्यविद्या के प्रामाणिक इतिवृत्त का ही पता नही चलता, अपितु उसकी प्राचीनता वैदिककालीन सिद्ध होती है। नाट्यशास्त्र पर लिखे शिलालि तथा कृशाश्व के **नटसूत्र** अपनी परम्परा के प्राचीनतम और पुष्ट प्रमाण है। आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ के लिए पूर्ववर्ती ग्रन्थो का ऋण स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होने उनका नामोल्लेख नही किया है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि **नटसूत्र** उनके समय तक जीवित था।

वैयाकरण पाणिनि के बाद भाष्यकार पतजलि ने अपने **महाभाष्य** मे नाट्य की जीवित परम्परा का उल्लेख किया है। उनके युग तक नाट्य का कितना अधिक विकास हो चुका था और समाज मे उसको किस चाव से अपनाया जाता था—इस सम्बन्ध मे भी पर्याप्त सामग्री देखने को मिलती है। **महाभाष्य** की इस नाट्य-विषयक सामग्री का अध्ययन करने से पूर्व काव्यो, महाकाव्यो, नाटको और कथा-आख्यायिकाओ के स्रोत **रामायण** तथा **महाभारत** का अनुशीलन करना आवश्यक है। ये दोनो महान् ग्रन्थ वैदिक और लौकिक युगो के सेतु है। उनमे वैदिक और लौकिक सस्कृति का अद्‌भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। यद्यपि इन दोनो ग्रन्थो की रचना बहुत समय पहले, दो विभिन्न युगो मे हो चुकी थी, फिर भी विद्वानो का अभिमत है कि उनके वर्तमान रूपो का स्थिरीकरण आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व, अर्थात् ५०० ई० पूर्व के आस-पास हुआ।

रामायण और महाभारत में नाट्यकला

रामायण और महाभारत दोनों ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी उपयोगिता कई दृष्टियों से सिद्ध हो चुकी है। इन दोनों ग्रन्थों में महामुनि वाल्मीकि और महामुनि व्यास ने वैदिक संस्कृति तथा विचारधारा को लोक-जीवन में अवतरित करने का स्तुत्य प्रयास किया। वैदिक युग में यज्ञ-यागों के समय सम्पादित होने वाले नृत्य-गीतादि आयोजनों का विशद रूप भी इन दोनों ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

वेदों और वैदिक साहित्य के बाद रचे गये विभिन्न विषयक ग्रन्थों में बिखरी हुई नाट्यकला विषयक सामग्री के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में ही नाट्यकला की शिल्प विधियों का पूर्णत विकास हो चुका था और समाज के सभी वर्गों द्वारा उसको मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। जन-जीवन की ही भाँति साहित्य के क्षेत्र में भी उसको व्यापक रूप में अपनाया जाने लगा था। इस प्रकार के ग्रन्थों में अष्टाध्यायी की सामग्री का विशेष महत्व है। उसके बाद रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, पुराण, महाभाष्य, जैन-बौद्धों के ग्रन्थ और कामसूत्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों में नाट्यकला के प्रयोग और प्रसार का ही नहीं, उसकी पारिभाषिक शब्दावली का भी उल्लेख हुआ है।

रामायण और महाभारत के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि उस युग में संगीत और नृत्य आदि कलाएँ किसी वर्ग विशेष की वस्तु न रह कर सामान्य लोक रुचि का विषय बन चुकी थीं। इन दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी विदित होता है कि राम-रावण और कौरव-पाण्डवों की पुरातन कथाओं को मौखिक रूप में सुरक्षित रखने और उनको समाज में प्रचलित करने का कार्य भी तत्कालीन कुशीलवों (नट-नर्तक-गायकों) और चारणों ने किया।

दोनों ग्रन्थों का यदि इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो उनमें कला-विषयक प्रचुर सामग्री देखने को मिलती है। रामायण के विभिन्न प्रसंगों से विदित होता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के युग में लोक-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कला के विभिन्न रूपों का प्रचार-प्रसार हो चुका था। उस युग में गीत, नृत्य, वाद्य और चित्र आदि जितनी भी कलाएँ थीं, उन सबको शिल्प के अन्तर्गत माना जाता था। इसलिए शिल्पकार का बड़ा सम्मान था। जन-सामान्य की शिल्प के प्रति गहरी अभिरुचि थी। स्वयं श्रीराम भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं थे। महामुनि ने श्रीराम को संगीत, वाद्य और चित्र आदि कलाओं का ज्ञाता (वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता) बताया है।

रामायण मे नृत्य (२।२०।१०), नृत्त (४।५।१७) और लास्य(२।६९।४) का ही उल्लेख नही किया गया है, अपितु उनकी प्रविधियो पर भी प्रकाश डाला गया है। इससे ज्ञात होता है कि **नाट्यशास्त्र** की रचना से पूर्व ही नृत्य, नृत्त और लास्य के स्वरूपों तथा उनकी पारस्परिक भिन्नता का भी प्रतिपादन हो चुका था।

रामायण के अध्ययन से हमे यह भी ज्ञात होता है कि उस युग मे सगीत, नृत्य और वाद्य नारियो की शिक्षा का एक अग था। रावण के अन्त पुर की स्त्रियाँ इन तीनो कलाओ मे निपुण थी (५।१०।३७-४९)। **रामायण** मे नारिया की सामाजिक स्थितियो का भी चित्रण देखने को मिलता है। इन सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि उस समय की नारियाँ रूपवती ही नही, नृत्यकला मे भी निपुण होती थी। वे सामूहिक एव सामाजिक आयोजनो एव जन्मोत्सव, राज्याभिषेक, विवाहोत्सव और विजयोत्सव के अवसरो पर अपनी कला के प्रदर्शन द्वारा समाज का मनोरजन किया करती थी।

रामायण मे नट (२।६।१४), नर्तक (१।१३।७) और शैलूष (२।८३।५) आदि अभिनेताओ का वर्णन देखने को मिलता है। नट जाति के लोग रगमच पर अवतरित होकर अभिनय करते थे, इसका स्पष्ट उल्लेख **रामायण** (६।३४।४२-४३) मे देखने को मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि शैलूष जाति के लोगो की समाज मे अधिक प्रतिष्ठा नही थी।

विभिन्न प्रकार के उत्सवो के समय नृत्य-गान द्वारा हर्षोल्लास मनाने के अनेक प्रसग रामायण मे देखने को मिलते है। उस युग मे मनाया जाने वाला इन्द्र-ध्वजोत्सव एक प्रकार का शरत्कालीन कृषि महोत्सव था, जिसका आयोजन नृत्य सगीत के साथ हुआ करता था। इसी प्रकार भगवान् श्रीराम के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव और राज्याभिषेक के समय अप्सराओ के नृत्य और गन्धर्वो के गान का उल्लेख हुआ है। श्रीराम के जन्मोत्सव के समय राजमार्ग पर नट-नर्तको की भीड लगी हुई थी

रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसकुला।

रामायण—१।१८।१८

इसी प्रकार श्रीराम के राज्याभिषेक मे सम्मिलित होने वाले सम्भ्रान्त लोगो मे नट-नर्तको का भी नाम आया है (अयो० सर्ग, ३, ४, १५)। श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ के समय भी नट-नर्तक उपस्थित थे (७।९१)। एक स्थान पर महामुनि ने सीता जी के द्वारा कहलाया है कि 'शैलूष लोगो की तरह श्रीराम मुझे दूसरो को सौप देना चाहते है (**शैलूष इव मा राम परेभ्यो दातुमिच्छति—२।३०।८**)। इससे ज्ञात होता है कि शैलूष लोग अपनी स्त्रियो को दूसरो के उपयोग के लिए दे देते थे। इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि समाज मे नट नर्तको को हीन दृष्टि से देखा जाता था।

रामायण युग की अयोध्या नगरी मे अनेक कलासघो और नाटकसघो के अस्तित्व का भी पता चलता है। उस युग मे नटो, नर्तको और गायको के अपने-अपने सघ हुआ करते थे। कलाओ के वाहक इन सघो को बडी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। भगवान् श्रीराम के राज्याभिषेक के समय का उल्लेख करते हुए महामुनि

ने (रामायण —२।६७।१५) लिखा है कि 'नटों, नर्तकों और गायकों की कर्णसुखद वाणियों को जनता बड़ी तन्मयता से सुनती थी' :

नटनर्तकसंघाना गायकाना च गायताम्।
यत. कर्णसुखा वाच. सुश्राव जनता तत.॥

इसी प्रकार महामुनि ने (रामायण—१।५।१२) एक अन्य प्रसग मे लिखा है कि उस समय की अयोध्या नगरी मे सर्वत्र गणिकाओ तथा नाटक-मण्डलियो के सघ वर्तमान थे

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ता सर्वतः पुरीम्।

नट, नर्तक तथा गायको की इस स्वतन्त्रता तथा लोकप्रियता को देख कर तत्कालीन समाज की सुख-समृद्धि और कल्याणकारी शासन का भी पता चलता है। समाज और शासन की इस सुव्यवस्था म ही कलाओ और कलाकारो की उन्नति सम्भव हो सकती है। महामुनि वाल्मीकि ने एक प्रसग मे स्वय ही कहा है कि शासनहीन जनपद मे नट-नर्तक प्रसन्न नही दिखायी देते (नौराजने जनपदे प्रहृष्ट नटनर्तका)। राम राज्य मे ऐसी बात नही थी। रामायण के अनेक सन्दर्भ इसके प्रमाण है।

उस युग मे न केवल नृत्य-सगीत का, अपितु नाटको का भी अभिनय होता था। ये नाटक प्राय सार्वजनिक मनोरजन के स्थानो, जिसको कि वहाँ समाज नाम दिया गया है, अभिनीत होते थे। जिस समय भरत अपने ननिहाल मे थे, उनके दु स्वप्न से दु खित मन के मनोरजन के लिए नाटक का अभिनय किया गया था। उसमे कुछ तो नृत्य कर रहे थे और कुछ मधुर वाद्य बजा रहे थे

वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।

रामायण—२।६९।४

दिव्यागना अप्सराओ और गन्धर्वो के नृत्य-गीत का रामायण मे प्रचुर उल्लेख देखने को मिलता है। *इन्द्रजित वध के बाद हर्षोल्लास मे गन्धर्वों-अप्सराओं के नृत्य का उल्लेख रामायण (६।९०।६६) मे इस* प्रकार किया गया है·

नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभि।

रामायण (४।२४।३४) के एक प्रसग मे लिखा हुआ है कि अप्सराएँ नृत्यगान-विद्या मे निपुण हुआ करती थी और अपनी इस कला से वे मनुष्यो का मन मोहने का कार्य करती थी।

सैनिक अभियान के समय राजाओ द्वारा कलाकारो और कलाकृतियो को साथ ले जाने का प्रचलन था। अनेक ग्रन्थो मे इस प्रकार के उल्लेख देखने को मिलते है। बहुत परवर्ती काल तक यह परम्परा बनी रही। **रामायण** (७।६४।३) मे भी इसकी चर्चा है। जब शत्रुघ्न ने मधुपुरी पर अभियान किया था, उस समय उनके साथ नट-नर्तकी भी थे। इसी प्रकार **रामायण** (२।९१।६२) मे भरद्वाज मुनि के आश्रम मे सैनिको द्वारा नाचने-हँसने और गाने का उल्लेख किया गया है

नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः।

नाटको के अभिनीत होने की चर्चा ऊपर की गयी है। स्वय श्रीराम मिश्रित (सस्कृत-प्राकृत) भाषाओ के नाटको के जानकार थे (**रामायण**—२।१।७)। लकेश्वर रावण को नृत्य-गीत के साथ भगवान् शकर की आराधना करते हुए दिखाया गया है

प्रसार्य हस्तान्प्रननर्त चाग्रत.।

रामायण—७।३१।४४

लकेश्वर रावण महान् ज्ञानी, अनेक भाषाओ मे पारगत, विद्वान् और कलाओ का जानकार था। सगीत और नाट्य मे उसकी विशेष अभिरुचि थी। उसकी पत्नी मन्दोदरी सगीत की विदुषी थी। उसकी राज्य सभा मे नाट्य-सगीत, चित्र आदि कलाओ के अनेक आचार्य थे, जो कि नाट्यशाला, सगीतशाला और चित्रशाला का सचालन करते थे।

इस प्रकार **रामायण** के विभिन्न प्रसगो से समाज के सभी वर्गो मे कला के प्रति गहन अभिरुचि का परिचय मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है उस युग मे नाट्यकला राष्ट्रीयता का एक अग बन गयी थी और इसी रूप मे उसको स्वीकार किया गया था। उत्तरकालीन समाज मे नाट्यकला की लोकप्रियता का कारण भी उसकी यही सर्वांगीण भावना रही है।

रामायण की ही भाँति महाभारत मे भी नाट्य-विषयक सामग्री देखने को मिलती है। महाभारत के प्रधान पात्र श्रीकृष्ण नाट्य सगीत आदि कलाओं के अधिष्ठाता माने जाते है। श्रीकृष्ण के **छालिक्य** नृत्य और वेणुवादन के साथ ब्रजनारियों द्वारा उसका प्रयोग भागवत सम्प्रदाय और विशेष रूप से **श्रीमद्भागवत** मे देखने को मिलता है। नृत्य और सगीत ब्रजनारियो के प्रिय विषय थे। श्रीकृष्ण उनके अधिष्ठाता एव प्रेरणा स्रोत थे। श्रीकृष्ण और गोपियो की रासक्रीडा भारत की लोक नाट्य-परम्परा का स्रोत मानी जाती है। आचार्य नन्दिकेश्वर के **अभिनयदर्पण** के अनुसार लोक-जीवन मे नाट्यवेद की परम्परा का प्रवर्तन ब्रजवनिताओ द्वारा हुआ।

यह भक्तिप्रधान युग था। इस युग मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवताओ की पूजा-अर्चना तथा इसी प्रकार के महोत्सवो के समय नृत्य-गान की परम्परा प्रचलित थी। राज-दरबारो मे कला और कलाकारो का विशेष आदर सम्मान था। रानियाँ और राजकन्याएँ सगीत, नृत्य तथा चित्र, तीनो कलाओ मे अभिरुचि

रखती थी। अर्जुन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक वर्ष के अज्ञातवास के समय वह छद्म वेश में राजा विराट् के यहाँ रहे और वहाँ उन्होंने राजा विराट् की कन्या को नाट्य-संगीत की शिक्षा दी थी। इस आधार पर अर्जुन की कलाप्रवीणता का भी पता चलता है।

महाभारत के हरिवंश पर्व (अध्याय २।९१।२६) में प्रद्युम्न विवाह की एक कथा है। इस कथा में कहा गया है कि वासुदेव श्रीकृष्ण के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक नट द्वारा एक अद्भुत नाट्य प्रदर्शन किये जाने पर उपस्थित ऋषि-महर्षि इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने पुरस्कार स्वरूप उसे आकाश में विचरण करने और स्वेच्छया रूप धारण करने का वरदान दिया

तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाट्यने नटस्तया।
महर्षीस्तोषयामास भद्रनामेति नामत.॥

हरिवंश के बाणासुर आख्यान (२।२९-३२) में हास्य विनोद पूर्ण अभिनय के आयोजित होने का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में पार्वती वेशधारिणी अप्सरा चित्रलेखा, विदग्ध रूपधारी शिव के गणों द्वारा जो अभिनय प्रस्तुत किया गया था, उस पर स्वयं शिव और पार्वती ने उनके चातुर्य पर विस्मय प्रकट किया था। इस प्रहसन को मुग्धाभिनय के नाम से कहा गया है। हरिवंश में चित्रलेखा के अतिरिक्त उर्वशी, हेमा, रम्भा, मेनका, मिश्रकेशी और तिलोत्तमा आदि सुन्दरी अप्सराओं द्वारा नृत्य एवं वाद्य-यन्त्रों के प्रयोग की सूचनाएँ देखने को मिलती हैं।

महाभारत (वनपर्व—१५।१३) में रामायण और कौवेररम्भाभिसार नामक दो नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। ये दोनों नाटक प्रद्युम्न विवाह के अवसर पर अभिनीत हुए थे। इस सन्दर्भ में नट, नर्तक, गायक और सूत्रधार आदि पात्रों के उल्लेख के साथ ही उनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी भी दी गयी है।

वैदिक-युग के कलानुरागी समाज में जिस समन नामक नृत्य-वाद्य-युक्त उत्सव के आयोजित होने का उल्लेख मिलता है, महाभारत युगीन समाज में उसकी लोकप्रियता और भी बढ़ी। इस युग में उसे समज्जा नाम से कहा गया है। समाज के सभी वर्गों में उसे व्यापक पैमाने पर अपनाया जाने लगा था। इस समज्जा नामक उत्सव के समय समाज के सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष और विशेष रूप से युवक-युवतियाँ एकत्र होकर नाट्य-संगीत आदि कलाओं में अपनी अभिज्ञता एवं विदग्धता का परिचय देते थे।

महान् शिल्पी मयासुर महाभारत काल में ही हुआ था, जिसने पाण्डवों के लिए अद्भुत सभा भवन का निर्माण किया था। इस महाभारतकालीन समाज में सभी प्रकार की कलाओं का प्रचार प्रसार था।

रामायण और महाभारत में अभिचर्चित नाट्यकला का उत्तरकालीन साहित्य और समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि नाट्यकला की यह उदात्त परम्परा बाद में कुछ शिथिल पड़ गयी। उसका कारण विधि ग्रन्थों के निषेध थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह बात स्पष्ट होती है।

●

अर्थशास्त्र में नाटचकला

आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र मौर्ययुगीन भारत का विश्वकोश है। उसमे अन्य विषयो के अतिरिक्त मौर्ययुगीन और उससे पूर्व की कला-सस्कृति का प्रामाणिक चित्रण देखने को मिलता है। उसके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय राज्य की ओर से सभी प्रकार की कलाओ के अध्ययन एव प्रयोग की पूरी व्यवस्था एव स्वतत्रता थी। भारत के भावी राजवशो द्वारा कला को जो राजकीय सरक्षण प्रदान किया गया, उसकी परम्परा और प्रेरणा का स्रोत मौर्ययुग ही रहा है। मध्ययुगीन भारत मे निर्मित अनेक कला-सस्थान और कला-मण्डप उसी प्रतिक्रिया के परिणाम थे, जिनके लिए मौर्ययुग मे व्यापक प्रचार-प्रसार और प्रयास हो चुका था।

मौर्ययुग की इस कला-थाती को साहित्य मे सुरक्षित रखने का सर्व प्रथम श्रेय कौटिल्य के अर्थशास्त्र को है। उसमे एक स्थल (अध्यक्ष प्रचार, अध्याय ४१) पर लिखा गया है कि गणिका, दासी, अभिनेत्री और गायिका आदि के लिए चित्रकारी, वीणावादन, वेणुवादन, मृदगवादन, गन्धनिर्माण और शृगार-सज्जा-प्रसाधन आदि चौसठ प्रकार की जितनी भी कलाएँ है, उनके शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए राज्य की ओर से सगीत-शालाओ, नाटचशालाओ और चित्रशालाओ की व्यवस्था थी, जिनका सचालन सुयोग्य आचार्यो द्वारा होता था।

आचार्य कौटिल्य ने **नट** (अभिनेता), **नर्तक**, **गायक**, **वादक** (कुशीलव), **वाग्जीव** (कथा-कहानी कहने वाले), **प्लवक** (कूद-फाँद कर खेल दिखाने वाले), **सौभिक** (ऐन्द्रजालिक) और **चारण** आदि को गुप्तचरो की श्रेणी मे परिगणित किया है। कलाकारो की ये मण्डलियाँ गा, बजा और नृत्य करके जीविकोपार्जन किया करती थी। ये मण्डलियाँ एक राज्य से दूसरे राज्य मे भी प्रवेश कर सकती थी। किन्तु ऐसी अवस्था मे उन्हे पूर्व निर्धारित राज कर (Entertainment) अदा करना होता था, जो कि प्रत्येक खेल के लिए पाँच पण नियुक्त था (**कौ० अ०**—१।७।११।२, १।१२।१७।१, ४।७९।४।२)।

उस युग मे कलाओ के प्रचार-प्रसार और आयोजन की सीमाएँ निश्चित थी। राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक उन्नति मे कलाएँ बाधक न बनने पावें तथा समाज उनको विलास के रूप मे न अपनाने पावे, इस दृष्टि से कलाओ के प्रचार-प्रसार पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये थे। कौटिल्य ने स्पष्ट निर्देश किया है कि गाँवो मे कोई भी नाटचगृह, विहार तथा क्रीडाशालाएँ नही होनी चाहिए। नट, नर्तक, गायक, वादक और कुशीलव (वैदेहक पुरुष और अम्बष्ठा स्त्री से उत्पन्न पुत्र कुशीलव कहलाता है) आदि गाँवो मे अपना खेल दिखा कर कृषि आदि कार्यो मे विघ्न-बाधा उपस्थित न करें। उन्होने लिखा है कि गाँवो मे

नाट्यशालाएँ आदि न होने से ग्रामवासी अपने-अपने कृषि कार्य में लगे रहते हैं, जिससे राजकोष की अभिवृद्धि होती है और सारा राष्ट्र धन-धान्य से समृद्ध होता है (कौ० अ०—२।१७।१।१)।

देश में इन कलाकारों का सर्वथा ह्रास न होने पावे और उनके द्वारा जीवित कला की परम्परा क्षीण न होने पावे—इस दृष्टि से राज्य की ओर से कलाकारों के लिए नियमित वृत्ति या पारितोषिक निर्धारित था। कौटिल्य ने एक स्थान (५।९१।३।२) पर लिखा है कि राजा को चाहिए वह नट-नर्तक-गायकों में प्रत्येक को ढाई सौ पण और उनमें से जो अच्छा बाजा बजाने वाला हो, उसे पांच सौ पण प्रति वर्ष वेतन के रूप में दे।

राज दरबार में भी इस प्रकार के लोगों के नियुक्त होने का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह गायन, वादन, नृत्य, नाट्य, लेखन, चित्रकारी, वीणा, वेणु, मृदंग, माल्यग्रथन, पादसम्वाहन और प्रसाधन आदि कलाओं में निपुण लोगों की राज दरबार में नियुक्ति करे। इसी प्रकार उसको चाहिए कि वह गणिका, दासी और नर्तकी आदि को कलाओं की शिक्षा देने वाले आचार्यों का प्रबन्ध करे। उनकी आजीविका का प्रबन्ध वह उस आय से करे, जो नगरों तथा गाँवों से आती है (कौ० अ०—२।४३।२७।५)।

कलाकारों और कला का स्थान उन्नत बना रहे और अर्थ अथवा सम्मान आदि के प्रलोभन में उसको व्यवसाय का जरिया न बनाया जा सके—इस बात को ध्यान में रख कर आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि वर्षा ऋतु में नट-नर्तक-गायक-वादक आदि को एक ही स्थान पर निवास करना चाहिए। उनकी कला से प्रसन्न होकर यदि कोई व्यक्ति उन्हें उचित मात्रा से अधिक पुरस्कार दे, तो उसे वे स्वीकार न करें। अपनी अधिक प्रशंसा को भी अनसुना कर दें। यदि वे इन नियमों का उल्लंघन करें, तो उन्हें बारह पण का दण्ड दिया जाय। किसी विशेष देश, जाति, गोत्र या चरण का उपहास अथवा निन्दा और मैथुन-सम्बन्धी बातों को छोड़ कर नट लोग अपनी इच्छानुसार खेल दिखा सकते हैं (कुशीलवा वर्षारात्रिमेकस्था वसेयु। कामदानमतिमात्रं स्यातिवाद च वर्जयेयु। तस्यातिक्रमे द्वादशपणो दण्ड। कामं देशजातिगोत्रचरणमैथुनापहाने नर्मयेयु—कौ० अ० ४।७६।१।५)।

इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में मौर्ययुगीन भारत के कलाकारों, कलाओं और कलाप्रियता की स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। नगरों से लेकर गाँवों तक कला का, विशेष रूप से नृत्य-अभिनय का प्रचार-प्रसार था। कलाकारों के अनेक वर्ग अपनी-अपनी कलाओं की उन्नति में लगे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विधि निषेधों के बावजूद भी तत्कालीन समाज कला और कलाकारों का आदर-सम्मान करता था।

महाभाष्य में नाट्यकला

वैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी मे नाट्य विषयक सामग्री का अनुशीलन नटसूत्र के अन्तर्गत पहले किया जा चुका है। रामायण और महाभारत काल मे और उसके बाद कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे नाट्य विद्या पर जो प्रचुर सामग्री सुरक्षित है, उसका विवेचन भी यथास्थान किया जा चुका है। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी की परम्परा मे लिखा गया व्याकरणशास्त्र का विशाल ग्रन्थ महाभाष्य पतजलि का और सम्पूर्ण सस्कृत वाङमय का एक प्रौढ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल २०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। भाष्यकार पतजलि ने अपने इस महाग्रन्थ मे तत्कालीन भारत की सामाजिक, सास्कृतिक और धार्मिक प्रवृत्तियो के साथ-साथ कलात्मक अभिरुचि का भी दिग्दर्शन किया है।

रामायण-महाभारत-काल (५०० ई० पूर्व) मे नृत्य, गीत, वाद्य और चित्र आदि कलाओ को, वेदागकालीन मान्यताओ के अनुसार शिल्प के अन्तर्गत माना जाता था। इसलिए उनमे शिल्पकार का प्रशस्त यश गाया गया है। भाष्यकार पतजलि के समय (२०० ई० पूर्व) तक नृत्य और वाद्य, शिल्प की परिधियो से निकल कर स्वतत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। कलाओ मे उनको प्रमुख स्थान दिया जाने लगा था। नर-नारियो द्वारा सम्पादित नृत्य को हर्षातिरेक का विषय माना जाने लगा था (महाभाष्य—७।३।८७)।

भाष्यकार ने गात्र विक्षेपणार्थक नृत् धातु से नृत्य शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। इस अर्थ मे नृत्य का अर्थ उन्होने मानवेतर पशु-पक्षियो की क्रियाओ मे भी ग्रहण किया है। नृत्य का यह व्यापक अर्थ-ग्रहण भाष्यकार की विशेष देन है। महाभाष्य (७।३।८७) मे उन्होने लिखा है कि 'अपनी प्रियतमा को देख कर मोर नाचता है' (तथा प्रिया मयूरः प्रनर्त्ततीति)।

महाभाष्य मे हमे नट-नर्तक, रगमच और नाट्याभिनय विषयक प्रचुर सामग्री देखने को मिलती है। महाभाष्य (२।४।७७, २।१।६९) के विभिन्न स्थलो को देख कर ज्ञात होता है कि नट सगीतज्ञ और सर्वकेशी हुआ करते थे। वे सिर मे बडे-बडे बाल और दाढी-मूंछे रखते थे। वे कभी-कभी नारी पात्रो की भूमिका भी अदा करते थे और उस समय कृत्रिम केश-स्तन धारण करते थे। इस अर्थ मे भाष्यकार ने उन्हे भ्रंकुश नाम दिया है।

महाभाष्य (३।१।२६) के एक स्थल पर नट के लिए शोभनिक शब्द का उल्लेख हुआ है। पात्रानुकूल मुखराग, प्रसाधन और भावाभिव्यजन प्रदर्शित करने के कारण ही नट को शोभनिक कहा गया। महाभाष्य

मे ही हम यह भी देखने को मिलता है कि अभिनेता कंस का अभिनय करते समय जिस मुखराग को धारण करता था, राम का अभिनय करने के लिए दूसरा ही रूप बनाता था।

नट और नर्तक में बहुधा कोई अन्तर नहीं माना जाता है, किन्तु प्राचीन ग्रन्थो के अध्ययन से विदित होता है कि दोनो की अलग-अलग श्रेणियाँ हुआ करती थी। महाभाष्य (४।१।११४) के एक स्थल से ज्ञात होता है कि नट का प्रयोग अभिनेता के लिए किया जाता था। नटो की स्त्रियो को नटी कहा जाता था। नट के अभिनेता अभिधान के कारण नटी को अभिनेतृ भी कहा जाता था। उनकी सन्तान नाटेर नाम से अभिहित होती थी।

नर्तक और नर्तकी, नट-नटी से भिन्न श्रेणी के होते थे। नृत्यक्रिया सम्पादन करने के कारण उनको यह नाम दिया गया। नृत्यकला की न्यूनाधिक्य निपुणता के कारण उनकी नर्तक-नर्तकिका, नर्तकतर-नर्तकितरा और नर्तकतम-नर्तकितमा आदि विभिन्न श्रेणियाँ बन गयी (महाभाष्य—६।३।४२)।

ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि के समय तक नट-नटियो की अपेक्षा नर्तक-नर्तकियो का स्थान ऊँचा माना जाने लगा था। नट-नटियो की प्रतिष्ठा समाज मे गिर चुकी थी। रंगमंच पर जाती हुई नटियो से जब लोग पूछते थे कि 'तुम किसकी हो?' (कस्य यूयम्, कस्य यूयम्), तो उनका उत्तर होता था 'तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ' (तव, तवेति)। महाभाष्य (६।१।२) के इस उल्लेख से और धर्मसूत्रो, स्मृतिग्रन्थो के विधानो से स्पष्ट है कि नट अपनी स्त्रियो को दूसरो के उपयोग के लिए देने मे कोई संकोच नही करते थे। इसलिए नट-नटियो को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था और श्रमणो, परिव्राजको, भिक्षु भिक्षुणियो तथा ब्रह्मचर्य आश्रम मे जीवन बिताने वाले लोगो का नाट्य-समारोहो मे सम्मिलित होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।

नाटचकला और नट-नटियो तथा नर्तक-नर्तकियो के अतिरिक्त महाभाष्य मे रंगमंच और नाट्याभिनय विषयक सामग्री भी देखने को मिलती है। महाभाष्य (१।४।१९, ३।१।२६, ६।१।२) के कतिपय प्रसंगो मे रंग से रंगमंच और रंगमंच पर नाटको के अभिनय होने का उल्लेख देखने को मिलता है। इस विषय की सामग्री का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि भाष्यकार पतंजलि के समय तक रंगमंच का पर्याप्त विकास हो चुका था। नटो द्वारा रंगमंच पर नाटको का अभिनय करने का स्पष्ट उल्लेख उक्त सन्दर्भों में हुआ है। इतना ही नहीं महाभाष्य (३।१।२६) के कंसवध और बलिबन्ध नामक नाटको के प्रयोग (अभिनय) की भी चर्चा देखने को मिलती है। इस सन्दर्भ को उद्धृत करते हुए डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने अपनी पुस्तक पतंजलि कालीन भारत (पृ० ५०१) मे लिखा है "नट लोग प्रत्यक्ष ही कंस को मारते हैं या बलि को बाँधते हैं। चित्रो मे भी प्रहारार्थ उठाये गये हाथ और कंस-कर्षण आदि क्रियाएँ रहती हैं। उनके लिए भी वर्तमान काल का प्रयोग उचित है। रह ग्रन्थिक लोग, वे भी प्रारम्भ से मृत्यु तक उनकी ऋद्धि का वर्णन करते हुए बुद्धि में उन विषयो को प्रकाशित करते हैं। श्रोता लोग उन विषयो की बुद्धि मे कल्पना करते जाते हैं। उनके मन घटनाओ के साथ तदाकार होते जाते हैं। इसीलिए श्रोता और दर्शक भिन्न भिन्न मत के दिखायी पड़ते हैं। कोई कंसपक्षीय होता है और कोई कृष्णपक्षीय। वे अपने प्रिय पात्र को देख कर प्रसन्न होते हैं और पराजय

देख कर दुखी। कभी उनका मुख लाल होता है, कभी स्याह पड जाता है। इसीलिए मानसिक कल्पना के आधार पर अतीत की घटनाओ के लिए तीनो कालो का प्रयोग देखा जाता है।"

इस उद्धरण मे भाष्यकार ने रगमच पर अभिनीत **कसवध** और **बलिबन्ध** नाटको की अतीत कालीन घटनाओ का उल्लेख करते हुए दर्शको तथा श्रोताओ पर उनके प्रभाव की प्रतिक्रिया का चित्र अकित किया है। भिन्न-भिन्न मत के दर्शको एव श्रोताओ पर नाटक की घटनाओ के तदनुरूप प्रभाव के कारण ही महाकवि कालिदास ने **मालविकाग्निमित्र** मे लिखा है कि: 'भिन्न-भिन्न रुचि के लोगो के लिए नाटक समान रूप से मनोरजन का विषय होता है।'

उक्त उद्धरण से यह भी विदित होता है कि आज की ही तरह तब भी रगमच की सज्जा के लिए पर्दो तथा नाट्यशाला की भित्तियो को विभिन्न कलात्मक दृश्यो से चित्रित किया जाता था। वे दृश्य बहुधा उस नाटक की घटनाओ पर आधारित होते थे, जिसका अभिनय किया जाता था। आजकल अभिनेताओ को पर्दे की ओट से जैसे प्रमोट किया जाता है या सम्वाद सुनाये जाते हैं, उसी प्रकार का कार्य करने वाले व्यक्ति को **महाभाष्य** मे **ग्रन्थिक** नाम से कहा गया है। डॉ० अग्निहोत्री लिखते हैं कि "अभिनय के साथ एक व्यक्ति कथा-प्रसगो को जोडता जाता था। जहा कथावस्तु सम्वादो द्वारा सुस्पष्ट नही हो पाती थी, वहाँ एक व्यक्ति वाचक के रूप मे पुस्तक के आवश्यक अश पढ देता था।" नाटक के विभिन्न पात्रो द्वारा अभिनेय कथावस्तु के प्रसगो को ग्रथित करने या जोडने के कारण ही उसे **ग्रन्थिक** नाम से कहा गया।

ग्रन्थिक के अतिरिक्त भाष्यकार ने **आरम्भक** शब्द का भी उल्लेख किया है। वह नाट्य-प्रयोग का प्रेरक होता था और उसके निर्देशन पर ही श्रोताओ एव दर्शको के समक्ष पात्रो द्वारा रगमच पर अभिनय आरम्भ होता था। इस अर्थ मे **आरम्भक** एक ओर डाइरेक्टर का काम करता था और दूसरी ओर सूत्रधार एव उद्घोषक की भूमिका का भी निर्वाह करता था। **महाभाष्य** से हमे यह भी विदित होता है कि पात्रो द्वारा रगमच पर कथावस्तु विभिन्न आगिक हाव-भावो सहित सस्वर प्रस्तुत की जाती थी।

इस प्रकार **महाभाष्य** के विभिन्न सन्दर्भों की सामग्री के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैयाकरण पतजलि के समय तक रगमच पर नाटको के अभिनय का पर्याप्त प्रचलन हो चुका था और आज की ही तरह तब भी सहृदय सामाजिक उनसे मनोरजन किया करते थे।

●

कामसूत्र में नाट्यकला

आचार्य वात्स्यायन के कामसूत्र में नाट्यकला की अनेकविध चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। कामसूत्र स्वयं एक कला-विषयक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इस दृष्टि से उसमें भारत की तत्कालीन कला, संस्कृति और लोकाचारों का विशद वर्णन देखने को मिलता है। गुप्त युग की स्वर्णिम संस्कृति का एक प्रकार से वह दर्पण है।

महायान बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर के बाद कलाओं के सम्बन्ध में शास्त्रीय विचार कामसूत्र में ही देखने को मिलते हैं। कामसूत्र के कला-विवेचन में कुछ भिन्नता एवं विशेषता है। पहली भिन्नता संख्या की है और दूसरी रूप-भेदों की। उससे पूर्व कलाओं के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और भ्रान्ति थी, उसको वात्स्यायन ने ही दूर किया। वात्स्यायन द्वारा वर्गीकृत एवं निर्धारित कला भेदों को इसलिए भी अधिक महत्व दिया जाता है कि परवर्ती साहित्य में जहां भी उनकी चर्चा हुई है, उसका आधार वात्स्यायन द्वारा निर्धारित एवं परिगणित कलाएँ ही रही हैं।

वात्स्यायन के कामसूत्र में ६४ प्रकार की कलाओं की नामावली दी गयी है। उसमें नृत्य, संगीत और वादन का उल्लेख हुआ है। उसके प्रथम नागरक प्रकरण में लिखा है कि एक रसिक नागरक को दैनिक दिनचर्या में कलाओं द्वारा मनोविनोद करना चाहिए (तास्ताश्च कलाक्रीडा)। यह प्रसंग बड़ा ही महत्वपूर्ण है। रसिक नागरक की दिनचर्या का उल्लेख करते हुए वहाँ कहा गया है कि प्रति दिन तीसरे पहर उसे इस प्रकार की सभा-गोष्ठियों का आयोजन करना चाहिए, जिसमें नृत्य, गीत, वादन कलाओं के साथ-साथ काव्यशास्त्रादि ज्ञानवर्द्धक विषयों पर भी वाद विवाद होता हो। इस प्रकार की नृत्य आदि विभिन्न कलाओं और काव्यशास्त्र आदि विषयों की चर्चा के लिए महानिबन्धन नामक कला-गोष्ठियों के आयोजन की विशेष व्यवस्था दी गयी है। इन गोष्ठियों में प्रति मास या मास में दो बार सरस्वती भवन में नियुक्त कलाकारों द्वारा तथा बाहर से बुलाये गये नट-नर्तकों द्वारा किसी पूर्व निश्चित दिन या पर्व दिन पर विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन होता था (पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यसमाज—१।४।२७)। इन सभा-गोष्ठियों में बाहर से आमंत्रित नट-नर्तक-गायकों को पुरस्कार देकर सत्कारपूर्वक विदा किया जाता था (कुशीलवाश्चागन्तव प्रेक्षणकमेषां दद्यु—१।४।३०)। उनमें से जो सुयोग्य कलाकार होते थे, उन्हें कुछ दिन और ठहरने के लिए कहा जाता था, अन्यथा सभी को सत्कार-पूर्वक उचित पारिश्रमिक देकर विदा कर दिया जाता था (ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा—१।४।३०)।

आचार्य वात्स्यायन ने तत्कालीन कलाप्रेमी समाज द्वारा आयोजित ऐसी सामूहिक गोष्ठियो (गोष्ठी समवाय) का भी उल्लेख किया है, जो किसी वेश्या के घर पर या नाट्यशाला मे अथवा किसी समान विद्या-बुद्धि-शील-वित्त सुपरिचित मित्र के घर पर आयोजित हुआ करती थी। इस प्रकार की गोष्ठियो मे जिन विषयो का आयोजन किया जाता था, उनमे नृत्य और सगीत का भी कार्यक्रम सम्मिलित हुआ करता था। विभिन्न ऋतु-उत्सवो, क्रीडोत्सवो और पर्व-त्योहारो पर अभिनय का भी आयोजन हुआ करता था।

नागरक के साथ सहचर के रूप मे विदूषक विशेष रूप से इसलिए नियुक्त होता था कि वह सगीत, नृत्य आदि कलाओ द्वारा नागरक का मनोरजन करे।

उत्तम प्रकृति के सर्व-गुण-सम्पन्न सम्भ्रान्त नायको की भाँति वेश्याओ मे भी रूप, यौवन, श्री और माधुर्य आदि गुणो के अतिरिक्त काव्य और कला के प्रति भी स्वाभाविक अभिरुचि होती थी। नृत्य और सगीत उनके जीवन के अपरिहार्य अग थे। उनके लिए यह विधान (राजाज्ञा) था कि अपने घर पर मेल-मुलाकात के लिए आये प्रेमीजनो का वह पान-पुष्प-माला आदि से सत्कार करे और नृत्य-सगीत आदि की गोष्ठियो (महफिलो) का आयोजन कर उन्हे प्रसन्न करें

ताम्बूलानि स्रजश्चैव संस्कृत चानुलेपनम्।
आगतस्याहरेत्प्रीत्या कलागोष्ठींश्च योजयेत्॥

कामसूत्र—६।१।३१

कामसूत्र के इसी वैशिक अधिकरण मे आचार्य वात्स्यायन ने वेश्याओ की श्रेणियो का विभाजन करते हुए गणिका नामक वेश्या के सम्बन्ध मे लिखा है कि वह नृत्य, सगीत आदि कलाओ मे निपुण होती थी। उसके व्यवसाय के लिए ये दोनो कलाएँ आवश्यक साधन थी। अपनी पुत्रियो के प्रति सब से पहला कर्तव्य उसका यह होता था कि उन्हें अपनी परम्परा द्वारा प्राप्त नृत्य-सगीत आदि ललित कलाओ मे दीक्षित किया जाय। इस सन्दर्भ मे आचार्य वात्स्यायन ने ऐसी गन्धर्वशालाओ का उल्लेख किया है, जहाँ गणिका पुत्री तथा इसी प्रकार की कलानुरागिणी युवतियो के लिए नृत्य-सगीत की विधिवत् शिक्षा की व्यवस्था थी।

कामसूत्र मे वर्णित उक्त नाट्य-सगीत आदि कलाओ का सभ्य, सम्पन्न एव सम्भ्रान्त समाज मे तो व्यसन था ही, साथ ही ग्रामो मे भी उनका अच्छा प्रचार-प्रसार था और वहाँ भी इस प्रकार की कला गोष्ठियो के आयोजन का प्रबन्ध था।

इस प्रकार आचार्य वात्स्यायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि नाट्य-सगीत कलाएँ उस युग के समाज का अग बन गयी थी और समाज के सभी वर्गो तथा देश के प्रत्येक क्षेत्र मे उनका पर्याप्त प्रचार-प्रसार हो चुका था। यह युग ऐसा था, जब वरिष्ठता, विद्वता और प्रतिष्ठा के लिए कलाओ को मापदण्ड माना जाता था।

●

पुराणों में नाट्यकला

पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं। उनमे धर्म, अध्यात्म, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल आदि अनेक विषयों की सामग्री समाविष्ट है। वे वैदिक संस्कृति एव धर्म के उन्नायक, वाहक एव प्रवर्तक हैं। जहां तक कलाओ का सम्बन्ध है, वैदिक युग की अपेक्षा पौराणिक युग मे उनके आदर-सम्मान और प्रचार-प्रसार का स्वरूप व्यापक रूप मे देखने को मिलता है।

महाभारत के प्रसग मे हरिवंश पुराण की नाटचकला विषयक सामग्री का विवेचन पहले किया जा चुका है। हरिवंश पुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे कला की मौलिक एव प्राविधिक सामग्री सुरक्षित है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र मे कला के षडगा का सागोपाग शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इन दोना पुराण ग्रन्थों की कला-सामग्री ने सस्कृत के परवर्ती ग्रन्थों को ही नही, जैन-बौद्धों की कला-विषयक स्थापनाओ को भी प्रभावित किया।

अभिनय कला की दृष्टि से हरिवश पुराण की सामग्री का विशेष महत्व है। इस पुराण मे बिखरी हुई तत्सम्बन्धी विपुल सामग्री का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के आस-पास अभिनय कला बहुत उन्नति पर थी। इसका प्रभाव परवर्ती पुराणो एव अन्य विषय के ग्रन्थों पर भी लक्षित हुआ। हरिवश मे निहित नाटच तत्त्व वैदिक युगीन नाटच भावना का विकसित रूप है। वैदिक युग मे यज्ञो के समय सम्पन्न होने वाले नाटचाभिनय का परिष्कृत एव सस्कृत रूप हरिवश मे वर्णित अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर आयोजित होने वाले नाटच मे देखने को मिलता है।

पौराणिक युग की नाटचकला के परिचायक प्रमाण उक्त दोना पुराणा के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण और भागवत आदि मे उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मपुराण (१८९।२०) मे रासक्रीडा का सुव्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। रास की यह परम्परा विष्णुपुराण (५।१३), पद्मपुराण (पाता० ६९। ८७-११८), ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (कृष्ण० २८-५५) और भागवत आदि मे विस्तार से वर्णित है। भागवत की रासपंचाध्यायी मे हमे रासलीला का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है।

सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से यदि पुराणो का अनुशीलन किया जाय तो तत्कालीन लोक-जीवन मे नृत्य-सगीत की उन्नत परम्परा का पता लगाया जा सकता है। पुराणो की रचना बहुत बाद मे होने के बावजूद भी उनकी विषय-सामग्री बहुत प्राचीन है। इस दृष्टि से उनमें युग-युगा की सांस्कृतिक एव वैचारिक धारा का सगम हुआ है। आगे की पीढियो को कविता, कला और कथा का दाय पुराणो से ही प्राप्त हुआ।

रासलीला और छालिक्य अभिनय पौराणिक युग की विशेष देन है। नाट्यकला को भक्ति, प्रेम और आराधना का रूप देकर पुराणों के ऋषियों ने उसको नया परिवेश दिया। धर्म-सम्पूजित कला की यह रस धारा लोक-मानस में ऐसी घुल मिल गयी कि अब तक उसकी अटूट परम्परा बनी हुई है। विभिन्न प्रदेशों के लोक-नृत्यों को अपनी थाती देकर रासलीला ने अपना विकास किया।

जैन-बौद्ध ग्रन्थों में नाट्यकला

भारतीय कला के उन्नयन और प्रचार प्रसार में जैन-बौद्धों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। धर्म की पीठिका पर कलाओं की थाती को स्थापित करके उन्होंने द्वीपान्तरों में उसका प्रचार प्रसार किया। जहाँ तक नाट्यकला का सम्बन्ध है, विधिग्रन्थों और जैन-बौद्धों के धर्मग्रन्थों में उसके आयोजन तथा प्रदर्शन पर कुछ सीमाओं तक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, किन्तु फिर भी उसके वशीभूत हुए ऐसे लोगों के भी उदाहरण देखने को मिलते हैं जिन्होंने बार-बार उन धर्माज्ञाओं का उल्लंघन किया।

जैन धर्म के ग्रन्थों में ६४ तथा ७२ प्रकार की कलाओं का उल्लेख हुआ है। **समवायागसूत्र और औपपत्तिकसूत्र** में इन कलाओं की नामावली दी गयी है। इन दोनों ग्रन्थों की कला-सूची में यद्यपि भिन्नता है, फिर भी उनकी संख्या में एकता है। **समवायागसूत्र** की सूची में नृत्य, गीत, वाद्य और ताल को भी कलाओं में परिगणित किया गया है। इसी प्रकार **औपपत्तिकसूत्र** में नाट्यशास्त्र, ताल, वाद्य की चर्चा की गयी है। *नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य और ताल के सम्बन्ध में जैन पुराणों में प्रचुर सामग्री देखने को मिलती है। वहाँ इन ललित कलाओं को शिक्षा का आवश्यक अंग बताया गया है। जैसा वैदिक एवं पौराणिक,* **महाभारत और रामायण** के उल्लेखों से भी ज्ञात है, जैन धर्म के ग्रन्थों में भी इन कलाओं का एक उद्देश्य युवक-युवतियों की पारस्परिक स्पर्धा का विषय माना गया है।

जैनों के **कल्पसूत्र-टीका** और **कालिका पुराण** में ६४ प्रकार की कलाओं का उल्लेख हुआ है। कल्पसूत्र टीका में इन कलाओं को **महिला गुण** कहा गया है। **कालिका पुराण** (१०वीं श०) में कला की उत्पत्ति विषयक एक कथा में बताया गया है कि ब्रह्मा ने पहले प्रजापति तथा ऋषियों को उत्पन्न किया, फिर संध्या नामक कन्या को जन्म दिया और तदनन्तर मदन देवता (मन्मथ) को पैदा किया। मदन देवता को ब्रह्मा ने यह वरदान दिया कि उसके बाणों के लक्ष्य से कोई बच न सकेगा। इसलिए सृष्टि रचना में वह ब्रह्मा की सहायता करे। अपने बाणों का प्रथम प्रयोग मदन ने ब्रह्मा और संध्या पर किया। फलतः वे कामपीड़ा से पीड़ित हो गये और अपने प्रथम समागम में ब्रह्मा-संध्या ने जिन वस्तुओं को जन्म दिया, उनमें ६४ कलाएँ भी थीं।

उक्त दोनों ग्रन्थों की कला-सूची में नाट्य, संगीत, गायन, वाद्य आदि का भी नाम है। इस तरह स्पष्ट है कि जैन धर्म में नाट्यकला को लोकप्रिय कला के रूप में अपनाया गया और साहित्य में भी उसको उच्च स्थान प्राप्त हुआ।

जैनागमों में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, कौशाम्बी और मिथिला आदि भारत के प्राचीन नगरों तथा वहाँ के नागरिक जीवन का विस्तार से वर्णन किया गया है। उन वर्णनों में तत्कालीन समृद्धि, नानाविध कलाओं, विद्याओं और मनोरंजनों का भी उल्लेख हुआ है। उववाइसूत्र में चम्पा नगरी का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि वहाँ नटों, नर्तकों, लास्य नृत्य करने वाली नर्तकियों और तानपूरा वीणा आदि वाद्यों को बजाने वाले कलाकारों का गमनागमन होता रहता था। वह नगरी कुशल शिल्पियों एवं स्थपतियों द्वारा तैयार किये गये भव्य भवनों से सुशोभित थी। इसी चम्पा नगरी के सम्बन्ध में औपपातिकसूत्र में पूर्णभद्र नामक चैत्य का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि वहाँ नटों, नर्तकों, नाना प्रकार के खिलाड़ियों और संगीतज्ञों आदि का जमघट लगा रहता था। इसी प्रकार जैन धर्म के राजप्रश्नीय आगम ग्रन्थ में महावीर स्वामी के जीवन चरित को नृत्यप्रधान नाट्य में अभिनीत किये जाने का उल्लेख हुआ है। इस विस्तृत उपाख्यान के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक धार्मिक प्रतिबन्धों के बावजूद भी जैन धर्मानुयायी समाज की नृत्यकला के प्रति गहन अभिरुचि में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई थी।

जैन धर्म द्वारा पल्लवित स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला के क्षेत्र में नृत्य की विभिन्न भाव-भंगिमाओं का उत्कीर्णन एवं आलेखन होने के कारण भी तत्कालीन जैन समाज में नृत्यकला की लोकप्रियता का पता चलता है। अभय, वरद आदि की मुद्राओं को धारण किये तीर्थंकर महात्माओं की भव्य विशाल प्रतिमाओं और उनकी प्राणवन्त तेजस्वी आँखों में विशेष भाव दर्शित हैं। इसी प्रकार जैन कलम के चित्रकारों ने अपनी कला-कृतियों में सुन्दरी नृत्यांगनाओं का रसभावपूर्ण चित्रण किया है।

कला के उत्थान और प्रचार-प्रसार में जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म के अनुयायी कलाकारों का अधिक योगदान रहा है। कला को उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने और उसके माध्यम से भारतीय संस्कृति को द्वीपान्तरों में ले जाने का श्रेय भी बौद्ध कलाकारों को है।

ईसा पूर्व में रचे गये बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि उस समय तक नाट्यकला का राष्ट्रव्यापी विकास हो चुका था। विनयपिटक के चुल्लवग्ग की एक कथा में बताया गया है कि अश्वजित् और पुनर्वसु दो भिक्षु एक बार जब कीटागिरि की रंगशाला में अभिनय देखने के बाद किसी नर्तकी से प्रेमालाप करते हुए पकड़े गये तो विहार के महास्थविर ने तत्काल ही उन्हें विहार से निकाल दिया। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि तब नाट्यशालाओं का निर्माण हो चुका था और सार्वजनिक मनोरंजन के लिए उन में अभिनय आयोजित होने लगे थे।

कलाओं का विस्तार में विवेचन करने वाले प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में ललितविस्तर का नाम प्रमुख है, जिसका रचनाकाल तीसरी श० ई० माना जाता है। यह ग्रन्थ यद्यपि महायान बौद्ध सम्प्रदाय का है, फिर भी सर्व प्रथम उसी में कला की इतनी वृहद् सूची देखने को मिलती है। इस सूची में लगभग ७९ कलाओं के नाम गिनाये गये हैं और इस सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि इन सभी कलाओं में राजकुमार सिद्धार्थ सिद्धहस्त थे। इसकी सत्यता जहाँ तक हो, किन्तु इस धारणा के मूल में राजकुमार सिद्धार्थ के असामान्य व्यक्तित्व का परिचय अवश्य मिलता है। साथ ही यह भी जानने को मिलता है कि कलाओं में विज्ञता प्राप्त करना राज-परिवार के व्यक्तियों को भी आवश्यक था।

ललितविस्तर की इस कला-सूची मे वीणा, वाद्य, नृत्य, गीत, पाठ्य, लास्य और नाट्य आदि का भी उल्लेख किया गया है। इन कला-भेदो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे कलाओ की अनेक स्वतन्त्र श्रेणियाँ निर्धारित हो चुकी थी।

बौद्ध ग्रन्थो मे नाट्यकला और नाट्यशाला सम्बन्धी विवरण बिखरे हुए रूप मे मिलते हैं। बौद्ध युग मे चित्रकला और मूर्तिकला को विशेष रूप से अपनाया गया। ये दोनो कलाएँ धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भी बडी कारगर सिद्ध हुईं। नाट्यकला तथा अन्य कलाओ को उस समय विशेष प्रोत्साहन नही मिला। **दिव्यावदान** की एक कथा मे रुद्रदामन को वीणा बजाते हुए और उसकी स्त्री चन्द्रावती को नृत्य करते हुए दर्शित किया गया है। फिर भी धर्म की दृष्टि से इस प्रकार के कार्य वर्जित समझे जाते थे और भिक्षु-भिक्षुणियो का उनमे सम्मिलित होना निषिद्ध था।

बौद्धकला की थाती जिन प्राचीन गुफाओ मे सुरक्षित है, उसको देख कर स्पष्ट ही यह ज्ञात होता है कि वे युगद्रष्टा कलाकार अभिनय विद्या के भी पूर्ण ज्ञाता थे। अजन्ता, एलोरा, बाघ और सित्तनवासल की कला कृतियो मे रूपसी नृत्यागनाएँ तथा अभिनय की विभिन्न भाव मुद्राएँ अकित हुई मिलती हैं। ये हस्त मुद्राएँ शास्त्रीय दृष्टि से, विशेष रूप से **अभिनयदर्पण** के लक्षण-विनियोगो के अनुसार सर्वथा शुद्ध साबित हुई हैं। बौद्ध शैली के चित्रो मे अभिनय-नृत्य की बहुसख्यक कृतियाँ आज भी देश विदेश मे सुरक्षित हैं। चित्रकला के अतिरिक्त बुद्ध, बोधिसत्त्व आदि की प्रतिमाओ मे विभिन्न भावमयी मुद्राएँ देखने को मिलती है।

इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म के कलाकारो, कलाचार्यो और कृतिकारो ने अन्य कलाओ के साथ नाट्यकला के सम्बन्ध मे भी तत्कालीन जन-जीवन की अभिरुचि का सम्यक दिग्दर्शन किया है।

•

रासलीला और छालिक्य अभिनय

रासलीला

भारतीय जन-जीवन और साहित्य म परम्परा से कला के प्रति जो प्रकृत एव गहन अभिरुचि रही है, रासलीला उसका ज्वलन्त उदाहरण है। तत्ववेत्ताओं ने उसको आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का आधार बनाया कलाकारा को उसम नयी चेतना मिली और सामान्य जन जीवन मे वह धार्मिक आस्था का विषय बन कर मनोरजन का साधन बनी। पुरातन काल से लोक मानस की अन्तश्चेतना को प्रभावित करते हुए रास की यह परम्परा अटूट रूप मे आज तक बनी हुई है। भारतीय नाट्य परम्परा के इतिहास मे उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

भागवत धर्म के अनुयायी विद्वत्समाज म रास की अनेक दृष्टिया से व्याख्या की गयी है। अधिकतर विद्वाना ने उसकी व्युत्पत्ति का आधार रस बताया है (रसाना समूहो रास)। श्रीमद्भागवत की टीका म श्रीधर स्वामी ने अनेक नर्तकिया द्वारा सम्पादित नृत्य विशेष को रास कहा है (रासो नाम बहुनर्तकी युक्त नृत्य विशेष)। भागवत के दूसरे टीकाकार जीव गोस्वामी के मत से परम रस पुज ही रास है, रस से समन्वित सवथा विलक्षण ब्रजलीला ही रास है, अथवा विशुद्ध प्रेम से नि सृत शृगार रस ही रास है (रास परमरसकदम्बमय। रस कदम्बमय काचिद् विलक्षणो ब्रजलीलाविशेषो। यद्वा मुख्यरस शुद्ध प्रेमा स एव रास)।

श्रीमद्भागवत की रासपचाध्यायी रासलीला का मुख्य आधार है। उसम रासलीला या रासक्रीडा पर विस्तार से विवेचन किया गया है। वहाँ प्रेमरस स परिपक्व ऐसी आनन्दमयी क्रीडा को रास नाम से कहा गया है, जिसम गोपिकाओ के साथ श्रीकृष्ण मण्डलाकार नृत्य रचा करते है। यह नृत्य कृष्ण के अनेक रूपा के साथ गोपियाँ परस्पर हाथ बाँध कर वृत्ताकार रूप मे किया करती थी।

रासलीला के शास्त्रीय और लौकिक पक्ष पर विचार करने से पूर्व उसके प्रयोग पक्ष को जान लेना आवश्यक है। बहुधा लीला और नाटक म कोई अन्तर नही समझा जाता, किन्तु नाटक से लीला सर्वथा भिन्न है। उस दृश्य काव्य को लीला कहते हैं, जो किसी काव्य या इतिहास पर आधारित हो। रामायण के आधार पर अभिनीत रामलीला या भागवत के आधार पर अभिनीत कृष्णलीला, दोना लीलाएँ हैं। इस दृष्टि से नाटक विधा उससे सर्वथा भिन्न है।

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि म रासलीला को जीवात्मा का परमात्मा के साथ चिर सम्बन्ध व्यक्त करने वाली साधना कहा गया है। गोपियाँ प्रकृति रूपा एव अन्त करण की वृत्तियाँ हैं। कृष्ण परमात्मा हैं। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य म अन्तर्धान रहती हैं, बाहर बिखर जाती हैं और फिर सूर्य मे ही समा जाती हैं, ठीक यही गति

रासलीला में कृष्ण-गोपिकाओं की है। गोपियाँ इन्द्रियों की प्रतीक हैं और कृष्ण आत्मा के प्रतीक। उनकी वंशी ध्वनि मोहिनी का प्रतीक है। वंशी ध्वनि मे आकृष्ट होकर गोपियाँ रूपी अन्त वृत्तियाँ या इन्द्रियाँ आत्मा श्रीकृष्ण की ओर गतिमान होती हैं। वृत्तियों का आत्मा से सामीप्य होता है। यही रास की स्थिति है। इस सामीप्य में अज्ञान, अन्धकार विलुप्त होकर आत्म प्रकाश की स्थिति आती है। वृत्तियाँ वियोग की अनुभूति को स्मरण कर आत्ममग्न होती हैं और अन्त में आत्मा में लीन हो जाती हैं। पूर्णानन्द, आत्मानन्द एव ब्रह्मानन्द की इसी रस रूप चरमस्थिति को रास कहा गया है।

रासलीला एक परमानन्दमयी भावना है, जिसमे सर्ग और लय, आदि और अन्त, सृष्टि की ये दोनों सनातन स्थितियां अन्तर्निहित हैं। जीव इस आनन्दमयी सृष्टि का एक अंश है, जो कि नाना नाम-रूप भौतिक प्रपचों में उलझ कर अपने वास्तविक स्वरूप और सम्बन्ध को विस्मृत कर देता है। आत्मा या अन्तश्चेतना उसको बार-बार उसके प्रकृत स्वरूप का आभास दिलाती रहती है। इस आभास से जीव अपने वियोग का अनुभव करता है और धीरे-धीरे अधिष्ठान चेतन आत्मा की ओर अग्रसर होकर उसी में लीन हो जाता है। जीवन की यही लीनावस्था रासलीला की परमानन्दमयी भावना है। रासपचाध्यायी की यह आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि है और इसीलिए श्रीधर स्वामी ने शृंगार रस की कथावाहिनी होने के कारण उसे निवृत्तिपरा कहा है (शृंगाररसकथोपदेशेन निवृत्तिपरेय पचाध्यायी)।

उक्त आध्यात्मिक स्वरूप की भाँति रासलीला का अपना लौकिक पक्ष भी है। वास्तविकी और व्यावहारी उसके दो रूप हैं। दोनों का अपना-अपना महत्व और स्थायित्व है। दोनों परस्पर आश्रित हैं। पुराणों, काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों और जैन-बौद्ध, सभी विषय के ग्रन्थों में रासलीला का सांगोपांग वर्णन देखने को मिलता है। साहित्य में उसकी यह व्यापक अनुभूति उसकी लोकप्रियता की परिचायक है।

अभिनय कला के इतिहास में रासलीला का महत्वपूर्ण स्थान है। शास्त्रीय दृष्टि से रासलीला का विवेचन मुख्य रूप से भागवत धर्म के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। लोक-जीवन में अभिनय के प्रचार-प्रसार में रासलीला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। रासलीला मनोरंजन का ही नहीं, धार्मिक विश्वासों का भी केन्द्र रही है। ताल-लय-संगीत-बद्ध नाट्य की परम्परा उसी के द्वारा लोक-प्रचलित हुई।

रास और हल्लीस

भारतीय अभिनय कला का प्राचीन रूप हल्लीस रास में देखने को मिलता है। प्राय सभी पुरातन शास्त्रकारों और आधुनिक विद्वानों का अभिमत है कि रास नृत्य का अपर नाम हल्लीस है। रास नृत्य का हल्लीस नाम से उल्लेख साहित्य और कला, दोनों में हुआ है। पुराण ग्रन्थों और भागवत सम्प्रदाय के शास्त्रीय ग्रन्थों में उसका विशद दिग्दर्शन हुआ मिलता है। भास और कालिदास से लेकर परवर्ती कथाकारों, नाटककारों और कवियों-महाकवियों की कृतियों में हल्लीस नृत्य का उल्लेख देखने को मिलता है। मूर्तिकला और चित्रकला में उसके विविध रूपों की सजीव छवियाँ अंकित हुई हैं।

हल्लीस नृत्य के अधिष्ठाता नटवर भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इस नृत्य का प्रयोग उन्होंने ब्रजवासिनी गोपिकाओं और राधा के साथ किया था। आचार्य नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण (श्लोक ५) में लिखा है कि ब्रजांगनाओं को अभिनय की दीक्षा बाणासुर की कन्या उषा से प्राप्त हुई थी। हल्लीस नृत्य के अधिष्ठान स्वयं श्रीकृष्ण हैं और उन्हीं के द्वारा उसकी दीक्षा गोपियों को मिली।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में हल्लीस नृत्य के विधि-विधानों पर विस्तार से विचार किया गया है और उसे रासक से भिन्न माना गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में आचार्य भरत के अभिमत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मण्डलाकार रूप में जिस नृत्य का आयोजन होता है, उसे हल्लीस कहते हैं। उसमें एक नेता होता है, जैसे कि गोपिकाओं में श्रीकृष्ण। उसमें विभिन्न प्रकार के राग, ताल तथा लयों का समावेश होता है। उसमें एक-एक स्त्री-पुरुष की चौंसठ जोड़ियाँ वृत्ताकार रूप में अभिनय करती हैं। अभिनवगुप्त के मत से कुछ भिन्न रामचन्द्र गुणभद्र ने अपने नाट्यदर्पण में सोलह या बारह नायिकाओं के परस्पर हाथ बाँधे वृत्ताकार नृत्य को हल्लीस नाम से कहा है। शारदातनय के भावप्रकाशन में सोलह या बारह नायक पात्रों द्वारा अभिनीत हस्तबद्ध नृत्य को रास कहा गया है। इन परिभाषाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि लोक-परम्परा में आचार्य भरत के समय हल्लीस नृत्य जिस रूप में प्रचलित था, रामचन्द्र गुणभद्र के समय उसमें कुछ भिन्नता आ गयी। आचार्य वात्स्यायन और उनके कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने आचार्य भरत के ही मत का अनुवर्तन किया।

भागवत और हरिवंश पुराण में इस नृत्य की विस्तार से चर्चा की गयी है। हरिवंश (२।२०।३६) के टीकाकार नीलकण्ठ ने लिखा है कि एक पुरुष द्वारा अनेक स्त्रियों के साथ रचे गये क्रीडन (नृत्य) को हल्लीस और उसी को रास क्रीडा भी कहा जाता है (हल्लीसक्रीडनं एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा)। इस प्रकार हल्लीस नृत्य और रासक्रीडा, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। संगीतरत्नाकर में कोहल के मत से नाट्य के सट्टक, नोटक, गोष्ठि, शिल्पक, प्रेक्षक, उल्लापक, हल्लीस, रासिक, उल्लापि, अंक, श्रीगदित, नाट्य, रासक, दुर्मल्लो, प्रस्थान और काव्यलासिका आदि सोलह प्रकार बताये गये हैं। इसी प्रकार डोम्बिका, भणिका, प्रस्थानक, लासिका, रासिका, दुर्मल्लिका, विदग्ध, शिल्पनी, हस्तिनी, भिन्नकी, तुम्बकी और भट—बारह नृत्य-भेद बताये गये हैं। इस आधार पर भी हल्लीस नृत्य (रासक्रीडा) और रासक दोनों की भिन्नता सूचित होती है।

हल्लीस नृत्य या रासक्रीडा के सम्बन्ध में जो शास्त्रीय विधान विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित है, उनके अनुसार मण्डलाकार हाथ बाँधे गोपिकाओं के बीच में वेणु वादन करते हुए श्रीकृष्ण ने इस नृत्य का सृजन किया था। यह नृत्य बहुधा शरद् पूर्णिमा के दिन यमुना के तट पर प्रकृति की उन्मुक्त आनन्दमयी गोद में आयोजित हुआ करता था। इसमें भक्ति, प्रेम और प्रकृति की अनेक दशाओं का अभिव्यंजन हुआ करता था। ब्रजभूमि में आज भी भक्ति विभोर हृदय से लोग श्रीकृष्ण की पावन स्मृति को उनके चरित्र-वर्णन सम्बन्धी कृष्ण भक्त कवियों के मधुर कवित्तों के साथ रासक्रीडा करते हुए गाते हैं और विह्वल होकर नाचते हैं।

लोकनृत्यों पर रासलीला का प्रभाव

रासक्रीडा के उदय के मूल में मुख्य रूप से लोक भावना निहित है। वह सदा ही लोक-जीवन का विषय रही और उसी रूप मे उसकी परम्परा अटूट रूप मे आगे बढी। युगो और विभिन्न प्रदेशो की लोक-रुचि के अनुसार उसके विभिन्न रूप बनते गये, फिर भी ब्रज जीवन के बीच अब तक उसका वही रूप बना हुआ है।

ब्रज के बाहर प्राय सभी प्रदेशो मे प्रादेशिक लोक नाट्यो के रूप मे रासक्रीडा का रिक्थ आज भी बना हुआ है। दक्षिण भारत के कुराव इकूतु, मणि मे खेल, लाठ रासक या लकुट रासक, अल्लियाम् और कुरवई नृत्य रासक्रीडा के ही विभिन्न रूप हैं, जिनमे श्रीकृष्ण की लीलाओं का अभिव्यजन दर्शित होता है। इसी प्रकार गुजरात का गरबा, उडीसा का सन्थाल, राजस्थान का गनगौर और पजाब का भाखड़ा आदि लोक नृत्य भी कुछ परिवर्तन के साथ रासक्रीडा से ही प्रभावित हैं। उत्तर प्रदेश मे कृष्ण लीला पर आधारित कालिय मर्दन और मणिपुर के वसन्तरास, कुजरास तथा महारास उसी पर आधारित हैं।

सुप्रसिद्ध कत्थक या कत्थकली नृत्य मे, जिसको कि नटवरी नृत्य भी कहा जाता है, रासक्रीडा के ही विधान देखने को मिलते हैं। अभिनय के द्वारा किसी कहानी को अभिव्यजित करने के कारण इसका कत्थक नामकरण हुआ। इसका आधार यद्यपि भरतनाट्य है, फिर भी उसमे लोक शैली का निदर्शन रास के प्रभाव के कारण हुआ है।

इस प्रकार रासक्रीडा मे जहाँ एक ओर हमारी धार्मिक आस्थाओ की वाणी ध्वनित हुई है, वहाँ दूसरी ओर उसी प्रकार लोकमानस की भावनाओं का भी अभिव्यजन हुआ है। पुरातन काल से लेकर अब तक उसकी अटूट परम्परा हमारे लोक जीवन मे बनी हुई है।

छालिक्य अभिनय

छालिक्य अपनी विधा का एक अभिनय भेद है, जिसमे सगीत, ताल, वाद्य का प्रयोग होता है। इस अभिनय मे सगीतादि सभी साधनो का एक साथ सामजस्य दर्शित होता है। इसकी उत्पत्ति और परम्परा के सम्बन्ध मे छान्दोग्य उपनिषद् मे सामवेद से सम्बद्ध एक कथा है। उसमे कहा गया है कि महर्षि अगिरस ने देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को वेदान्त विद्या का उपदेश देते समय सामवेद की गायन विधियो की भी दीक्षा दी थी। उस विधि को छालिक्य नाम से कहा गया। श्रीकृष्ण छालिक्य नृत्य के अधिष्ठाता थे। वेणुवादन मे सामगान के साथ श्रीकृष्ण ने इस नृत्य का प्रयोग गोपियो के साथ किया था।

' हरिवश पुराण (२।८९।८३-८४) मे लिखा है कि उसका सर्व प्रथम प्रचलन देव, गन्धर्व और ऋषियो ने किया। देवलोक मे इस अभिनय के प्रति इतनी अधिक अभिरुचि को देख कर श्रीकृष्ण और प्रद्युम्न ने लोक हित एव लोक मनोरजन के लिए उसको भू-लोक मे प्रचलित किया। भू-लोक मे यह अभिनय इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि बाल, युवा और वृद्ध, सभी उसकी ओर समान रूप से आकर्षित हुए।

लोक में छालिक्य अभिनय के प्रति इतनी अगाध अभिरुचि को देख कर नाटककारों, कवियों और कथाकारों ने उसे अपनी कृतियों का विषय बनाया। महाकवि कालिदास ने इस अभिनय को छलिक नाम से कहा है। मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। नाटक की प्रस्तावना के बाद बकुलावलिका कहती है: 'महारानी धारिणी ने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदास से पूछो कि मालविका ने जो बहुत दिनों से छलिक नामक नाट्य सीखना आरम्भ किया था, उसे वह कहाँ तक सीख पायी है। तो अब संगीतशाला की ओर चलूँ' (आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या। अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। तत्तावत्संगीतशालायां गच्छामि)। इसी नाटक के प्रथम अंक में परिव्राजिका के सम्वाद से यह ज्ञात होता है कि इस छलिक अभिनय को शर्मिष्ठा ने बनाया था, जो चतुष्पाद होता है और उसका अभिनय बड़ा कठिन होता है (शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति)।

महाकवि कालिदास ने उक्त नाटक के तीसरे अंक (श्लोक ८) में छलिक अभिनय के स्वरूप का निरूपण करते हुए परिव्राजिका से कहलाया है 'मैंने तो जो देखा, उसमें कहीं भी दोष नहीं दिखायी दिया; क्योंकि गीत की सब बातों का ठीक-ठीक अर्थ अंगों के अभिनय से भली भाँति दिखा दिया गया है। इनके पैर भी लय के साथ चल रहे थे। फिर गीत के रस में भी ये तन्मय हो गयी थीं। इनके नृत्य ने हमें भी प्रेम में तन्मय कर दिया; क्योंकि ताल के साथ होने वाले अभिनय में अनेक प्रकार से अंग संचालन द्वारा जो भाव दिखाये जा रहे थे, वे इतने आकर्षक थे कि मन किसी ओर जाने ही नहीं पाता था'

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥

इस प्रकार हरिवंश के छालिक्य से यदि मालविकाग्निमित्र के छलिक की तुलना की जाय, तो ज्ञात होता है कि दोनों में कुछ अन्तर है। हरिवंश का छालिक्य गान्धर्व संगीत-वाद्य-ताल प्रधान है। उसके उद्गाता स्वयं श्रीकृष्ण हैं। किन्तु मालविकाग्निमित्र का छलिक नाट्य विशुद्ध अभिनयप्रधान है। उसकी अधिष्ठातृ शर्मिष्ठा को बताया गया है। उसमें भी ताल-लय-गीत का समावेश है और अंग-संचालन द्वारा भावाभिव्यंजन की बात कही गयी है।

हरिवंशकार और महाकवि कालिदास ने छालिक्य या छलिक के जो विधि-विधान बताये हैं, अभिनय की परम्परा में उसे प्राचीन प्रयोग कहा जा सकता है। उसके प्रचलन और प्रयोग के भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आधुनिक नाट्यशास्त्रीय विद्वानों का अभिमत है कि छालिक्य अभिनय ही नाटक की उत्पत्ति का मूल आधार है।

●●●

छः

•

नाट्य प्रयोग
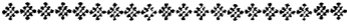
अभिनय : अभिनय भेद और उसका प्रयोग

•

अभिनय की सृष्टि और अनुभूति में रस का स्थान

•

रस निष्पत्ति में भावों की प्रयोजनीयता

•

संस्कृत नाटकों की अभिनेयता

अभिनय : अभिनय भेद और उसका प्रयोग

अभिनय

अभिनय के उदय का इतिहास बहुत प्राचीन है। उसका आरम्भ सृष्टि के साथ हुआ। अपनी आरम्भावस्था मे उसका स्वरूप और उसकी प्रेरणा के स्रोत आज से भिन्न थे। विश्व की आदिम जातियों के इतिहास का सिंहावलोकन करने वाले विद्वानो का अभिमत है कि आरम्भ मे मनुष्य जब सभ्यता और सामाजिक अभ्युदय के प्रथम चरण मे प्रवेश कर रहा था, उसका परिचय प्रजनन-क्रियाओ से हुआ। मैथुनिक रहस्यो की वास्तविकताओ को जान लेने के बाद उसकी उत्सुकताएं निरन्तर प्रबल होती गयी। एक-दूसरे पर अपने भावो को प्रकट करने के लिए उसने विशेष सकेत या प्रतीक बनाये। ये सकेत या प्रतीक उसके पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना मे सुविधाजनक प्रतीत हुए और वे ही कला के सृजन के कारण सिद्ध हुए। सृष्टि-प्रक्रिया, जो उसके सामने अब कोरा रहस्यमात्र नही रह गयी थी, उसको व्यक्त करने के लिए उसने मैथुनिक प्रतीको का अभिनय किया। छोटे-छोटे समूहो मे एकत्र होकर अग्नि की परिक्रमा करते हुए उसने इन मैथुनिक अभिनयो को व्यापक रूप मे अपनाया और प्रचलित किया। विश्व की आदिम जातियो की सस्कृति मे शिश्न-नृत्य की प्रथा का प्रचलन इसी भावना से हुआ। प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक मानव-सभ्यता के परिचायक जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनको देख कर और उनके सम्बन्ध मे पुरातत्त्वज्ञो एव इतिहासकारो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि अभिनय कला के प्रति मानव जाति की उत्सुकता बहुत प्राचीन काल मे ही जागरित हो चुकी थी।

मानव जाति की सभ्यता और सस्कृति का जैसे-जैसे विकास होता गया, उसके द्वारा अपनाये गये अभिनय प्रतीको मे भी वैसे-वैसे परिवर्तन एव परिष्करण होता गया। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो विश्वास होता है कि मानव सभ्यता के विकास की कहानी को बताने वाले जितने भी पुरातन साधन हैं, उनमे अभिनय कला का विशेष योगदान रहा है। समृद्ध एव सुसस्कृत लोक सामान्य मे अभिनय कला के प्रति रुचि एव उत्सुकता का निरन्तर विकास होता गया और विभिन्न विश्व-भूखण्डो की आदिम सस्कृति मे प्रकृति एव परिस्थिति के अनुसार अभिनय के प्रतीको, सकेतो एव उपादानो का भिन्न भिन्न रूप मे प्रकाशन होता गया।

भारत मे अभिनय कला के उदय और विकास की अपनी अलग स्वतन्त्र परम्परा है। इस परम्परा का उदय पुरातन वैदिक युग मे ही हो चुका था। वेदो मे इस विषय की प्रचुर सामग्री सुरक्षित है। वेद भारतीय

जीवन के सर्वस्व एव विश्वकोश है। धर्म, सस्कृति, साहित्य, सभ्यता, विज्ञान और कला-कौशल आदि के उद्‌गम स्रोत वेद ही हैं।

भारतीय नाट्यकला के इतिहास के लिए यह गौरव का विषय है कि वेदो मे नाट्य-विषयक प्रामाणिक सामग्री सुरक्षित है। विश्व के कला-पण्डितो ने एकमत से स्वीकार किया है कि भारतीय नाट्य-सगीत की प्रेरणा के उद्‌गम वेद है। पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—नाट्यविद्या की यह मूल निधि वेदमत्रो मे बिखरी हुई है। इस मूल एव व्यवस्थित सामग्री का सग्रह करके भारतीय नाट्यशास्त्रियों और काव्यशास्त्रियो ने नाट्यशास्त्र एव काव्यशास्त्र की महान् एव अजस्र परम्परा का प्रवर्तन किया।

वैदिक युग की यह उदात्त एव समृद्ध परम्परा किस रूप मे आगे बढी, यद्यपि इसका क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नही है, फिर भी विभिन्न युगो मे रची गयी सस्कृत की अमर कृतियो मे व्यापक रूप से बिखरे हुए उल्लेखो का अध्ययन कर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लोक-जीवन और साहित्य, दोनो क्षेत्रो मे उसको व्यापक रूप से अपनाया गया। भावी पीढियो न उसको बडी रुचि एव उत्सुकता से ग्रहण किया।

वैदिक लोक-जीवन मे स्त्री-पुरुषो द्वारा अभिनय-गान की उदात्त परम्परा का जीवित रूप वर्तमान भारत के लोक जीवन मे आज भी देखने को मिलता है। भारत के सभी अचलो मे, विशेष रूप से आदिवासी जातियो और ग्राम्य जीवन मे, नृत्य-गान का स्वरूप उसी मुक्त एव उदात्त परम्परा का रूपान्तर है। भारतीय सस्कृति का यह उदात्त लोकपक्ष आज भी उतना ही उजागर एव उन्नत है, जितना कि अपने अतीत मे था।

अभिनय की उत्पत्ति का आधार

नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ आधुनिक विद्वानो ने अभिनय की उत्पत्ति के अनेक आधार बताये हैं। डॉ॰ रिजवे का मत है कि अभिनय का उदय वीर-पूजा से हुआ। उनका कहना है कि दिवगत वीर पुरुषो की स्मृति मे समय-समय पर जो सामूहिक सम्मान प्रदर्शित किया जाता था, उसी से अभिनय की उत्पत्ति हुई। ग्रीक और भारत मे मृत वीरो के प्रति पूजाभाव प्रदर्शित करने के तरीके लगभग एक जैसे थे। भारत मे रामलीला और कृष्णलीला का प्रचलन इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ।

डॉ॰ रिजवे के विपरीत डॉ॰ कीथ का अभिमत है कि भारत मे प्राकृतिक परिवर्तनो को मूर्त रूप मे प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति ने ही अभिनय को जन्म दिया। इसकी पुष्टि मे उन्होंने महाभारत के कसवध नाटक को उद्धृत किया है। उनका कहना है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य बसन्त ऋतु पर हेमन्त ऋतु की विजय दिखाना था और उसमे प्रदर्शित श्रीकृष्ण का विजय प्रसग उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा करने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक था। इस विजय-भावना के फलस्वरूप एव प्रेरणा से अभिनय का जन्म हुआ।

तीसरे जर्मन विद्वान् डॉ॰ पिशेल पुत्तलिका नृत्य से अभिनय की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। उनके अभिमत मे पुत्तलिका नृत्य का जन्मदाता भारत था और वहीं से विश्व के विभिन्न देशो मे उसका प्रचार-प्रसार हुआ।

आज जब कि अभिनय के नये साधनों का निर्माण हो चुका है, भारत में इस पुत्तलिका नृत्य की परम्परा पूर्ववत् बनी हुई है। यह उसी पुरातन परम्परा का जीवित रूप है।

नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० स्टेन कोनो छाया नाटकों से अभिनय का आरम्भ स्वीकार करते हैं। उनके अभिमत का आधार सुभट कवि का छाया नाटक दूतांगद रहा है, जो कि १२वीं शती की रचना है। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों का कहना है कि छाया नाटक के क्षेत्र में एकमात्र उपलब्ध उक्त नाटक को अभिनय का आधार मानना इसलिए युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस दिशा में आगे जो प्रयत्न हुए वे सर्वथा भिन्न हैं। डॉ० कीथ छाया नाटकों के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका कहना है कि अभिनय का आरम्भ इससे बहुत पहले हो चुका था। इस मत का प्रचलन ऋग्भाष्य के एक स्थल का अशुद्ध अर्थ ग्रहण करने के कारण हुआ।

इस सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों का अभिमत है कि अन्य कलाओं की भाँति अभिनय कला की उत्पत्ति भी जन-जीवन की सहज आवश्यकता के कारण हुई। उसमें समय-समय पर वीर भावना, मृत व्यक्तियों की स्मृति और ऋतु उत्सवों का परिस्थितियों और युग-रुचियों के अनुसार समावेश होता गया। युगद्रष्टा ऋषि-महर्षियों ने लोकमानस की अभिरुचियों और आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सृष्टि करने के साथ-साथ अभिनय कला का भी सृजन किया। अभिनय कला की उत्पत्ति का यह आधार आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के एक प्राचीन आख्यान पर आधारित है।

नाट्यशास्त्र में अभिनय की उत्पत्ति का उपाख्यान

वैदिक युग के सम्पन्न, समुन्नत और कलानुरागी लोक जीवन की नृत्य-गीतानुराग की मूर्त परम्परा को उपनिबद्ध करने का प्रथम श्रेय आचार्य भरत को है। एक बृहद्, सर्वांगीण और स्वतंत्र शास्त्र की रचना कर आचार्य भरत ने भारतीय साहित्य के गौरव को प्रशस्त ही नहीं किया, अपितु परम्परा, लोक-जीवन के कलानुराग की उदात्त एवं उन्नत थाती को भी अपनी लेखनी में पुनर्जीवित किया है। विश्व की किसी भी भाषा में इतने प्राचीन काल में इतना प्रशस्त एवं व्यापक प्रयास कम हुआ है। चारों वेदों का दोहन कर पाँचवें वेद के रूप में जिस नाट्यवेद की स्वयं प्रजापति ने सृष्टि की, भरत का नाट्यशास्त्र उसी का जीवित रूप है। न केवल भारतीय वाङ्मय में, अपितु भारतीय वाङ्मय के अध्येता विश्व के प्रत्येक नाट्यवेत्ता ने नाट्यशास्त्र को साहित्य-सुधानिधि का एक अमर रत्न कहा है।

नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय में अभिनय विधा, उसकी उत्पत्ति और उसके भेदोपभेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय के आरम्भ में ऋषियों की जिज्ञासा पर महामुनि भरत ने अभिनय की उत्पत्ति और नाट्य के लिए उसकी आवश्यकता पर मौलिक रूप से विचार किया है। ऋषियों ने महामुनि भरत के समक्ष यह जिज्ञासा प्रकट की कि 'अभिनय कला में भावों तथा रसों की उत्पत्ति का विधान क्या है? उसमें अभिनय का स्थान क्या है? अभिनय किसको कहते हैं, और उसके कितने भेद होते हैं?':

नाट्ये कतिविध कार्यस्तज्ज्ञैरभिनयक्रम ।
कथ वाभिनयो ह्येष कतिभेदश्च कीर्तित ॥

नाट्यशास्त्र—१।२

इसके साथ ही ऋषियों ने महामुनि से यह भी जानना चाहा कि अभिनय कला मे निपुणता प्राप्त करने के लिए किस नाट्य म कौन-कौन से अभिनय का प्रयोग करना चाहिए ?"

सर्वमेतद्यथातत्व कथयस्व महामुने ।
यो यथाभिनयो यस्मिन्योक्तव्य सिद्धिमिच्छता ॥

नाट्यशास्त्र—१।३

ऋषियो द्वारा इन प्रश्नो एव जिज्ञासाओ के उपस्थित किये जाने पर महामुनि ने अभिनय कला की उत्पत्ति, उसके भेदोपभेदो और उसकी प्रयोग विधियो का विस्तार से विवेचन किया।

अभिनय की व्युत्पत्ति और उसका लक्षण

अभिनय शब्द की व्युत्पति करते हुए नाट्यशास्त्र मे लिखा गया है कि अभि उपसर्ग से प्रापणार्थक णीञ धातु स अच् प्रत्यय योजित होने पर अभिनय शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती म लिखा है अभिनय कस्मात् ? अत्रोच्यते—अभीत्युपसर्ग । णीञित्येष धातु प्रापणार्थ । अस्याभिनीत्येव व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूप सिद्धम्। एतच्च धात्वर्थवचनेनावधार्यम्। अभिनय की व्युत्पत्ति का आशय प्रकट करते हुए आचार्य भरत न लिखा है अभिमुख्य के द्योतक अभि उपसर्ग को णीञ् धातु स योजित करने पर उसके अच् प्रत्ययान्त प्रयोग स जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसे अभिनय कहते है

अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये ।
यस्मात प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत ॥

नाट्यशास्त्र—१।७

इसी आशय को अधिक स्पष्ट करते हुए नाट्यशास्त्र म आगे लिखा गया है जिसके सागोपाग प्रयोग द्वारा, नाट्य के अनेक अर्थों को, श्रोता या सामाजिक के हृदय म विभावन या रसास्वादन कराया जाय उसे अभिनय कहते है

विभावयति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगत ।
शाखाङ्गोपाङ्गसयुक्तस्तस्मादभिनयस्मृत ॥

नाट्यशास्त्र—१।८

अभिनय का उद्देश्य होता है किसी पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचा देना, अर्थात् दर्शकों या सामाजिकों के हृदय को भाव या अर्थ से अभिभूत करना (अभिनयति हृद्गतभावान् प्रकाशयति)। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के छठे परिच्छेद के आरम्भ में दृश्य काव्य का निरूपण करते हुए अभिनय पर भी विचार किया है। उन्होंने दृश्य काव्य को अभिनय और अभिनेय काव्य को रूपक कहा है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि चाहे नाटयरूप वस्तु दृश्य हो, अभिनेय हो या रूपक हो—बिना अभिनय के वह सम्भव नहीं है। अभिनय को उन्होंने अवस्थानुकार कहा है

'भवेदभिनयोऽवस्थानुकार:'

अर्थात् अभिनय उसे कहते हैं, जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन तथा वाणी से अभिनय चरित्र की अवस्थाओं का अनुकरण (अनुकार) किया जाता है। नट द्वारा शरीर मन तथा वाणी से रंगमंच पर राम-युधिष्ठिर आदि पात्रों की अवस्थाओं का अनुकरण ही अभिनय है।

इस दृष्टि से अभिनय को सामान्यतः अनुकरण या नकल करने के आशय में ग्रहण किया जाता है। इस अर्थ में एक व्यक्ति एक बात को जिस रूप में प्रयुक्त करता है, यदि उसी बात को दूसरा व्यक्ति ठीक उसी रूप में व्यक्त करे तो लोक-व्यवहार में उसे अनुकरण या नकल कहा जाता है। अभिनय में इस अनुकरण का आशय यदि कुछ व्यापकता में लिया जाय तो कहा जा सकता है कि जब आंगिक या शारीरिक, वाचिक या भावात्मक अथवा क्रियात्मक चेष्टाओं, संकेतों या हाव-भावों द्वारा किसी प्रकृत वस्तु का अनुकरण किया जाय तो उसे अभिनय की संज्ञा दी जा सकती है।

उक्त लक्षणों से सिद्ध होता है कि अनुकृति ही अभिनय का मूल आधार है। इस अनुकृति द्वारा रंगमंच पर प्रकृत वस्तु को बड़े कौशल से प्रस्तुत किया जाता है, जिससे कि प्रेक्षकों तथा श्रोताओं को यथार्थ की अनुभूति या प्रतीति हो। उदाहरण के लिए यदि रथ पर सवार होने का दृश्य प्रस्तुत करना हो तो रंगमंच पर रथ लाने की अपेक्षा कलात्मक ढंग से रथ पर चढ़ने की चेष्टाओं एवं संकेतों द्वारा सवार होने का स्वाँग रचा जाता है और सहृदय सामाजिक यह समझ लेते हैं कि रथ पर सवार हो गया। इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला का अभिनय करने वाली अभिनेत्री आवेग-सूचक अनुभावों द्वारा सहृदय सामाजिकों को सरलता से यह प्रतीति करा देती है कि वह भौंरे के आक्रमण से बचने की चेष्टा कर रही है। इस प्रकार अभिनय में अनुकरण द्वारा यथार्थ की अनुभूति या प्रतीति कराना ही मुख्य उद्देश्य होता है।

अभिनय की उक्त व्युत्पत्ति तथा परिभाषाओं से यह सिद्ध होता है कि उसमें बाहरी साज-सज्जा एवं प्रसाधन की अपेक्षा प्रकृत वस्तु के अन्तर्भावों के अभिव्यंजन को अधिक महत्व दिया गया है।

अभिनय में शरीर और मन की एकाग्रता

शरीर और मन की एकाग्रता से ही अन्तर्भावों की अभिव्यंजना सम्भव है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण में केवल अभिनय को लिया है और उसी के नाम पर अपने ग्रन्थ का नामकरण किया है।

परम्परा में अभिनय को जो शास्त्रीय एवं लौकिक मान्यता प्राप्त थी उसको स्वतन्त्र शास्त्रीय विधान का विषय आचार्य नन्दिकेश्वर ने ही बनाया। उन्होंने अभिनय को स्वतंत्र कला का दर्जा दिया और बताया कि उसकी सिद्धि के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है। यह साधना न केवल अविरत शारीरिक अभ्यास द्वारा, अपितु एकनिष्ठ मानसिक निग्रह द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसी दृष्टि से अभिनेता और अभिनेत्री को शरीर और मन की एकाग्रता की ओर विशेष ध्यान देने का विधान किया गया है। अभिनय को आचार्य नन्दिकेश्वर ने एक ऐसी साधना के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें हस्त, दृष्टि, मन और भावाभिव्यक्ति का परस्पर तारतम्य बना रहे और वे अपने-अपने लक्ष्य पर केन्द्रित हों।

अभिनयदर्पण के निर्देशानुसार रंगपूजा और पुष्पांजलि अर्पण करने के बाद रंगमंच पर नृत्य का आरम्भ करना चाहिए। इस नृत्य में गीत, अभिनय, भाव और ताल की संगति बनी रहनी चाहिए। नाट्यारम्भ की विधि का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है (श्लोक ३५-३६) कि 'नृत्य ऐसा होना चाहिए, जो गीत, अभिनय, भाव और ताल से समन्वित हो। नृत्य के समय वाणी द्वारा गायन करना चाहिए। गीत के अभिप्राय को हस्तमुद्राओं द्वारा, भावों को नेत्र-संचालन द्वारा और ताल-छन्द की गति को दोनों पैरों द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए।'

आचार्य नन्दिकेश्वर का विधान है कि अभिनय-काल में हस्तमुद्राओं भावों और गतिभेदों को प्रदर्शित करते समय नर्तक-नर्तकी को चाहिए कि जिस दिशा की ओर वह हस्त-संचालन करे, उधर ही दृष्टिपात भी होना चाहिए। जिस दिशा में वह दृष्टिपात करे वहीं उसका मन भी केन्द्रित होना चाहिए। जिस दिशा में मन केन्द्रित हो तदनुसार ही भावाभिव्यक्ति भी होनी चाहिए। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति के अनुरूप ही रस की सृष्टि होनी चाहिए

> यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मन।
> यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रस ॥

अभिनयदर्पण—३७

आचार्य नन्दिकेश्वर से पूर्व आचार्य भरत ने भी इस विषय पर विचार किया है। दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण में कुछ अन्तर है। जहाँ आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनय में रसानुभूति के लिए हस्त, दृष्टि, मन और भावों के तारतम्य पर बल दिया है वहाँ आचार्य भरत ने वय, वेष, गति और पाठ्य के तारतम्य को विशेष महत्व दिया है

> वयोऽनुरूप प्रथम तु वेषो
> वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
> गतिप्रचारानुगत च पाठ्य
> पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्य ॥

नाट्यशास्त्र—१३।६९

इस प्रकार शरीर तथा मन की एकाग्रता से ही मुद्राओं, भावों और गतियों का समुचित प्रयोग किया जा सकता है। उन्हीं के तारतम्य से रस की निष्पत्ति बतायी गयी है। यही रस-सृष्टि अभिनय का लक्ष्य है।

अभिनय और उसकी व्युत्पत्ति के उक्त विवेचन के अनन्तर आगे उसके भेदोपभेदों पर विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में अभिनय के साधनों और विशेष रूप से अभिनयदर्पण के आंगिक अभिनयों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

अभिनय के चार मुख्य भेद

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र (६।२३, ८।१०) में अभिनय के चार भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तितः॥

१ आंगिक, २ वाचिक, ३ आहार्य और ४ सात्त्विक—अभिनय के इन चारों भेदों के अधिष्ठाता स्वयं नटराज भगवान् शंकर हैं। आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण के आरम्भिक मंगल श्लोक में कहा है कि ये चार अभिनय नटराज के चार स्वरूप हैं और उनके अधिष्ठाता वे स्वयं हैं। यह समस्त सृष्टि जिनका आंगिक अभिनय है, यह सम्पूर्ण वाङ्मय जिनका वाचिक अभिनय है चन्द्र-तारादि से मण्डित यह अखिल आकाश लोक जिनका आहार्य अभिनय है और सात्त्विक अभिनय के रूप में जो स्वयं विराजमान हैं—उन भगवान् नटराज को हम नमस्कार करते हैं

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥

इस मंगल श्लोक में अभिनय की व्यापकता, श्रेष्ठता और सम्पूज्यता सभी कुछ समाविष्ट है। आचार्य भरत ने उक्त चतुर्विध अभिनय भेदों का उल्लेख कर देना मात्र ही पर्याप्त न समझा, अपितु साथ ही उनकी शाखा प्रशाखाओं का विवेचन भी किया। इस परम्परा में आगे जो ग्रन्थ लिखे गये, उन सब में अभिनयदर्पण ही एक मात्र ऐसा प्रौढ़ ग्रन्थ है जिसमें अभिनय के महत्त्व को इतनी गम्भीरता एवं व्यापकता से ग्रहण किया गया है।

अभिनय का लक्षण

आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण में अभिनय के उक्त चारों भेदों का विवेचन करते हुए लिखा गया है कि अंगों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को आंगिक (आङ्गिकोऽङ्गैर्निदर्शितः), वाणी द्वारा वाच्य

(संगीत-गीत) तथा नाटकादि (सम्वादादि) के अभिनय को वाचिक (वाच्या विरचितः काव्यनाटकादि तु वाचिकः), हार तथा केयूर आदि प्रसाधनो से सुसज्जित होकर किये जाने वाले अभिनय को आहार्य (आहार्यो हारकेयूरवेषादिभिरलङ्कृतः) और किसी भावज्ञ व्यक्ति द्वारा भावों के माध्यम से किये जाने वाले अभिनय को सात्त्विक (सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावितः) कहा जाता है।

आंगिक अभिनय

पहले बताया जा चुका है कि अंगो द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को आंगिक अभिनय कहते हैं। आंगिक अभिनय भेदो के सम्बन्ध मे अभिनयदर्पण मे कोई उल्लेख नही मिलता है। नाट्यशास्त्र मे उसके तीन भेद बताये गये हैं, जिनके नाम है शारीरज, मुखज, और चेष्टाकृत्। शरीर के जो प्रमुख अंग हैं, जैसे सिर, हाथ, कटि, पार्श्व, पैर आदि की विभिन्न चेष्टाओ एव मुद्राओ द्वारा प्रदर्शित अभिनय को शारीरज कहा गया है। मुख मण्डल के अन्तर्गत जिन उपांगो का समावेश है, जैसे आँख, भवें, कान, अधर, कपोल और ठोडी आदि की विभिन्न चेष्टाओ एव मुद्राओ द्वारा प्रदर्शित अभिनय को मुखज या उपांगाभिनय कहा गया है। इसी प्रकार पूरे शरीर के द्वारा मनोगत भावो या बाह्य चेष्टाओ द्वारा किये जाने वाले अभिनय को चेष्टाकृत् कहा गया है, उदाहरण के लिए लूले, लंगडे, बौने आदि का प्रदर्शन।

आचार्य भरत ने उक्त तीनो प्रकार के आंगिक अभिनय भेदो का विस्तार से वर्णन किया है और उनके अवान्तर जितने भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकार हो सकते हैं, उन सबकी शास्त्रीय व्याख्या की है। आचार्य नन्दिकेश्वर की दृष्टि कुछ भिन्न और स्वतन्त्र है। उन्होने परम्परा को दृष्टि मे रख कर कुछ वैमत्य के साथ आंगिक अभिनय के भेदोपभेदो पर विचार किया है। उन्होंने आंगिक अभिनय के तीन साधन बताये हैं, जिनके नाम हैं १. अंग, २. प्रत्यंग और ३ उपांग। आंगिक अभिनय के सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है कि अंग, प्रत्यंग और उपांग—इन तीन साधनों द्वारा एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् किये जाने वाले अभिनय को आंगिक अभिनय कहा जाता है।

अंग साधन

नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण दोनो मे आंगिक अभिनय के छ अंग बताये गये है, जिनकी नामावली समान है और जिनके नाम इस प्रकार हैं · १ सिर, २ दोनों हाथ, ३. वक्षस्थल, ४. दोनों पार्श्व, ५ दोनों कटि प्रदेश और ६ दोनों पैर। इन छ अंगो के अतिरिक्त कुछ आचार्यों के मत मे ग्रीवा को भी अंगो मे परिगणित किया गया है।

प्रत्यंग साधन

आचार्य भरत और आचार्य नन्दिकेश्वर ने मतान्तर मे प्रत्यंग साधनो के अनेक भेद किये हैं। आचार्य नन्दिकेश्वर ने प्रत्यंग साधनो के अन्तर्गत १ दोनों हाथ, २. दोनों बाँहें, ३ पीठ, ४. उदर, ५ दोनो उरु और

६ दोनों जंघाओं को परिगणित किया है। इनके अतिरिक्त कुछ पूर्वाचार्यों ने दोनों कलाइयों, दोनों कुहनियों दोनों घुटनों और ग्रीवा को भी प्रत्यंगों के अन्तर्गत माना है।

उपांग साधन

कुछ आचार्यों ने केवल स्कन्ध भाग को ही उपांग माना है, किन्तु आचार्य भरत और आचार्य नन्दिकेश्वर ने मतान्तर में उनके अनेक भेद माने हैं। आचार्य भरत ने आंगिक अभिनय के छ उपांगों का उल्लेख इस प्रकार किया है १ शिर, २ हस्त, ३ उर, ४ पार्श्व, ५ कटि और ६ पैर। इसके विपरीत आचार्य नन्दिकेश्वर ने उनकी संख्या बारह बतायी है, जिनके नाम हैं १ नेत्र, २ भवें, ३ आंखों की पुतलियां, ४ दोनों कपोल, ५ नासिका, ६ दोनों कुहनियां, ७ अधर, ८ दांत, ९ जिह्वा, १० ठोढ़ी ११ मुख और १२ शिर। इन द्वादश उपांगों के अतिरिक्त आचार्य नन्दिकेश्वर ने दोनों घुटने, उंगलियां और हाथ-पैरों के तलवे भी उपांगों म मान हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि पूर्वाचार्यों के मतानुसार ही इन उपांगों का उल्लेख किया गया है

एतानि पूर्वशास्त्रानुसारेणोक्तानि वै मया।

आचार्य नन्दिकेश्वर के मत से आंगिक अभिनय के अनेक भेदोपभेद होते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख भेदों का ही आगे निरूपण किया गया है।

आंगिक अभिनय के भेद

शिराभिनय

आंगिक अभिनय से सम्बद्ध अंगों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आचार्य भरत ने इन आंगिक अभिनय भेदों को मुखज अभिनय के अन्तर्गत रखा है। नाना भावों और रसों के अभिव्यंजक मुखज अभिनय में शिर की मुद्राओं का स्थान प्रथम है। वैसे भी समस्त शारीरिक अंगों में शिर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसलिए सर्वप्रथम शिराभिनय के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

शिराभिनय के भेदों पर नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण दोनों में कुछ मतान्तर से विचार किया गया है। नाट्यशास्त्र में शिर के तेरह प्रकार बताये गये हैं, जब कि अभिनयदर्पण में यह संख्या केवल नौ है। नाट्यशास्त्र में वर्णित तेरह भेदों के नाम इस प्रकार हैं १. आकम्पित, २ कम्पित, ३ धुत, ४ विधुत, ५ परिवाहित, ६ आधूत, ७ अवधूत, ८. अंचित, ९. निहंचित, १० परावृत्त, ११ उत्क्षिप्त, १२ अधोगत, और १३ लोलित।

इसी प्रकार अभिनयदर्पण म वर्णित नौ भेदों के नाम इस प्रकार हैं. १. सम, २ उद्वाहित, ३. अधोमुख, ४ आलोकित, ५ धुत, ६ कम्पित, ७ परावृत्त, ८. उत्क्षिप्त और ९ परिवाहित।

इनमें कम्पित, धुत, परिवाहित, परावृत्त, उत्क्षिप्त और अधोगत (अधोमुख)—इन छः भेदों का दोनों सूचियों में उल्लेख है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में वर्णित शिर-भेदों की गणना में असमानता है। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों में उनके जो लक्षण-विनियोग दिये गये हैं, उनमें भी भिन्नता है। दोनों सूचियों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र की अपेक्षा अभिनयदर्पण में वर्णित लक्षण और विनियोग अधिक उपयुक्त और वैज्ञानिक है। संख्या की इस न्यूनाधिकता का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि आचार्य नन्दिकेश्वर के समय जिन शिराभिनयों का प्रचलन अधिक था और प्रयोग रूप में परम्परा से जिनको अधिक अपनाया जा रहा था, उन्हीं का उन्होंने उल्लेख किया है। उन्होंने आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट कुछ भेदों को छोड़ दिया और नये प्रचलित कुछ भेदों को अपनी सूची में सम्मिलित कर लिया।

शिराभिनय की दो स्थितियाँ

आचार्य भरत ने शिराभिनय की दो स्थितियों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं : ऋजु और स्वभाव। ऋजु को उन्होंने संस्थान और स्वभाव को प्राकृत नाम से भी कहा है। शिर की इन दोनों स्थितियों का प्रयोग मंगल वस्तुओं के दर्शन, अध्ययन, ध्यान, स्वाध्याय और विजय आदि कार्यों तथा भावों के प्रदर्शन में किया जाता है।

आचार्य भरत का यह भी कथन है कि उक्त तेरह प्रकारों के अतिरिक्त शिराभिनय के अनेक भेद होते हैं, जो कि लोकाभिनयों में प्रचलित हैं। उनका ज्ञान लोक-परम्परा से प्राप्त करने का निर्देश किया गया है।

दृष्टि के अभिनय

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत दृष्टि के अभिनय का उल्लेख नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण दोनों में किया गया है, किन्तु दोनों की गणना एवं परिभाषा में अन्तर है। अभिनयदर्पण की अपेक्षा नाट्यशास्त्र का विधान अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म है। दोनों ग्रन्थों में दृष्टि के आठ भेद बताये गये हैं। उनका उल्लेख इस प्रकार है

नाट्यशास्त्र : १. सम, २. साची, ३. अनुवृत्त, ४ आलोकित, ५. विलोकित, ६. प्रलोकित, ७ उल्लोकित और ८ अवलोकित।

अभिनयदर्पण : १. सम, २. आलोकित, ३. साची, ४. प्रलोकित, ५. निमीलित, ६. उल्लोकित, ७. अनुवृत्त और ८ अवलोकित।

दोनों ग्रन्थों की सूचियों में केवल विलोकित (नाट्यशास्त्र) और निमीलित (अभिनयदर्पण) में अन्तर है। इन दोनों भेदों के लक्षण-विनियोगों में भी असमानता है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि : 'पीछे मुड़ कर देखने को विलोकित कहा जाता है।' अभिनयदर्पण में कहा गया है कि 'अधखुली आँखों से देखने का भाव प्रकट करने वाली दृष्टि को निमीलित कहते हैं।' इसी प्रकार दोनों के विनियोगों में भी अन्तर है।

अभिनयदर्पण में जिनको दृष्टिभेद कहा गया है, नाट्यशास्त्र में उन्हें दर्शनभेद नाम दिया गया है और साथ ही निर्देश किया गया है कि विभिन्न रसों तथा भावों के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए। नाट्यशास्त्र में दृष्टि-अभिनय के अन्तर्गत रस, स्थायी और संचारी, तीनों को मिला कर छत्तीस प्रकार बताये गये हैं।

रसभावजा दृष्टियाँ

दृष्टि भेदों के अन्तर्गत आचार्य भरत ने रसों और भावों की वाहिका रसजा (८), स्थायी भावजा (८) और संचारी भावजा (२०) का निरूपण किया है। अभिनयदर्पण में उनका उल्लेख नहीं हुआ है। आचार्य भरत के विवेचन में दृष्टि-अभिनय के इन छत्तीस प्रकारों का बड़े वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय विधि से विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य नन्दिकेश्वर का दृष्टिकोण केवल हस्ताभिनयों के प्रतिपादन में ही केन्द्रित रहा और इसलिए उन्होंने दृष्टिभेदों के आठ प्रकारों का ही सामान्य निरूपण करने के उपरान्त उनके भेदोपभेदों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

रसजा दृष्टियाँ

आंगिक अभिनय के अन्तर्गत आचार्य भरत ने रसजा दृष्टियों के आठ प्रकारों का उल्लेख इस प्रकार किया है : १ कान्ता, २ भयानका ३ हास्या, ४ करुणा, ५ अद्भुता, ६ रौद्रा, ७ वीरा और ८ बीभत्सा। ये आठ प्रकार की रसजा दृष्टियाँ आठ रसों की अभिव्यंजिका हैं। शृंगार रस के भावों की अभिव्यक्ति के लिए कान्ता, भयानक रस की अभिव्यक्ति के लिए भयानका, हास्यरस के भावों की अभिव्यक्ति के लिए हास्या, करुण रस की अभिव्यक्ति के लिए करुणा, अद्भुत रस की अभिव्यक्ति के लिए अद्भुता, रौद्ररस के भावों की अभिव्यक्ति के लिए रौद्रा, वीर रस के भावों की अभिव्यक्ति के लिए वीरा और वीभत्स रस के भावों की अभिव्यक्ति के लिए बीभत्सा दृष्टियों का प्रयोग किया जाता है।

स्थायीभावजा दृष्टियाँ

नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में स्थायी भावों के आठ प्रकार बताये गये हैं। तदनुसार स्थायीभावजा दृष्टि के भी आठ भेद होते हैं। उनके नाम हैं १ रतिभावजा २ हास्यभावजा ३ शोकभावजा, ४ क्रोधभावजा, ५ उत्साहभावजा ६ भयभावजा, ७ जुगुप्सितभावजा और ८ विस्मयभावजा। दृष्टि-अभिनयों द्वारा आठ प्रकार के स्थायी भावों को भिन्न-भिन्न रूप से अभिव्यक्त एवं प्रदर्शित करने पर उक्त आठ प्रकार की स्थायी भावजा दृष्टियों की उत्पत्ति होती है।

सचारीभावजा दृष्टियाँ

दृष्टि अभिनय के सन्दर्भ में नाट्यशास्त्र में बीस प्रकार की सचारीभावजा दृष्टियों का उल्लेख किया गया है। उनके नाम इस प्रकार है १ शून्या, २ मलिना, ३ श्रान्ता, ४. लज्जान्विता, ५ ग्लाना, ६ शकिता, ७ विषण्णा, ८ मुकुला, ९ कुचिता, १० अभितप्ता, ११ जिह्मा, १२ सुललिता, १३ वितर्किता, १४ अर्धमुकुला, १५ विभ्रान्ता, १६ विलुप्ता, १७ अकेकरा, १८ विकोशा, १९ त्रस्ता और २० मदिरा।

ग्रीवाभिनय

ग्रीवाभिनय का उल्लेख नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण दोनों में मिलता है। किन्तु दोनों की सख्या और प्रयोग-विनियोग में अन्तर है। आचार्य भरत ने ग्रीवा के नौ प्रकार बताये हैं १ समा, २ नता, ३ उन्नता, ४ त्र्यस्त्रा, ५ रेचिता, ६ कुचिता, ७ अचिता, ८ वलिता और ९ विवृत्ता। इसके विपरीत आचार्य नन्दिकेश्वर ने केवल चार ग्रीवाभेदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम है १ सुन्दरी, २ तिरश्चीना, ३ परिवर्तिता और ४ प्रकम्पिता। इस प्रकार दोनों की नाम सूचियों से ही उनकी पारस्परिक भिन्नता स्पष्ट है। आचार्य भरत का यह भी कहना है कि लोकमानस के भावों के अनुसार ग्रीवा-भेदों की सख्या इससे भी अधिक हो सकती है।

हस्ताभिनय

आगिक अभिनय भेदों के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण के अनुसार छ अग साधनों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे इस प्रकार हैं १ सिर, २ दोनों हाथ, ३ वक्षस्थल (छाती), ४ दोनों पार्श्व (अगल-बगल), ५ दोनों कटि प्रदेश और ६ दोनों पैर। उनमें शिराभिनय का वर्णन पहले किया जा चुका है।

आचार्य भरत, आचार्य नन्दिकेश्वर और अन्य नाट्यशास्त्रियों ने हस्ताभिनय का विशेष रूप में उल्लेख किया है। हाथ ही एकमात्र ऐसे अग साधन हैं जिन पर सम्पूर्ण अभिनय कला आश्रित है। आचार्य नन्दिकेश्वर का अभिनयदर्पण इस दृष्टि से प्रमुख है। वस्तुत उसमें हस्ताभिनयों का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है और इसी दृष्टि से साहित्य और लोक, दोनों में उसकी प्रतिष्ठा है।

हस्ताभिनय के सभी आचार्यों ने दो प्रमुख प्रकार बताये हैं असयुत और संयुत। जिस अभिनय में केवल एक हाथ का ही प्रयोग किया जाता है, उसे असयुत और जिसमें दोनों हाथों का प्रयोग किया जाता है उसे संयुत हस्ताभिनय कहते है।

'इनकी सख्या और परिभाषा आदि में आचार्यों का मतान्तर है। आचार्य भरत के अनुसार असयुत हस्त के चौबीस प्रकार और सयुत हस्त के तेरह प्रकार हैं। किन्तु आचार्य नन्दिकेश्वर के मत से असयुत हस्त के अट्ठाईस (मतान्तर से बत्तीस) और सयुत हस्त के तेईस प्रकार हैं। लोक-परम्परा के अनुसार यह सख्या इससे भी अधिक बैठती है।

इनके अतिरिक्त अभिनयदर्पण में सोलह प्रकार के देव हस्त, दस प्रकार के दशावतार हस्त पाँच प्रकार के विभिन्न जातीय हस्त, ग्यारह प्रकार के बान्धव हस्त, ग्यारह प्रकार के नृत्त हस्त और नौ प्रकार के नवग्रह हस्त के लक्षणों तथा विनियोगों का निरूपण हुआ है।

पादाभिनय

हस्ताभिनय के अनन्तर आचार्य नन्दिकेश्वर ने पादाभिनय का निरूपण किया है। उन्होंने हस्ताभिनय की ही भाँति पादाभिनय का भी महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। पाद विन्यास की वहाँ चार स्थितियाँ बतायी गयी हैं, जिनके नाम हैं १ मण्डल, २ उत्प्लवन, ३ भ्रमरी और ४ पादचारी। इनके भी भेदोपभेद हैं।

पादाभिनय के प्रसंग में आचार्य नन्दिकेश्वर ने गति (चाल) के दस भेदों का भी विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि पादाभिनयों के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण अनेक भेद होकर उनकी संख्या अनन्त हो जाती है। इन अभिनय भेदों को सम्प्रदाय, परम्परा द्वारा और शास्त्रज्ञ व्यक्तियों से जान लेना चाहिए।

अन्य आंगिक अभिनय

आंगिक अभिनयों की चर्चा में आचार्य भरत ने आँखें, पलकें, भव, कपोल, चिबुक (ठोडी) और मुख आदि अंगों एवं उनके भेदोपभेदों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके प्रयोग की विधि क्या है इस पर भी नाट्यशास्त्र में प्रकाश डाला गया है। अभिनयदर्पण में इनका उल्लेख नहीं किया गया है। सम्भवतः इसलिए कि आचार्य नन्दिकेश्वर का विशेष रूप में हस्त और पाद अभिनयों का निरूपण करना ही मुख्य उद्देश्य था। सम्भवतः उन्होंने इसलिए भी उनको छोड दिया हो कि तत्कालीन लोक-जीवन में उनका प्रचलन नहीं रह गया था। आचार्य नन्दिकेश्वर ने उन्हीं अभिनय प्रयोगों पर विशेष विचार किया है जिनका लोकरुचि से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

आंगिक अभिनय में मुखराग का योग

मुखराग, अर्थात् मुख की भंगिमाओं के सम्बन्ध में आचार्य भरत ने विशेष रूप से विचार किया है। आंगिक अभिनयों के प्रयोग के लिए मुखराग की आवश्यकता को बताते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि उसके संयोग से अभिनय में उसी प्रकार दुगुना आकर्षण बढ़ जाता है जैसे चाँदनी में रात का। दृष्टि, भवें, कपोल, अधर और चिबुक इन अंगों के अभिनय में भाव तथा रस की अभिव्यक्ति के लिए मुखराग का महत्वपूर्ण योग बताया गया है। यह मुखराग चार प्रकार का है १ स्वाभाविक, २ प्रसन्न, ३ रक्त और ४. श्याम। मुख की ये भंगिमाएँ विभिन्न रसाभिनयों में विविधता से प्रदर्शित की जाती हैं।

वाचिक अभिनय

नाट्यशास्त्रीय परम्परा मे आंगिक अभिनय की भाति वाचिक अभिनय का महत्वपूर्ण स्थान है। उसको नाट्य का शरीर कहा गया है (नाट्यशास्त्र–५।२)। इस नाट्यशरीर की जानकारी के लिए **नाट्यशास्त्र** मे यति, काकु, नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, समास, तद्धित, विभक्ति और सन्धि आदि के नियमो का विधान किया गया है। इस दृष्टि से वाचिक अभिनय के लिए व्याकरणशास्त्र काव्यशास्त्र, सगीतशास्त्र और छन्दशास्त्र की जानकारी आवश्यक है।

आचार्य भरत ने लिखा है कि ऐसी अवस्था मे, जब कि दोनो हाथ मुद्राएँ धारण किये हो, तब विराम, मौन, काकु या स्वर द्वारा वाचिक अभिनय का प्रदर्शन करना चाहिए। **नाट्यशास्त्र** मे यह भी उल्लेख किया गया है कि अवस्थाओ और स्थितियो के अनुसार हस्त आदि आगिक अभिनयों के अतिरिक्त वाचिक और सात्त्विक अभिनयो का भी प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य नन्दिकेश्वर के मत से 'जिस नृत्य मे वाणी द्वारा काव्य (गीत-सगीत) और नाटकादि (सम्वादादि) का अभिव्यजन किया जाय, उसे **वाचिक अभिनय** कहते हैं'

वाचा विरचित' काव्यनाटकादि तु वाचिक ॥३९॥

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि वाचिक अभिनय का मुख्य उद्देश्य वाणी के विविध प्रयोगो से है। **नाट्यशास्त्र** मे वाणी के इन विविध प्रयोगो पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसमे भाषा विभेद की दृष्टि से विभिन्न प्रदेशो तथा अचलो की बोलियो का वर्गीकरण करते हुए लिखा गया है कि नाट्य मे बर्बर, किरात, आध्र और द्राविड—इन चार जातियो की भाषा का प्रयोग नही करना चाहिए। बोलियो की श्रेष्ठता और हीनता के आधार पर ही यह विधान किया गया है। **नाट्यशास्त्र** का यह भी निर्देश है कि गगा सागर, विन्ध्य सागर, सौराष्ट्र, अवन्ती, हिमालय, सिन्ध, सौवीर और चर्मण्वती के अचलो एव क्षेत्रो मे बोली जाने वाली भाषाओ का नाट्य मे प्रयोग करना चाहिए।

भाषाओ और बोलियो के विधान के अतिरिक्त वाचिक अभिनय मे **पाठ्य** (पठन, कथन, सम्वाद) के प्रयोग पर आचार्य भरत ने विशेष रूप से विचार किया है। **पाठ्य** के उन्होने छ अग बताये है, जिनके नाम हैं १. स्वर, २. स्थान, ३. वर्ण, ४. काकु, ५. अलकार और ६. अग। पाठ्य के इन छ भेदो का तभी समुचित प्रयोग किया जा सकता है, जब पात्र या अभिनेता काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, सगीतशास्त्र और छन्दशास्त्र से सुपरिचित हो।

शृगार आदि नौ रसो मे षड्ज आदि सात स्वरो के प्रयोग का निरूपण करते हुए लिखा गया है कि वाणी के तीन स्थान हैं उर, कण्ठ और शिर। किस अवसर पर किस स्थान की वाणी का प्रयोग करना चाहिए, इसकी विधि जानने के लिए स्वर और स्थान का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी प्रकार शृगारादि

रसा मे वर्ण के चारो प्रकार, अर्थात् १ उदात्त, २ अनुदात्त ३ स्वरित और ४. कम्पित की प्रयोग विधिया का वर्णन वर्ण पाठ्य के अन्तर्गत किया गया है।

काकु, अर्थात् सुस्वर के समुचित प्रयोग पर विशेष रूप से विचार किया गया है। वहाँ कहा गया है, क्योंकि जितने भी पठन, वचन और सम्वाद के भेद हैं, उन सब मे उसकी आवश्यकता होती है। भाव, विचार और सन्दर्भ को दृष्टि मे रख कर प्रत्येक अभिनेता को वाणी के आरोह-अवरोह का सुचारु प्रयोग कैसे करना चाहिए—इसका ज्ञान काकु पाठ्य के प्रयोग पर निर्भर होता है। वाचिक अभिनय में छ प्रकार के अलकारो के प्रयोग पर विचार किया गया है। उनके नाम हैं १ उच्च, २ दीप्त, ३. मद्र, ४. नीच, ५ द्रुत और ६. विलम्बित। वस्तुत ये स्वर भेद हैं, जिन्हे अलकार की सज्ञा दी गयी है। शरीर मे इनके स्थान कहाँ-कहाँ पर हैं, अभिनेता को उनकी जानकारी होनी आवश्यक बतायी गयी है। पाठ्य मे किस प्रसग पर किस अलकार का प्रयोग करना उचित है और किसका अनुचित, इन बातो पर विशेष ध्यान देने का निर्देश किया गया है।

पाठ्य के उक्त छ अगो के अतिरिक्त उसकी छ स्थितियाँ बतायी गयी हैं, जिनके नाम हैं १ विच्छेद, २. अर्पण, ३ विसर्पण ४. विसर्ग, ५ दीपन और ६ प्रशमन। इन छ स्थितिया का प्रयोग विभिन्न रसावस्थाओ मे अलग-अलग करने का विधान किया गया है।

वाचिक अभिनय के सन्दर्भ मे उक्त षड्विध अगो और स्थितियो के अतिरिक्त आचार्य भरत ने लय, विराम, काव्य, अक्षर (ह्रस्व-दीर्घ-स्वर उच्चारण), आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, सलाप, अपलाप, सन्देश और व्यपदेश आदि की विधियो पर भी विस्तार मे प्रकाश डाला है। अभिनय कला मे निपुणता प्राप्त करने वाले पात्रों या अभिनेताओ को इन विधियों का भली भाँति अध्ययन करना चाहिए।

वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध शरीर से न होकर वाणी के विभिन्न प्रयोगो से है। इसी उद्देश्य से यहाँ वाणी के विभिन्न स्थानो एव स्थितियों की विशेष चर्चा की गयी है। शुद्ध, स्पष्ट, समुचित और सन्दर्भ सम्मत उच्चारण-विधियों का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर ही अभिनेता वाचिक अभिनय का सुचारु प्रदर्शन कर सकता है।

आहार्य अभिनय

अभिनय के चार भेदों मे आहार्य का तीसरा स्थान है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि 'हार और केयूर आदि प्रसाधनो से सुसज्जित होकर जिस नाट्य का प्रदर्शन किया जाता है, उसे आहार्य अभिनय कहते है

आहारो हारकेयूरवेषादिभिरलकृत ॥४०॥

इस प्रकार आहार्य अभिनय का सम्बन्ध प्रसाधन, वेष भूषा और साज-शृगार से है। आचार्य भरत ने उसको नेपथ्यकर्म नाम दिया है। इस नेपथ्यकर्म मे अभिनेता को सिर से पैर तक विभिन्न अगो के प्रसाधन और साज-सज्जा की व्यवस्था का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। देश, काल, जाति, वय और अवस्था के अनुरूप अग-प्रत्यग के प्रसाधन की विधियाँ क्या हैं, इन पर विशेष ध्यान देने का निर्देश किया गया है। वस्त्राभरण

आदि प्रसाधनों द्वारा प्रकृत वस्तु का तदनुरूप अनुकरण ही आहार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृत वस्तु का जैसा वेष, पहनावा एवं जैसी स्थिति हो, अभिनय के समय ठीक वैसा ही अनुकरण करना चाहिए। उदाहरण के लिए लव-कुश का अभिनय करने के लिए बारह वर्ष या इससे कम वय वाले बालक ही सर्वथा उपयुक्त है। इतना ही नही, अपितु उन वनवासी बालकों के वस्त्राभूषण, परिधान आदि भी राजसी न होकर वल्कल, वनपुष्प ही होने चाहिएँ। यदि इन बातों पर ध्यान न दिया गया तो उसे आहार्य अभिनय नहीं कहा जा सकता।

वेश ही एक ऐसा माध्यम है, जिसके आधार पर किसी व्यक्ति के देश, जाति, वर्ण और वय की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उसमे स्वाभाविकता एव तदनुरूपता होनी चाहिए। दर्शक के भावों के उद्दीपन के लिए प्रकृत वस्तु का आहार्य ऐसा होना चाहिए, जिसमें परम्परा का पूरी तरह निर्वाह हो और वातावरण मे किसी प्रकार की कृत्रिमता न हो।

शरीर-सज्जा एवं प्रसाधन का महत्व न केवल अभिनय की दृष्टि से, अपितु सुख, सौन्दर्य, सौभाग्य और मंगल की दृष्टि से भी उपयोगी एव व्यावहार्य है। वह शारीरशास्त्र का भी विषय है। किस अंग पर कौन-सा अलंकार या परिधान धारण करना चाहिए, और किसको धारण नही करना चाहिए—शास्त्रों मे इस विषय पर विस्तार और गम्भीरता से विचार किया गया है। इन विधानों की जानकारी प्राप्त करने के अनन्तर ही नेपथ्यकर्म की विधाओं को हृदयगम किया जा सकता है। आहार्य अभिनय मे इन्ही शरीर-सज्जा की विधियों का निरूपण किया गया है।

परम्परा, लोकदृष्टि और शास्त्रसम्मत देश, काल, वर्ण, आश्रम, जाति, लिंग, वय और परिस्थिति के अनुसार समुचित शरीर-सज्जा की विधियों का निरूपण करना ही आहार्य अभिनय का प्रतिपाद्य विषय है। *शरीर-सज्जा तथा वस्त्रालंकरण के लिए नेपथ्य के चार कर्म बताये गये हैं, जिनके नाम है* १ **कचधार्य** (केशविन्यास), २ देहधार्य (शरीरसज्जा), ३. परिधेय (वस्त्रालंकरण-सज्जा) और ४ विलेपन (अंगराग या अनुलेपन)।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों मे आहार्य के चार प्रकार बताये गये हैं। उनके नाम है १. पुस्त, २. अलंकार, ३ अंगरचना और ४ सजीव। बांस या सरकडे पर कपडे या चमडे आदि की सहायता से तीन तरह के पुस्त *(स्टेज) बनाये जा सकते हैं। उनको चेष्टाओं द्वारा भी अभिव्यंजित किया जा सकता है। अलंकार आहार्य* के अन्तर्गत माल्य, आभरण और वस्त्राभूषण आदि की गणना की गयी है। अंग-रचना मे स्त्री-पुरुषों के बहुविध वेश-विन्यास का विधान किया गया है। स्टेज पर प्राणिवर्ग के प्रवेश के प्रदर्शन को सजीव कहा गया है।

इस प्रकार आहार्य का नाट्य मे इसलिए भी विशेष स्थान है कि वह अभिनय का एक प्रमुख अंग होते हुए भी *नेपथ्य-रचना के लिए उसका विशेष महत्त्व है। नाट्य का रूपक नामकरण इसी नेपथ्य-रचना के कारण* हुआ। रूपक उसे इसलिए कहा गया कि उसमें वर्णित पात्रों, सस्कृतियों और परम्पराओं आदि के अनुरूप रूप-रचना करके दर्शकों को उसमे तादात्म्य प्रतीति होती है।

सात्त्विक अभिनय

अभिनय भेदा मे सात्त्विक अभिनय का चौथा एव अन्तिम स्थान है। अभिनयदर्पण के आरम्भिक मगल श्लोक मे अभिनय के प्रथम तीन भेदा को नटराज भगवान् शकर के विभिन्न कलारूप बताया गया है, किन्तु सात्त्विक अभिनय को साक्षात् शिवस्वरूप कहा गया है

त नुम सात्त्विक शिवम्।

इस प्रकार अभिनय भेदा म सात्त्विक अभिनय का महत्व स्वत सिद्ध है। आचार्य भरत ने उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'जिस नाट्य म सात्त्विक अभिनय की मुख्यता होती है उस श्रेष्ठ (सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते) जिसम अन्य अभिनया की तरह उसकी सामान्य स्थिति होती है उस मध्यम और जिसम अन्य अभिनया की अपेक्षा उसकी स्थिति गौण होती है अथवा होती ही नही है उसे अधम कहा जाता है।'

आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनयभारती (२२।२) म लिखा है कि जिसे अभिनय कहते हैं वह तो वस्तुत सात्त्विक अभिनय ही है न कि आगिक, वाचिक, आहार्य। कहा जाता है कि नट अभिनय करता है, इसका अर्थ यही है कि नट की चित्तवृत्ति रामादि नायका की चित्तवृत्ति से एकरस हो चुकी है और उसके कार्य-कलाप म सहृदय सामाजिक रामादि नायका के कार्यकलाप का दर्शन कर रहे हैं। इसी दृष्टि से नाट्य को सत्त्व पर आधारित माना गया है

सत्त्वे नाट्य प्रतिष्ठितम्।

अभिनयदर्पण मे सात्त्विक अभिनय का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस नाट्य म भावज्ञ व्यक्ति द्वारा सात्त्विक भावा के माध्यम से नृत्य का प्रदर्शन किया जाता है, उस सात्त्विक अभिनय कहते हैं

सात्त्विक सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावित ॥४०॥

इन सात्त्विक भावा के यहा आठ प्रकार बताये गय हैं १ स्तम्भित होना (स्तम्भ), २ पसीन-पसीन होना (स्वेदाम्बु), ३ रोमाचित होना (रोमाच), ४ वाणी का लडखडा जाना (स्वरभग), ५ शरीर मे कॅपकॅपी होना (वेपथु), ६ मुखाकृति का विकृत हो जाना (वैवर्ण्य), ७ अश्रुपात होना (अश्रु) और ८ मूर्च्छित होना (प्रलय)। नाट्यशास्त्र म कहा गया है कि दुख, मूर्छा, लज्जा, घृणा, शोक, ग्लानि, स्वप्न, निश्चेष्टा, तन्द्रा, जडता, व्याधि, भय, जरा, असफलता, उन्माद, चिन्ता और बन्धन आदि के भावा एव उनकी अवस्थाओ का प्रदर्शन सात्त्विक भावा द्वारा करना चाहिए।

इस प्रकार अभिनय भेदों में सात्त्विक अभिनय की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है। सहृदय सामाजिक के मन में यह सत्त्वोद्रेक कैसे उत्पन्न होता है, इसकी विधि जानने के लिए सात्त्विक भावों की जानकारी अपेक्षित है। इसलिए सात्त्विक भावों के सम्बन्ध में विस्तार से जान लेना चाहिए।

सात्त्विक भाव

रस की निष्पत्ति में जिस प्रकार विभाव, अनुभाव, सचारी भाव और स्थायी भाव सहायक हैं, उसी प्रकार सात्त्विक भावों की भी अपनी अलग स्थिति है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (३।१३४) में सात्त्विक भावों का लक्षण करते हुए लिखा है कि 'सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार हैं, उन्हें सात्त्विक भाव कहा जाता है'

विकारा. सत्त्वसम्भूता सात्त्विका परिकीर्तिता.।

सत्त्व अन्तःकरण का एक धर्मविशेष है, जिसके कारण सामाजिक के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायी भावों का उद्बोधन होता है (सत्त्व नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः)। ये सात्त्विक भाव अनुभावों तथा भावों से सर्वथा भिन्न मनोविकार हैं।

नाट्यशास्त्र (७।९४) में कहा गया है कि मन की एकाग्रता (ध्यानावस्था) से सत्त्व की निष्पत्ति होती है (मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति)। रोमाचित होना, अश्रुपात करना और मुखराग का पीला पड़ना—ये सब सत्त्व के स्वभाव हैं। उनके अनुकरण एवं प्रयोग के लिए एकमनस्कता का होना आवश्यक है। नाट्य में लोकस्वभाव एवं लोकचरित का अनुकरण सत्त्व के द्वारा होता है। उसके बिना यह सम्भव ही नहीं है। इसलिए नाट्य-प्रयोग में लोकस्वभाव के अनुकरण के लिए सत्त्व की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। उदाहरण के लिए नाट्य में लोक के सुख-दुःखात्मक भावों का अभिनय किया जाता है। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए शुद्ध सात्त्विक भावों का यथार्थ प्रयोग होना चाहिए। उनका अभिनय इस प्रकार होना चाहिए जिससे वे यथार्थ प्रतीत हों। सुख-दुःख की यथार्थ स्थिति पैदा किये बिना उनकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। नट या अभिनेता द्वारा सुख-दुःख का वास्तविक एवं प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना नाट्य में शुद्ध सात्त्विक भावों के माध्यम से सुख-दुःखात्मक अभिव्यक्ति करना असम्भव है। इसीलिए अभिनय में सात्त्विक भावों की अलग से योजना की गयी है।

काव्य-नाटक में रस प्रतीति का हेतु सत्त्वोद्रेक ही है। रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन ही सत्त्व है। यह सत्त्वनिष्ठ मन आत्मरत एवं अन्तर्मुख होता है। अलौकिक काव्य-नाटकार्थ का अनुभव करने वाले सहृदय सामाजिक के मन में यह सत्त्वोद्रेक स्वभावतः उत्पन्न होता है।

यह सत्त्वोद्रेक ही आनन्दानुभव एवं रसप्रतीति का साधन या माध्यम है। मनुष्य के मन में इच्छा, क्रिया और ज्ञान—ये तीनों विकार प्रसुप्त रूप में विद्यमान होते हैं। इच्छा, अर्थात् चाहना, क्रिया अर्थात्

करना; और ज्ञान, अर्थात जानना। इच्छा रजोगुण सम्भूता, क्रिया तमोगुणयुक्ता और ज्ञान सत्वगुण प्रधान है। इच्छा और क्रिया, अर्थात् रजोगुण और तमोगुण के अनन्तर तीसरी एव अन्तिम स्थिति ज्ञान, अर्थात् विशुद्ध सत्त्व की अवस्था है। नाट्य के दर्शक या श्रोता जब इस विशुद्ध सत्त्व प्रधान स्थिति मे पहुँचते हैं, तब उन्हे जिस आनन्द की प्रतीति होती है, उसी को रस कहा गया है।

रस-भेद के अनुरूप अभिनय के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता है। ये सात्त्विक भाव विभिन्न अभिनय स्थितियो मे विभिन्नता से आश्रित होते हैं। विभिन्न रसो मे उनके प्रयोग की भी अलग-अलग विधियाँ हैं। इसी उद्देश्य से आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र (७।१२४) मे कहा है कि 'विभिन्न अभिनयों मे सात्त्विक भावो का प्रयोग विविधता मे किया जाता है। अत नाट्य-प्रयोग मे विभिन्न रसो के अनुसार कुशल व्यक्ति ही उनका प्रयोग कर सकते है'।

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनययोजिताः।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदैः॥

नाट्यशास्त्र (७।९४), अभिनयदर्पण (श्लोक ४१) और अन्य नाट्य-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे इन सात्त्विक भावो की सख्या आठ बतायी गयी है, जिनके नाम हैं १. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमांच, ४. स्वरभेद, ५. वेपथु, ६. वैवर्ण्य, ७. अश्रु और ८. प्रलय। नाट्यशास्त्र (७।९५-१०७) मे इन आठ प्रकार के सात्त्विक भावो के लक्षण एव प्रयोग पर विस्तार से विचार किया गया है, जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है

१. स्तम्भ : हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद और रोष—इनसे स्तम्भ उत्पन्न होता है। सज्ञाहीन, निश्चेष्ट, स्थिर, शून्य, जडता आदि स्थितियो को प्रकट करने के लिए स्तम्भ भाव का अभिनय किया जाता है।

२. स्वेद : क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, घात, व्यायाम, क्लेश, उत्ताप और पीडा मे स्वेद उत्पन्न होता है। उसका विनियोग व्यजन करने, पसीना पोछने और शीतलता की इच्छा करने की स्थिति मे किया जाता है।

३. रोमाच : स्पर्श, शीत, क्रोध, भय, श्रम और रोग की स्थितियो मे रोमाच उत्पन्न होता है। शरीर के कण्टकित हो जाने, शरीर के सघर्षण, शरीर के रोमाचित हो जाने और शरीर स्पर्श की स्थितियो मे रोमाच सत्त्व का अभिनय किया जाता है।

४. स्वरभेद : भय, हर्ष, जरा, क्रोध, उदासीनता और मदजनित व्याधियों से स्वरभेद उत्पन्न होता है। वाणी के लड़खडाने और गद्गद् स्वर के भावो को प्रकट करने के लिए स्वरभेद सत्त्व का अभिनय किया जाता है।

५ वेपथु : शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श, जरा और व्याधि से उत्पन्न कम्प की अवस्था मे वेपथु उत्पन्न होता है। उसका प्रयोग कँपकँपी, फड़फड़ाने और कम्पन आदि के भावों के प्रदर्शन के लिए किया जाता है।

६ वैवर्ण्य शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और तापजनित क्लेश से वैवर्ण्य उत्पन्न होता है। मुखाकृति के विकार, नाडियों के दबाव और दुष्कर प्रयत्न आदि के भाव प्रकट करने के लिए वैवर्ण्य सत्त्व का प्रयोग किया जाता है।

७ अश्रु : आनन्द, अमर्ष, धुआँ, अजनलेप, जृम्भण, भय, शोक, निर्निमेष दृष्टि, शीत और रोग की स्थितियों में अश्रुपात होता है। उसका अभिनय आँखों के पोंछने, आँसू गिराने और आँसू बहाने के लिए किया जाता है।

८ प्रलय श्रम, मूर्च्छा, मद, निन्दा, आघात और मोह आदि के कारण प्रलय उत्पन्न होता है। उसका प्रदर्शन निश्चेष्ट, निष्कम्प, श्वास प्रश्वास की मन्दगति और धरती पर गिर जाने आदि के भावों के अभिव्यंजन हेतु किया जाता है।

इस प्रकार अभिनय और उसके भेदोपभेदों के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों, विशेष रूप से अभिनय-दर्पण में विस्तार से विचार किया गया है। लोकजीवन से सम्बन्ध होने के कारण, लोक में प्रचलित उसके विभिन्न प्रकारों की जानकारी के लिए शास्त्रकारों ने परम्परा और गुरुजनों से सम्बन्ध स्थापित करने का निर्देश किया है। अभिनय-भेदों का विवेचन करने के उपरान्त आगे उनकी प्रयोग विधियों पर विचार किया गया है।

अभिनय प्रयोग

अधिष्ठाता देवताओं की स्तुति, वाद्यार्चन और गुरुवन्दना

भारतीय परम्परा एवं मान्यता के अनुसार किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को आरम्भ करते समय उसकी सफलता एवं निर्विघ्नता की कामना के लिए मंगलाचरण का विधान है। कार्यारम्भ के समय अधिष्ठाता देवता का आवाहन किया जाता है, जिससे कि कार्यसिद्धि और लोकमंगल हो। शास्त्र-विधि के अनुसार ग्रन्थ के आरम्भ, मध्य और समाप्ति पर मंगल श्लोक की रचना करने का निर्देश इसी उद्देश्य से किया गया है।

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र का विधान है कि अभिनय के आरम्भ में, जब नर्तक-नर्तकी शृंगार रचना एवं प्रसाधन के लिए उद्यत हों, उन्हें अभिनय के अधिष्ठाता देवता की स्तुति करनी चाहिए। इसी प्रकार अभिनय के साधन वाद्य यन्त्रों और अभिनय विद्या के प्रदाता गुरुपाद की भी वन्दना का विधान है। इस नियम के परिपालन हेतु अभिनयदर्पण (श्लोक ३१) में निर्देश किया गया है कि अभिनय के लिए अंग-प्रत्यंग की शृंगाररचना करने से पूर्व नर्तक-नर्तकी को विघ्न विनाशक भगवान् गणेश और अभिनय के अधिष्ठाता नटराज भगवान् शंकर की स्तुति करनी चाहिए। तदनन्तर आकाश और पृथ्वी की वन्दना करनी चाहिए। इसी प्रकार अति मनोहर आलापों के साथ विधिपूर्वक वाद्य यन्त्रों की पूजा-अर्चना करनी चाहिए। यह प्रक्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद जिस आचार्य से शिक्षा ग्रहण की हो, उनके पैरों पर झुक कर प्रणाम करना चाहिए। उनकी आज्ञा प्राप्त करने के अनन्तर अंग प्रत्यंग की शृंगार-रचना करनी चाहिए।

नाट्य प्रयोग

नाट्य के अधिष्ठाता देवताओं की स्तुति, वाद्यार्चन और गुरु वन्दना करने के अनन्तर नर्तक-नर्तकी को रगमच की अधिष्ठातृ देवी की वन्दना इन शब्दो मे करनी चाहिए : 'हे रगभूमि की अधिष्ठातृ देवी, तुम्हारी बारम्बार जय हो। तुम नाट्याचार्य भरत की नाट्य-परम्परा की अधिष्ठातृ, विविध भावो एव रसो की विधातृ, आनन्द की परिणति और सृष्टि को सम्मोहित करने वाली एकमात्र कला स्वरूपा हो।'

नर्तक-नर्तकी को इस शास्त्रोक्त विधि का परिपालन करना चाहिए। उसके बाद सुसज्जित एव सन्नद्ध होकर अभिनय के लिए रगभूमि पर अवतरित होना चाहिए। रगभूमि पर विशेष मुद्रा मे अवस्थित होकर सर्व प्रथम उसे विघ्न-बाधाओ की निवृत्ति के लिए, लोकमगल के लिए, देवताओ की प्रसन्नता के लिए, दर्शकों की ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए, नाटच के नायक के श्रेयस् के लिए, अन्य पात्रों की मगलकामना के लिए और आचार्यपाद से अधीत कला की सिद्धि-सफलता के लिए पुष्पाजलि अर्पित करनी चाहिए।

अभिनय की इस आरम्भिक विधि का सम्पादन करने के अनन्तर नर्तक-नर्तकी को रगमच पर विभिन्न भावों, आकर्षक मुद्राओ, सुस्वर और ताल-छन्द समन्वित स्थिति मे तन्मय होकर अभिनय का प्रदर्शन करना चाहिए। ऐसा अभिनय, जिससे सारी नाट्यसभा रसविभोर हो जाय।

अभिनय सभा का आयोजन

नाट्यशास्त्र और **अभिनयदर्पण** मे नाट्य, नृत्त और नृत्य के आयोजन के लिए अलग-अलग सभाओं (मण्डलियों) का विधान किया गया है। उनको किस समय और कहाँ पर आयोजित एव प्रदर्शित करना चाहिए, इसका भी निरूपण किया गया है। नाट्य, नृत्त और नृत्य किस उद्देश्य या प्रयोजन से किये जाते हैं, इसका भी **अभिनयदर्पण** की प्रस्तावना मे शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है।

अभिनय सभा का सभापति और मंत्री

नाट्य, नृत्त और नृत्य का प्रदर्शन करने के लिए सर्वप्रथम एक सभापति और मत्री की नियुक्ति का विधान किया गया है। सभापति की योग्यताओं के सम्बन्ध मे लिखा गया है (श्लोक १७) कि वह श्रीसम्पन्न, बुद्धिमान्, विवेकशील, पुरस्कार-वितरण मे निपुण, सगीत विद्या मे प्रवीण, सर्वज्ञ, प्रशस्तकीर्ति, रसिक, गुणवान्, हाव-भावों का ज्ञाता, ईर्ष्या-द्वेष रहित, स्वभाव से हितेच्छु, सदाचारी, शील-सम्पन्न, दयालु, धीर, सयमी, कलाओं का ज्ञाता और अभिनय कुशल होना चाहिए।

इन गुणों एव योग्यताओं से सम्पन्न सभापति के अतिरिक्त एक सभा मत्री की नियुक्ति का भी विधान किया गया है। इस पद पर जिस व्यक्ति की नियुक्ति की जाय, उसमें ये योग्यताएँ (श्लोक १८) होनी चाहिएँ - वह मेधावी, स्थिर चित्त, भाषण-कला मे निपुण, श्री-सम्पन्न, यशस्वी, कूटनीतिज्ञ, हाव-भावों का ज्ञाता, गुण-दोषों के भेदों का विवेचक, प्रसाधन कला मे निपुण, विवाद की स्थिति मे सन्धि करने मे सक्षम, न्यायविद्, सहृदय, विद्वान्, अनेक भाषाओ का ज्ञाता और कविकर्म मे कुशल होना चाहिए।

इस प्रकार के सर्वगुण-सम्पन्न एवं सर्वथा सुयोग्य सभापति और सभा-मंत्री से सनाथित अभिनय सभा ऐसे कल्पवृक्ष के समान होती है (श्लोक १९), वेद जिसकी शाखाएँ, शास्त्र जिसके पुष्प और विद्वन्मण्डली जिसकी भ्रमरावली है :

> सभाकल्पतरुर्भाति वेदशाखोपजीवितः।
> शास्त्रपुष्पसमाकीर्णो विद्वद्भ्रमरशोभितः॥

सभामण्डप में सभापति आदि का स्थान

इस प्रकार की अभिनय-सभा मे अलग-अलग व्यक्तियो को बैठने के लिए अलग-अलग स्थान निर्धारित किये गये हैं। इसका विधान बताते हुए लिखा गया है कि सभापति को पूर्व दिशा की ओर मुख कर के प्रसन्न मुख मुद्रा मे अपना आसन ग्रहण करना चाहिए। उसके दोनो पार्श्वों मे कवियों, मन्त्रियों और मित्र जनों के बैठने का स्थान होना चाहिए।

रंगमंच पर कलाकारों की स्थिति

सभापति के सामने का स्थान, जिसको अभिनय के लिए बनाया गया है, रंगमंच (स्टेज) कहलाता है। अभिनय करने के लिए प्रस्तुत नर्तकी को रंगमंच के मध्य मे खड़ा होना चाहिए और उसके समीप प्रधान नर्तक का स्थान होना चाहिए। नर्तक के दाहिने पार्श्व मे रंगमच पर मजीरे वाले (तालधारी) की और उसके दोनो पार्श्वों मे दो मृदंगवादकों को बैठना चाहिए। उन दोनों के मध्य मे गीतकार और गीतकार के पास ही स्वरकार का स्थान होना चाहिए।

इस प्रकार अभिनय का आरम्भ करने से पूर्व नर्तक-मण्डली को रंगमंच पर यथास्थान क्रमपूर्वक बैठना चाहिए :

> एवं तिष्ठेत् क्रमेणैव नाट्यादौ रंगमण्डली।

नर्तक-नर्तकी की योग्यताएँ

सभामण्डप और रंगमच पर सभापति, मन्त्री और कलाकारों के स्थान निर्धारित करने के उपरान्त अभिनयदर्पण मे नर्तक-नर्तकी की योग्यताओं या गुणों का वर्णन किया गया है। उनमे सामान्य रूप से कौन गुण एवं योग्यताएँ होनी चाहिएँ और विशेष रूप से कौन, इसका विस्तार से निरूपण किया गया है। इतना ही नहीं, अपितु नर्तकी के पैरों पर पहनाये जाने वाले घुंघुरू (किंकिणी) किस धातु के होने चाहिए, उनको किस विधि से बनाया जाना चाहिए और संख्या मे वे कितने होने चाहिएँ—इन सब बातों पर भी विचार किया गया है।

आचार्य भरत और आचार्य नन्दिकेश्वर ने नर्तक-नर्तकी की योग्यता पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। नाट्यशास्त्र के २६वें अध्याय मे नर्तक (शिष्य) के छ गुणो का उल्लेख इस प्रकार किया है : मेधा, स्मृति, गुणश्लाघा, राग, ससर्ग और उत्साह .

मेधास्मृतिगुणश्लाघा रागः ससर्ग एव च।
उत्साहश्च षडेवैतान् शिष्यस्यापि गुणान् विदुः॥

इसी प्रकार आचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण (श्लोक २७) मे नर्तकी या अभिनेत्री के दस गुणो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमे गीत-वाद्य-ताल के अनुसार पाद-सचालन की योग्यता हो, उसको स्थिर भाव का ज्ञान हो; उसको रगमच पर पाद-सचालन की सीमा-रेखाओ का अभ्यास हो, उसको दृष्टि-परिभ्रमण की विधियो का ज्ञान हो, उसके अभिनय में स्वाभाविकता हो, वह बुद्धिमती हो, कला के प्रति उसमे सहज अभिरुचि हो; उसकी वाणी मे माधुर्य हो, और वह गान विद्या मे निपुण हो

जवः स्थिरत्व रेखा च भ्रमरी दृष्टिरश्रमा।
मेधा श्रद्धा वचो गीतं पात्रप्राणा दश स्मृताः॥

नर्तकी के उक्त दस गुण ही उसके प्राण या जीवन हैं। उनके बिना वह निष्प्राण है। उसकी अन्य योग्यताओं या गुणों के सम्बन्ध मे अभिनयदर्पण (श्लोक २३-२५) मे लिखा गया है कि 'वह तन्वगी, रूपवती और श्यामवर्णा होनी चाहिए। उसके स्तन पुष्ट एव उन्नत होने चाहिएँ। उसमे सहज चापल्य, सरसता और कमनीयता होनी चाहिए। उसे अभिनय के आरम्भ और समापन की विधियों का ज्ञान होना चाहिए। उसको विशाल-नेत्रा होना चाहिए और गीत-वाद्य-ताल के अनुसार अभिनय की गति-विधाओं के अनुवर्तन मे दक्ष। वह सुन्दर समाकर्षक वेश-भूषा धारण किये हुए खिले कमल की भाँति प्रसन्न मुख-मुद्रा वाली होनी चाहिए। इन गुणो से समलकृत नर्तकी नाट्यसभा मे अभिनय करने योग्य समझी जाती है'

तन्वी रूपवती श्यामा पीनोन्नतपयोधरा॥
प्रगल्भा सरसा कान्ता कुशला ग्रहमोक्षयोः।
विशाललोचना गीतवाद्यतालानुवर्तिनी॥
परार्ध्यभूषासम्पन्ना प्रसन्नमुखपंकजा।
एवंविधगुणोपेता नर्तकी समुदीरिता॥

नर्तकी के इन गुणो का वर्णन करने के साथ ही अभिनयदर्पण (श्लोक २६-२७) मे उसके दस अवगुणों या अयोग्यताओं का भी उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है . 'जिसकी आँखो (पुतलियों) में सफेद या लाल फूले हों, जिसके सिर मे बाल न हो; जिसके अधर मोटे एव भद्दे हो, जिसके स्तन लटके हुए एव

अनुन्नत हो, जिसका शरीर बहुत स्थूल हो, जो बहुत दुबली-पतली हो, जिसका कद बहुत लम्बा हो, जो बौनी हो, जो कुबडी हो, और जिसके स्वर म माधुर्य न हो

पुष्पाक्षी केशहीना च स्थूलोष्ठी लम्बितस्तनी।
अतिस्थूलाप्यतिकृशा अत्युच्चाप्यतिवामना॥
कुब्जा च स्वरहीना च दर्शता नाट्यवर्जिता।

इन अवगुणों से रहित और गुणों से सम्पन्न नर्तकी में बुद्धि तथा मन के अनुरूप शरीर का भी तारतम्य होना चाहिए। उसमें ऐसी कलात्मक दृष्टि भी होनी चाहिए, जिससे कि वह दर्शकों को आकर्षित कर सके। लोकमानस में अपनी कला-कुशलता का प्रभाव डालने की भी क्षमता उसमें होनी चाहिए। सुगठित शरीर और रूपसी होने के साथ-साथ उसकी वाणी मे भी माधुर्य और सरसता होनी चाहिए।

नर्तक-नर्तकी के चरित्र मे परम्परा-बुद्धि का होना भी आवश्यक है। देश भिन्नता के अनुसार प्रत्येक नायक-नायिका के स्वभाव म असमानता होती है। जिस देश के जो नायक-नायिका होगे, उसी देश की भाषा का वे प्रयोग करेंगे और वही के आचार विचार एव रहन-सहन का आचरण करेंगे। अभिनय काल मे नर्तक नर्तकी को चाहिए कि वे तदनुरूप देश, भाषा, वेश और आचार आदि का व्यवहार करें। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र (२।६३) मे लिखा है कि 'पात्र (नर्तक-नर्तकी) को चाहिए कि वे लोकव्यवहार द्वारा देश, भाषा, वेश और क्रिया आदि के औचित्य की जानकारी प्राप्त कर तदनुसार उसका प्रयोग करें'

देशभाषाक्रियावेशलक्षणा स्यु प्रवृत्तय।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्य प्रयोजयेत्॥

इस प्रकार नर्तक-नर्तकी को चाहिए कि अवगुणो का परिहार कर वे अधिकाधिक सद्गुणो का अर्जन करें। उन्हे परम्परा की मान्यताओ को ग्रहण करने म भी सक्षम होना चाहिए। अपने इन सद्गुणो के कारण वे सहज ही दर्शको को आकर्षित कर लोकप्रियता प्राप्त करते हैं।

अभिनय की तीन प्रक्रियाएँ

आचार्य भरत ने अभिनय की तीन प्रक्रियाओ या विधियो का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं १ शाखा, २. अकुर और ३. नृत्त। उनमे आगिक अभिनय को शाखा, सूचनात्मक अभिनय को अकुर और अगहार से निष्पन्न या युक्त करण पर आधारित अभिनय को नृत्त कहा गया है।

अगहार

भगवान् शकर के आदेश पर महात्मा तण्डु ने आचार्य भरत को अगहारो के प्रयोग की जो विधियाँ

बतायी थी, नाट्यशास्त्र के चौथे अध्याय (श्लोक ४) में उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ बत्तीस प्रकार के अगहारों का निरूपण किया गया है।

अभिनय में हाथों और पैरों की सचालन-प्रक्रिया को करण कहते हैं

हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्।

आचार्य भरत ने करणों के १०८ प्रकार बताये हैं और उनकी प्रयोग-विधि पर भी प्रकाश डाला है। बत्तीस प्रकार के अगहारों की सिद्धि करणों द्वारा होती है। ये अगहार करणा पर आश्रित होते हैं (प्रयोग करणाश्रयम्)।

पिण्डीबन्ध

अगहारों तथा करणों के प्रयोग में एक आकृति विशेष (पोज) का नाम पिण्डी है। इसका प्रयोग नर्तक-नर्तकियों के सामूहिक नृत्य द्वारा होता है। उसका आयोजन देवताओं की प्रसन्नता के लिए किया जाता है। अलग-अलग देवताओं की अलग-अलग पिण्डियाँ बतायी गयी हैं।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ-विध्वस की साध्यवेला में शकर के ताण्डव और पार्वती के लास्य में नन्दि एव भद्रमुख गणों ने भी साथ दिया था। उसी समय शकर ने दोनों गणों द्वारा प्रयुक्त नृत्य प्रक्रियाओं की पिण्डियों का निर्धारण एव नामकरण किया।

अभिनय-प्रयोग की सिद्धि और सफलता सहृदय सामाजिकों की रसानुभूति पर निर्भर है। इस दृष्टि से और नाट्य का प्राण होने के कारण रस का महत्वपूर्ण स्थान माना गया। अभिनय कला की सिद्धि-सफलता में रस का क्या योगदान एव स्थान होता है, आगे इसका विवेचन किया गया है।

•

अभिनय की सृष्टि और अनुभूति में रस का स्थान

भरत मुनि के निर्देशानुसार नाट्यवेद की रचना करते समय पितामह ब्रह्मा ने अथर्ववेद से रस का सग्रह किया था। इस दृष्टि से नाट्य रचना मे रस का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। इसी अभिप्राय से नाट्य को रसाश्रय कहा गया है (रसाश्रय नाट्यम्)। रगमच पर अभिनेताओ या पात्रो द्वारा राम-दुष्यन्तादि के अभिनय से सहृदय सामाजिको मे तादात्म्य प्रतीति तभी सम्भव है, जब रसोद्रेक हो। प्रेक्षक या भावक को जब तक रसानुभूति नही होती, तब तक अभिनय की सार्थकता एव सफलता स भव नही है।

काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र म रस को काव्य की आत्मा माना जाता है। दृश्य-काव्य, जो कि अभिनय पर आधारित होता है रस के आश्रित है। इस दृष्टि से अभिनय मे रस की प्रधानता होने के कारण उसका सूक्ष्म विवेचन आवश्यक है।

दृष्टि अभिनय के प्रसग मे कहा गया है कि रसजा दृष्टि का सम्बन्ध रस मे है। इसी प्रकार स्थायी भावजा और सचारी भावजा दृष्टिया का सम्बन्ध क्रमश स्थायी भावा तथा सचारी भावो से है। रसजा दृष्टि मे विभिन्न रसा की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है, इसी प्रकार स्थायी भावजा दृष्टि से स्थायी भावो और सचारी भावजा दृष्टि मे सचारी भावा की अभिव्यजना एव अनुभूति का तरीका क्या है—इन बातो को जानने के लिए रस निष्पत्ति का सिद्धान्त और उसमे सहायक स्थायी भावो एव सचारी भावो की वस्तु स्थिति का निरूपण आवश्यक है।

रस निष्पत्ति

सस्कृत साहित्य के नाट्यशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय ग्रन्था म रस निष्पत्ति के सिद्धान्त पर विभिन्न दृष्टिया स विचार किया गया है। लौकिक काव्यानन्द और अलौकिक ब्रह्मानन्द म रसानुभूति का आधार क्या है इस विषय पर अनेक ग्रन्था म गम्भीरतापूर्वक प्रकाश डाला गया है।

कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण (३।१) म रस की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि 'सहृदय के हृदय मे वासना रूप म अवस्थित रत्यादि स्थायी भाव जब विभाव अनुभाव और सचारी भावा के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, तब उन्हें ही रस कहा जाता है'

विभावेनानुभावेन व्यक्त सचारिण तथा।
रसमेतेति रत्यादि स्थायीभाव सचेतसाम्॥

साहित्यदर्पण की यह रस-परिभाषा आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र की उस कारिका पर आधारित है, जिसमे कहा गया है कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के सयोग से रस निष्पत्ति होती है' (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.)।

आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश मे रस की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि 'लोक मे रति आदि स्थायी भाव (आलम्बन या उद्दीपन) के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, यदि वे नाटक या काव्य मे प्रयुक्त होते हैं तो उन्हे क्रमश विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव कहा जाता है। उन विभावादि कारण, कार्य और सहकारियों से व्यक्त रतिरूप स्थायी भाव ही रस है' ·

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो॰॥
विभावा अनुभावस्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण॰।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैं स्थायीभावो रसस्मृत॰॥

आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित उक्त परिभाषा ही वस्तुत समस्त काव्यशास्त्रियो का उपजीव्य रही है। आचार्य विश्वनाथ और आचार्य मम्मट के अतिरिक्त भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने उक्त परिभाषा की विभिन्न दृष्टियो से मीमासा की है। उक्त परिभाषा मे प्रयुक्त निष्पत्ति शब्द को भट्ट लोल्लट ने उत्पत्ति के अर्थ मे ग्रहण कर अपने रस-विषयक सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद नाम से स्थापित किया। शकुक के मत से निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है, जिसके आधार पर उन्होंने अनुमितिवाद नाम से अपना नया रस-सिद्धान्त प्रतिपादित किया। आचार्य भट्ट नायक ने निष्पत्ति को मुक्ति के अर्थ म लिया और मुक्तिवाद के नाम से अपना रस-सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने निष्पत्ति को अभिव्यक्ति के रूप मे स्वीकार किया और काव्यशास्त्र मे उनका रस विषयक सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रस की उक्त परिभाषाओ मे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का उल्लेख हुआ है। रस निष्पत्ति के सिद्धान्त को समझने के लिए इन विभावादियो के सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है।

विभाव

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र (४।२) मे विभाव की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि 'ज्ञान का विषयीभूत होकर जो भावो का ज्ञान करायें और उन्हे परिपुष्ट करें, वे विभाव कहे जाते हैं'

ज्ञापमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।

आचार्य भरत ने विभाव का अर्थ विज्ञान बताया है (विभावो विज्ञानार्थ —७।४)। यह विज्ञान, जिसे विभाव कहा गया है, स्थायी एव व्यभिचारी भावो का हेतु या कारण है। जिसके द्वारा स्थायी एव व्यभिचारी

भाव वाचिक आदि अभिनयो के माध्यम से विभावित होते हैं, अर्थात् जो विशेष रूप से जाने जाते हैं, उन्हे विभाव कहा जाता है। नाट्य मे विषयवस्तु के अनेकानेक अर्थ आंगिक आदि अभिनयो पर अवलम्बित होते हैं। उनको विभावन (विशेष रूप से ज्ञापन करने वाले हेतु) व्यापार द्वारा व्यक्त किया जाता है; अर्थात् सहृदय सामाजिक की प्रतीति के योग्य बनाया जाता है। इसलिए उन्हे विभाव कहा जाता है :

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥

नाट्यशास्त्र—७।४

इस प्रकार रसानुभूति के कारणो को विभाव कहा जाता है। वे दो प्रकार के होते है : १. आलम्बन और २ उद्दीपन। जिसको आलम्बन करके या आश्रय मान कर रस की उत्पत्ति या निष्पत्ति होती है, उसे आलम्बन विभाव और जिसके द्वारा रति आदि स्थायी भावो का उद्दीपन होता है, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त के मन मे रति की उत्पत्ति होती है, और उक्त दोनो को देख कर सामाजिको के मन मे भी रस की उत्पत्ति होती है। यहां शकुन्तला और दुष्यन्त, दोनो शृंगार रस के आश्रय हैं और चांदनी, प्राकृतिक वातावरण तथा एकान्त आदि दोनो की रति के उद्दीपक होने के कारण उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव

रस निष्पत्ति मे स्थायी भाव रस के आभ्यन्तर कारण हैं। इसी प्रकार आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव उसके वाह्य कारण हैं। किन्तु अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव उस आभ्यन्तर रस-निष्पत्ति या रसानुभूति से उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। नाट्यशास्त्र (७।५) मे कहा गया है कि 'वाचिक तथा आंगिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायी भाव की आभ्यन्तर अनुभूति का जो वाह्य रूप मे अनुभव कराता है, उसे अनुभाव कहते हैं' :

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृत ॥

आचार्य भरत ने अनुभाव की परिभाषा करते हुए (नाट्यशास्त्र–७।५) मे लिखा है कि 'जिनके द्वारा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं, उन्हे अनुभाव कहते है (अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग-सत्त्वकृतोऽभिनय इति)।' शरीर के विभिन्न अंगो तथा उपांगो की चेष्टाओ द्वारा किये जाने वाले अभिनय से अनुभावों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए नाट्यशास्त्र (४।३) मे कहा गया है कि वे आन्तरिक भावों के सूचक हैं। इसीलिए वहां भ्रू-कटाक्ष आदि विकारों को अनुभाव की संज्ञा दी गयी है :

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।

आचार्य भरत ने विभावों तथा अनुभावों को लोकप्रसिद्ध माना है; क्योंकि वे मानव स्वभाव के अंग हैं, लोक में उनकी स्थिति स्वाभाविक है। विज्ञजनों का कहना है (नाट्यशास्त्र—७।६) कि 'विभाव तथा अनुभाव लोक-प्रवृत्ति के अनुसार होते हैं। लोक जैसा व्यवहार करता है, वे तदनुसार उसका अनुकरण करते हैं। इसलिए लोक से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही नाट्य में उनका प्रदर्शन होना है'.

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥

नाट्य में भिन्न-भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न अभिनयों का प्रयोग किया जाता है। नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय में भिन्न-भिन्न स्थायी भावों एवं रसों के भिन्न-भिन्न अनुभावों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

अनुभाव वस्तुतः रसानुभूति की वाह्य अभिव्यंजना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रमुखता होती है। अभिनेता कृत्रिम रूप में इन अनुभावों का अभिनय करता है। अनुकार्य दुष्यन्त आदि की अन्तस्थ रसानुभूति की वाह्य अभिव्यक्ति अनुभावों के रूप में होती है। रसानुभूति के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण उन्हें अनुभाव नाम दिया गया है (अनु पश्चात् भवन्ति इत्यनुभावाः)।

स्थायी भाव

स्थायी भाव की परिभाषा करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (३।१७४) में लिखा है कि 'स्थायी भाव उस भाव को कहते हैं, जो न किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है और न किसी प्रतिकूल भाव से दबा करता है। वह अन्त तक एकरस बना रहता है और उसमें रस के अनुकरण की मूल शक्ति निहित होती है' :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति सम्मतः॥

रस की प्रक्रिया में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव रस के वाह्य कारण होते हैं। रसानुभूति का आन्तरिक एवं मुख्य कारण स्थायी भाव है। स्थायी भाव मन के भीतर स्थायी रूप में रहने वाला वह प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त होता है और दर्शक तथा पाठक के हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार करता है। इस स्थायी भाव की अभिव्यक्ति रस्यमान होने के कारण रस शब्द से बोध्य होती है। इसलिए काव्यप्रकाश (४।२८) में उसे रस कहा गया है :

स्थायीभावो रसस्मृतः।

लोक-व्यवहार मे मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है, उसको दृष्टि मे रख कर (काव्य-प्रकाश--४।३०) मे स्थायी भाव के आठ प्रकार माने गये है १. रति, २. हास, ३ शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६ भय, ७ जुगुसा (घृणा) और ८ विस्मयः

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावा प्रकीर्तिताः॥

ये आठ भाव मनुष्य के हृदय मे सदा विद्यमान रहते है। जब वे अनुकूल विभावादि को प्राप्त करते है, तब तदनुरूप व्यक्त होकर अलग-अलग रसो की सृष्टि करते है।

आधुनिक मनोविज्ञान में जिन्हे मूल प्रवृत्ति या मन सवेग कहा गया है, काव्यशास्त्र मे उन्हे ही स्थायी भाव नाम दिया गया है। यह मूल प्रवृत्ति वह प्रकृति प्रदत्त शक्ति है, जिसके कारण प्राणी किसी विशेष पदार्थ की ओर आकर्षित होता है और उसकी उपस्थिति मे विशेष प्रकार के सवेग या मन क्षोभ का अनुभव करता है। ये मन सवेग या मन क्षोभ ही काव्यशास्त्र के स्थायी भाव है।

विभाव, अनुभाव और सचारी भाव, तीनो स्थायी भावो के आश्रित होते हैं। वे अनुचर है और स्थायी भाव उनका अधिष्ठाता। किन्तु उसका स्थायित्व उसके अनुचरो के कारण है। जैसे स्थानीय अधिकारी लोग राजा की शक्ति के आधार पर कार्य करते है, उसी प्रकार विभावादि स्थायी भावो के आश्रित होकर कार्य करते हैं। उन अनुचरो मे कई प्रतिभाशाली तथा बुद्धिमान् भी होते है, किन्तु उन सब के कार्यो का श्रेय तथा यश राजा को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भाव स्थायी भावो के चारो ओर सचरण करते हुए स्थायी भावो को ही परिपुष्ट करते है। अपने अनुचरो द्वारा अर्जित यश का भागी, जैसे राजा होता है, उसी प्रकार विभावादियो द्वारा परिपुष्ट रस के अधिकारी स्थायी भाव होते हैं। नाट्यशास्त्र (७।८) मे कहा गया है कि 'जैसे अनेक अनुचरो या सेवको द्वारा अर्जित यश एव श्रेय का अधिकारी अन्तत राजा होता है, जैसे शिष्य अपनी प्रतिभा से गुरु के ज्ञान को प्रकाशित करते है, उसी प्रकार विभावादियो द्वारा परिपुष्ट रसत्त्व के अधिकारी स्थायीभाव होते हैं'

यथा नराणां नृपति शिष्याणा च यथा गुरु।
एव हि सर्वभावना भाव. स्थायी महानिह॥

भावो की पारस्परिक स्थिति के सन्दर्भ मे स्थायी भावो के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा गया है कि 'जैसे सब मनुष्य समान होते है, उनके हाथ, पैर आदि शारीरिक अग-प्रत्यग एक जैसे होते है, किन्तु वे कुल (वश परम्परा), शील (आचरण), विद्या (ज्ञान), कर्म और शिल्प (व्यवसाय) आदि की दृष्टि से सामान्य-विशिष्ट आदि अनेक कोटियो मे परिगणित होते है। उनमे जो विलक्षण या विशिष्ट होता है, उसको राजा कहा जाता है और अन्य सामान्य लोग उसके अनुचर हो जाते है। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी

भाव अपनी साम्यावस्था में स्थायी भावों के अनुचर या आश्रित होकर रहते हैं (यथा हि...सामेन्स्वबुद्ध स्तेषामेतानुचरा भवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायीभावानुपाश्रिता भवन्ति)।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी पद की निष्पत्ति करते हुए बताया गया है कि वि एवं अभि उपसर्गों से गति तथा संचालन अर्थ में चर धातु से व्यभिचारी पद निष्पन्न होता है। इस दृष्टि से विभिन्न रसों में अनुकूलता के साथ उन्मुख या संचरित होने वाले भावों को व्यभिचारी कहा जाता है। ये व्यभिचारी विभिन्न अनुभावों से युक्त आंगिक, वाचिक एवं सात्त्विक अभिनयों द्वारा स्थायी भावों को रस रूप में व्यक्त करते हैं, अर्थात् स्थायी भावों को रस तक ले जाते हैं। इसी आधार पर आचार्य भरत ने उनकी परिभाषा (नाट्यशास्त्र—७।१४२-१७१) में कहा है कि 'जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वादन योग्य बनाते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है' (विविध आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागाङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः)।

वे उसी प्रकार स्थायी भावों को रसों तक ले जाते हैं, जैसे लोक प्रचलित परम्परा के अनुसार 'सूर्य अमुक दिन या अमुक नक्षत्र को प्राप्त कराता या ले जाता है।' इस दृष्टान्त में यद्यपि यह नहीं कहा गया है कि सूर्य दिन या नक्षत्र को अपनी बाजुओं या कन्धों पर उठा कर ले जाता है, फिर भी लोक में यही प्रचलित है। जैसे सूर्य नक्षत्र या दिन को धारण करता है या ले जाता है, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव, स्थायी भावों को धारण करते या रस तक ले जाते हैं। वे स्थायी भावों को रस रूप में भावित करते हैं। इसलिए उन्हें व्यभिचारी कहा गया है (यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति, एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्यः)।

इस प्रकार अभिनय की सृष्टि एवं अनुभूति में रस का महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। नाट्य का आयोजन-प्रयोजन तभी सार्थक होता है, जब कि भावक या प्रेक्षक को अभिनेय वस्तु की रसानुभूति हो। विभावादियों के संयोग से निष्पन्न रस-सिद्धान्त का नाट्य में क्या योग एवं स्थान है, इसकी जानकारी प्राप्त हो जाने के अनन्तर रस की उपयोगिता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार अभिनय की सृष्टि एवं अनुभूति में रस का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है, उसी प्रकार रस की निष्पत्ति में भावों की स्थिति है। भावों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वे काव्यशास्त्र के ही नहीं, दर्शन, मनोविज्ञान और विज्ञान के भी विषय हैं। रस-निष्पत्ति में उनकी प्रयोजनीयता क्या है, इस विषय पर आगे विचार किया गया है।

•

रस-निष्पत्ति में भावों की प्रयोजनीयता

रस-निष्पत्ति के प्रसग मे विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और सचारी भावो का यथास्थान निरूपण किया जा चुका है। वस्तुत ये भाव क्या हैं और उनके द्वारा भावित काव्य-नाट्य-रस की सहृदय सामाजिक को कैसे अनुभूति होती है, इस सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यों की स्थापनाओ को जान लेना आवश्यक है।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के सातवे अध्याय मे भावो की व्युत्पत्ति एव स्थिति के सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचन किया है। भाव पद की निरुक्ति करते हुए उन्होने लिखा है कि 'चित्त-वृत्तियो के रूप मे उनकी स्थिति होती है। वे चित्तवृत्ति स्वरूप हैं। अत उन्हे भाव कहा जाता है' (भवन्तीति भावा.)। अथवा (सहृदय के) हृदय मे व्याप्त होकर वे चित्त-वृत्तियो को भावित करते हैं। अत उन्हे भाव कहा जाता है (भावयन्तीति भावा)।

भू धातु से करण अर्थ मे घञ् प्रत्यय योजित करने पर भाव पद निष्पन्न होता है। इस दृष्टि से भावो को कारण या साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। भावित, वासित या कृत उसके पर्याय हैं। आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि आगिक, वाचिक आदि अभिनय की प्रक्रिया से सम्पादित अलौकिक चित्त वृत्तियाँ, केवल आत्मस्थ लौकिक अवस्थाओ का आस्वादन न करा कर रसरूप मे भावित होती हैं। इसलिए उन्हे भाव नाम दिया गया है। इस दृष्टि से आचार्य भरत ने कहा है कि वे वाक, अग तथा सत्त्व से युक्त काव्यार्थों को भावित करते है। अत उन्हे भाव कहा जाता है (वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति)। वाचिक, आगिक तथा सात्विक अभिनयों द्वारा अभिव्यक्त (भावित) काव्यार्थ या रसानुभव ही भाव है।

भावित का अर्थ है परिव्याप्त। लोक मे कहा जाता है कि अमुक रस या गन्ध के द्वारा अमुक भोज्य पदार्थ सुस्वादु या सुवासित (भावित) बनाया गया है। इस कथन का यह आशय हुआ कि वह रस या गन्ध, जिससे भोज्य पदार्थ सुस्वादु या सुवासित किया गया, उसमे वह सर्वत्र परिव्याप्त है। इसी भावना या परिव्याप्ति को भाव की क्रिया कहा जाता है। इस परिव्याप्ति का उदाहरण देते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि कस्तूरी की गन्ध से सुवस्थित वस्त्र जिस प्रकार कस्तूरी नही हो जाता, बल्कि उसके गुण (गन्ध) से सनन्ति होता है, उसी प्रकार पदार्थ और रस गन्ध का सम्बन्ध होता है। पदार्थ जिस प्रकार गन्ध आदि से भावित होते है, अर्थात् उनमे गन्ध रस की व्याप्ति होती है, उसी प्रकार वस्त्र मे कस्तूरी की परिव्याप्ति होती है।

आचार्य भरत ने अन्तस्थ भावो की व्याप्ति के सम्बन्ध मे कहा है कि 'जिस प्रकार सूखी लकडी मे अग्नि व्याप्त होती है, उसी प्रकार दर्शक या सामाजिक के हृदयस्थ भावो के अनुसार रस की व्याप्ति होती है'

योऽर्थो हृदयसम्वादी तस्य भावो रसोद्भव.।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

नाट्यशास्त्र—७।७

भाव रसप्रतीति के कारण होते हैं। ये अनेक हैं। काठ मे अग्नि के समान ही भाव सामाजिक के हृदय मे विद्यमान रहते हैं। काठ को प्रज्ज्वलित करने के लिए जिस प्रकार आग की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार सामाजिक के हृदयस्थ भावो को जाग्रत करने के लिए वस्तुगत भावार्थ के अभिव्यजक-अभिनय की आवश्यकता होती है।

जिस प्रकार विशेषज्ञ (भक्तविद्) अनेक द्रव्यो तथा व्यजनो से युक्त भोजन करते हुए उसका आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार सहृदय सामाजिक भावो का आस्वादन करता है। उसे ही नाट्यरस कहा गया है।

नट अपनी भूमिका मे रगमच पर वाचिक आदि अभिनयो द्वारा चित्तवृत्तियो का प्रदर्शन करता है। सामाजिक या दर्शक साधारणीकरण द्वारा उन भावो का अनुभव करता है। रसास्वाद या काव्यार्थानुभूति मे भावो की ठीक यही स्थिति है। इसके स्पष्टीकरण मे नाट्यशास्त्र (७।१) का वह श्लोक अवलोकनीय है, जिसमे कहा गया है कि 'जो अर्थ विभावो द्वारा अभिव्यक्त और अनुभावो तथा वाचिक, आगिक एव सात्त्विक अभिनयो द्वारा प्रतीति के योग्य होता है उसे भाव कहा जाता है'

विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्वाभिनयैः स भाव इति सज्ञितः॥

नाट्यशास्त्र—७।१

कवि अपने काव्य-कौशल मे लोक-चरितों की उद्भावना करता है और उसके उन अन्तर्भावो को नट या अभिनेता रगमच पर प्रस्तुत करता है। अभिनेता अपने विभिन्न अभिनयो द्वारा कवि के अन्तर्व्यापारो को रगमच पर प्रस्तुत कर दर्शकों या सामाजिको के मन मे उन्हे परिव्याप्त करता है, आस्वादन योग्य बनाता है। काव्यशास्त्र मे इसी को साधारणीकरण कहा जाता है।

चित्तवृत्तियो की रसप्रतीति-प्रक्रिया ही भावन व्यापार है। इसीलिए नाट्यशास्त्र (४।४) मे अनुकार्य को आश्रय बना कर वर्णन किये गये सुख-दु खादि भावो द्वारा भावक के चित्त मे निहित भावो की भावन-प्रक्रिया को भाव सज्ञा दी गयी है (सुखदु खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्)। लौकिक जीवन मे ये भावनाएँ प्रत्येक व्यक्ति मे रति आदि वासना के रूप मे विद्यमान रहती हैं। अभिनय के द्वारा वे वासनाएँ भावित होकर रसरूप मे प्रतीयमान होती हैं। नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र मे भावो का अस्तित्व इसी रूप मे स्वीकार किया गया है।

भावो की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है कि 'रसो से भावो की उत्पत्ति होती है या भावो से रसो की ? कुछ विद्वानो का मत है कि दोनो के पारस्परिक सम्बन्धों से दोनो की उत्पत्ति होती है। किन्तु ऐसा कहना उचित नही है, क्योकि रसो से भावो की उत्पत्ति स्पष्ट देखी जाती है, भावों से रसो की नही।' आचार्य भरत ने लिखा है कि 'भाव नामकरण उनका इसीलिए हुआ कि वे अनेक प्रकार के अभिनयो मे सम्बद्ध रसो को भावित करते हैं'

नानाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मातस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

नाट्यशास्त्र—६।३४

जिस प्रकार नाना भाँति के पदार्थों से व्यंजना की भावना (सस्कार) होती है, उसी प्रकार भाव अभिनयो के साथ मिल कर रसो की भावना (निष्पत्ति) करते हैं। भावो के बिना रसो और रसो के बिना भावों की स्थिति सम्भव नही है। अभिनय मे एक-दूसरे के आश्रय से उनकी निष्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्र (६।३८) मे एक उदाहरण देकर बताया गया है कि 'जिस प्रकार बीज से वृक्ष पैदा होता है और वृक्ष से फल-फूल उत्पन्न होते है, उसी प्रकार रस मूल-भूत आधार है और इसलिए रसो से ही भावो की सृष्टि होती है' :

यथा बीजोद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥

नाट्यशास्त्र—६।३८

इस दृष्टि से काव्य-नाट्य-रस की अनुभूति के लिए भावो का विशेष महत्व बताया गया है और काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो मे उनकी विस्तार से समीक्षा की गयी है। यद्यपि वे रस के आश्रित होकर रहते हैं, फिर भी रस की निष्पत्ति एव अनुभूति मे वे ही मूल प्रयोजक होते है।

भावों और रसो के विनियोग मे वृत्तियो का योग

अभिनय मे भावो और रसो के विनियोग (प्रयोग, प्रदर्शन) के लिए वृत्तियो का महत्वपूर्ण योग माना गया है। अभिनय मे विभिन्न जातियो, व्यक्तियों और परम्पराओं का प्रदर्शन उनकी मूल प्रकृति के अनुसार करना चाहिए। तभी उसकी वास्तविकता एव प्रयोजनीयता है। इस दृष्टि से अभिनय मे वृत्तियो का स्थान महत्वपूर्ण है। इन वृत्तियो के नाम से ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध विभिन्न जातियो से है। जिस जाति का जैसा स्वभाव रहा है, उसी के आधार पर उसकी वृत्ति का नामकरण हुआ।

काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र मे वृत्तियो के महत्व पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। उन्हे रचना शैली या रचना प्रकार का पर्याय बताया गया है। नाटक की वे प्रकृति हैं। उन्हे नाट्य की जननी कहा गया हैं। ये वृत्तियाँ सख्या मे चार है, जिनके नाम है १ कैशकी, २ सात्विती, ३ आरभटी और ४ भारती। कैशिकी, सात्विती तथा आरभटी को अर्थवृत्तियाँ और भारती को शब्दवृत्ति के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

१ कैशिकी इसका अपर नाम मधुरा वृत्ति है। इसलिए इसको कोमलता, मृदुता और पेशल परिहास की वृत्ति कहा गया है। इसका अभिनय केवल स्त्रियाँ ही कर सकती है तथा इसका प्रयोग शृगार और हास्य रसो के अभिनय मे किया जाता है। इसीलिए इसको आचार्य धनिक के दशरूपक (२।४७) मे नृत्य गीत, विलास तथा सुकुमार शृगारादि चेष्टाओ से युक्त बताया गया है

नृत्यगीतविलासाद्यं मृदुः शृंगारचेष्टितैः।

२ सात्विती : इसको मानसिज वृत्ति कहा गया है। सत्त्व नाम मनोभावों का है। मनोभावों को प्रकाशित करने के कारण इसका ऐसा नामकरण हुआ। मानसिक (भावात्मक), कायिक और वाचिक अभिनयों में इसका प्रयोग किया जाता है। इसे रौद्र, वीर और अद्भुत रसों के लिए उपयुक्त माना गया है। दशरूपक (२।५३) के अनुसार शोक-रहित, सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जव युक्त मनोभावों के अभिनय के लिए इस वृत्ति का आश्रय लिया जाता है

विशोका सात्विनी सत्त्व शौर्यत्यागदयार्जवं.।

३ आरभटी : यह रहस्यों और प्रपंचों की परिचायिका वृत्ति है। दशरूपक (२।५६) के अनुसार रौद्र और वीभत्स रसों के अभिनय में इसका प्रयोग होता है। इस वृत्ति को माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं के प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किया जाता है

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितं ।

४. भारती यह वृत्ति संस्कृत बहुल व्यापारों की परिचायिका है। इसीलिए इसको वाणी के पर्याय में ग्रहण किया जाता है। जिस अभिनय में नटों का वाग्व्यापार बहुधा संस्कृत में दर्शित किया जाता है, उनके लिए भारती वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। सभी रसों के अभिनयों में इसका विनियोग होता है। इसीलिए दशरूपक (२।६०) में उसे वाचक वृत्ति कहा गया है

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे।

इन चारों वृत्तियों के अनेक भेद होते हैं। उनके इन भेदों और लक्षण-प्रयोगों के लिए नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए।

शास्त्रकारों द्वारा विहित और लोक द्वारा व्यवहृत यह अभिनय कला परम्परा से सुरक्षित होती हुई जिन विभिन्न माध्यमों द्वारा अटूट रूप में अब तक पहुँची, उनमें प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक सामग्री का विशेष महत्त्व है। देव मन्दिरों में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं में इस देश के कला-निष्णात शिल्पियों ने जिन भावमयी मुद्राओं को उभारा है, उनमें अभिनय कला के इतिहास का जीवित रूप देखने को मिलता है। ये देवमूर्तियाँ न केवल इस देश की धर्मप्राण जनता की जीवनाधार हैं, अपितु उनमें इस राष्ट्र की महान् कला थाती भी सुरक्षित है। उन युगद्रष्टा महान् शिल्पियों ने धर्म की अमृतमयी रसधारा में कला का सम्मिश्रण करके लोक-जीवन में उसकी सदाशयता को प्रतिष्ठित किया। लोक में अभिनय कला की यह भावधारा जिन माध्यमों से रूपायित हुई और लोक की प्रेरणा एवं चेतना का विषय बनी, उनमें संस्कृत नाटकों का नाम प्रमुख है।

●

संस्कृत नाटकों की अभिनेयता

सस्कृत के नाटको को यदि अभिनय की कसौटी पर परखा जाय तो स्पष्ट है कि उनमे बहुत कम नाटक सफल सिद्ध होगे। यह स्थिति न तो अस्वाभाविक है और न अनुपयुक्त ही, क्योंकि सस्कृत के नाटककारो ने नाटचशालाओ मे प्रदर्शित करने के एकमात्र उद्देश्य से उनको नही लिखा। रगमचीय विधानो के अनुरूप नाट्य तत्त्वो के साँचो मे अपने नाटको को ढालने की अपेक्षा सस्कृत के नाटककारो ने अधिक उपयुक्त यह समझा कि उनमे दृश्यात्मकता के साथ साथ श्रव्यात्मकता का भी समावेश हो सके। यह उनका सर्वांगीण दृष्टिकोण था और इसी दृष्टि से उनका अध्ययन हो सकता है। रगमचीय विधानो के आधार पर सस्कृत नाटको की समीक्षा और मूल्याकन करने के पक्ष मे स्वय आचार्य भरत भी नही है। यदि इस दृष्टि से उनका विश्लेपण एव मूल्याकन किया जाय तो विफलता ही हाथ लगेगी।

वस्तुत देखा जाय तो सस्कृत नाटककारो की अपने नाटको को नाटचशालाओ मे प्रदर्शित करने की न तो चाह थी और न उनका ऐसा उद्देश्य था। यही कारण है कि नाटचशालाओ की अपेक्षा ग्रन्थशालाओ मे बैठ कर भी पाठक उनमे उतना ही मनोरजन प्राप्त कर सकता है, जितना कि रगमच पर दर्शक। सस्कृत नाटको की समीक्षा करते समय हमे यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि वे प्रेक्ष्य भी है और पाठ्य भी। रगमच पर उनमे जो आनन्द प्राप्त किया जा सकता है, वही आनन्द घर मे बैठ कर पढने पर भी प्राप्त किया जा सकता है।

सस्कृत नाटक अभिनेय है ही नही, ऐसा भी नही कहा जा सकता। अपनी जटिलता, दुर्बोधता और वर्ण्य-स्वातत्र्य के बावजूद भी उनमे अभिनेय तत्त्व विद्यमान है। सस्कृत नाटकों के अध्येता सभी आधुनिक विद्वान् निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करते है कि सस्कृत नाटककार नृत्य, गीत, वाद्य एव अभिनय आदि नाटचशास्त्रीय विधानो के सुविज्ञ थे और अपने नाटको मे उन्होने उनका निर्वाह किया है। अपनी कृतियो मे उन्होने एक ओर तो साहित्यिक कृतित्व की गरिमा प्रदर्शित की और दूसरी ओर नाट्य विधाओ का बडी निपुणता से समावेश किया। नाटचशास्त्र के आदि आचार्य भरत और उनके परवर्ती नाट्याचार्यों ने सस्कृत नाटको से नाट्य विधियो को ग्रहण कर अपने शास्त्रीय ग्रन्थो का निर्माण किया। इस दृष्टि से नाटचशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थो पर सस्कृत नाटको का प्रभाव स्पष्ट है।

सस्कृत नाटको की प्रस्तावना से विदित होता है कि उनको अभिनय की दृष्टि से लिखा गया था। प्रत्येक नाटक के आरम्भिक नान्दीमुख मे सूत्रधार या नट-नटी द्वारा नाटककार ने यह प्रतिज्ञा करायी है कि उसका कृतित्व अभिनेय है और उसे दर्शको के मनोरजन के लिए लिखा गया है।

नाट्य प्रयोग

संस्कृत नाटकों के रगमच पर अभिनीत होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, किन्तु यह परम्परा कब से आरम्भ हुई और किस रूप मे आगे बढी, इस सम्बन्ध मे क्रमबद्ध इतिवृत्त प्रस्तुत करना सम्भव नही है। नाटकों के मूल तत्त्व वेद मत्रों के सम्वादो मे बताये जाते हैं। प्राचीन ग्रन्थों मे उन नाटका के नाम भी देखने को मिलते हैं, जो सम्प्रति उपलब्ध नही हैं। किन्तु उनका अभिनय हुआ था, इसका कोई प्रमाण नही मिलता।

नाट्यशास्त्र मे आचार्य भरत ने पितामह ब्रह्मा द्वारा नाट्यवेद की सृष्टि का उपाख्यान दिया है। इस उपाख्यान मे उन्होंने बताया है कि पितामह की आज्ञा से देव शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा निर्मित नाट्यशाला मे दैत्यदानवनाशन नामक नाटक का अभिनय किया गया। इस नाटक के अभिनय मे आचार्य भरत के सौ शिष्यों, अनेक अप्सराओं, गन्धर्वों और नारदादि मुनियो ने भाग लिया। आचार्य भरत ने स्वय उसका निर्देशन किया। इस प्रकार नाट्यशाला म नाटक का यह प्रथम अभिनय था।

संस्कृत साहित्य मे भास से नाटकों की मूर्त परम्परा का उदय माना जाता है। जयदेव तक यह परम्परा निरन्तर रूप से आगे बढ़ती रही। भास के समय ४०० ई० पूर्व स लेकर जयदेव के समय १२वी-१३वी श० ई० तक के इन सोल्ह-सत्रह सौ वर्षों मे संस्कृत की नाट्य-नाटक विधा उन्नति पर रही। इस बीच सैकडो नाटक लिखे गये। अभिनय की दृष्टि से उन सब की समीक्षा करनी न तो सम्भव है और न समीचीन ही।

भास ने तेरह नाटकों की रचना की। उनके इन सभी नाटकों को विद्वानों ने अभिनेय और रगमच के सर्वथा उपयुक्त बताया है। रगमच पर नाटका के अभिनय की मूर्त परम्परा इन्ही नाटका स आरम्भ हुई। आज जब कि संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं म अनेक सुन्दर नाट्य उपलब्ध है, तब भी दक्षिण म भास के नाटकों की लोकप्रियता पूर्ववत् बनी हुई है। उनकी यह लोकप्रियता उनकी अभिनेयता के कारण है। दक्षिण के चाक्यारो द्वारा सैकडो वर्ष पहले से भास के नाटका का अभिनय होता आ रहा है और सर्वदा ही वे दर्शकों द्वारा प्रशसित एव सम्मानित होते आ रहे हैं। उनकी अभिनेयता का कारण समय और स्थान (यूनिटी आफ टाइम ऐंड प्लेस) की अन्विति है। उनमे न तो वर्णनो का अनावश्यक विस्तार है और न कथावस्तु एव घटनाओं की अव्यवस्था।

भास के नाटकों के अन्तर्साक्ष्यों मे ज्ञात होता है कि उस समय देश मे नाट्यकला का बडा प्रचार-प्रसार था। नाटकों के अभिनय के लिए सर्वसाधन-सम्पन्न नाट्यशालाओं की व्यवस्था थी। उनके प्रतिमा नाटक के आरम्भ मे लिखा हुआ है कि महाराज रामचन्द्र के राजभवन मे एक पय्यशाला या नाट्यशाला थी। वह अन्तःपुर मे थी। वहाँ रगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी जाती थी। प्रस्तावना मे प्रतिहारी कहता है 'आर्य सारिके, सगीतशाला मे जाकर अभिनेताओं से कहो कि वे आज एक सामाजिक अभिनय दिखाने की तैयारी करें।' इसी सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि प्रतिमा नाटक का अभिनय शरद् ऋतु म हुआ था। इसी प्रकार भास के अन्य नाटका की प्रस्तावना से उनके अभिनीत होने के प्रमाण मिलते है।

भास के बाद कालिदास (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी) दूसरे नाटककार हैं, जिनके नाटका मे नाट्यशास्त्रीय विधाना का पूर्ण निर्वाह हुआ है और जिनके द्वारा अभिनय कला के महत्त्व एव अस्तित्व का दिग्दर्शन हुआ है। महाकवि कालिदास नाट्यविद्या के पारगत विद्वान् थे। इस महान् राष्ट्र के सांस्कृतिक और बौद्धिक गौरव

की जीवित झाँकियाँ उनकी कृतियो म रूपायित हुई हैं। नाटयकला की परम्परागत महान् थाती, जीवन स्रोतस्विनी रसधारा के सम्बन्ध मे उन्होंने मालविकाग्निमित्र में कहा है 'नाट्य को हमने अपने जीवन मे जो इतना गौरव दिया है, वह मिथ्या नही है उसके मूल मे जीवन की गम्भीर साधना निहित है' (**न पुनरस्माक नाट्य प्रति मिथ्या गौरवम्**)।

उक्त नाटक के प्रथम अक के चौथे श्लोक मे उन्होने नाट्यविद्या की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है 'यो तो सभी लोग अपने-अपने घर की विद्या को सबसे अच्छा समझते है, किन्तु जो लोग अपनी नाट्य विद्या पर इतना अभिमान करते है, वह असत्य नही है, क्योंकि मुनि जनों का कहना है कि यह नाट्य तो देवताओ की आखो को सुहाने वाला यज्ञ है। स्वय भगवान् शकर ने उमा से विवाह करके इस नाट्य को दो भागा मे विभक्त कर दिया—एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमे सत्व, रज और तम, तीनो गुणो का समन्वय अनेक रसो का सम्मिश्रण और तीनो लोको के चरितो का प्रदर्शन हुआ है। इसलिए भिन्न भिन्न रुचि वाले लोगो के लिए नाटक एक ऐसा मनोरजन है जिससे सब को समान आनन्द प्राप्त होता है'

देवानामिदमामनन्ति मुनय शान्त क्रतु चाक्षुष
रुद्रेणेदमुपाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्त द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरित नानारस दृश्यते
नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधनम्॥

महाकवि ने मालविकाग्निमित्र के प्रथम अक मे नाट्यशास्त्र को प्रयोग प्रधान कहा है (**प्रयोगप्रधान हि नाट्यशास्त्रम्**), अर्थात नाट्यविद्या की निपुणता की परीक्षा अध्ययन से नही अपितु उसके प्रयोग से होती है। इसलिए स्पष्ट है कि उन्होंने अपने नाटको को रगमच पर अभिनय करने की दृष्टि से लिखा था।

अभिज्ञान शाकुन्तल समस्त सस्कृत वाङमय का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। उसके आरम्भिक मगल श्लोक मे भगवान् शकर के आठ रूपान्तरो को उपनिबद्ध किया गया है। तदनन्तर नान्दीपाठ की समाप्ति पर सूत्रधार द्वारा कहलाया गया यह सम्वाद कि विद्वानो से मण्डित महाराज विक्रमादित्य की सभा मे कालिदास का रचा हुआ अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का अभिनय करना चाहिए' इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि महाकवि के जीवन काल मे ही उसका अभिनय हो चुका था। रगशाला मे उसका अभिनय हुआ, इसकी पुष्टि मे सूत्रधार द्वारा कहलाया गया यह सम्वाद उद्धरणीय है 'वाह आर्ये, तुमने बहुत अच्छा गाया। तुम्हारा ग्रीष्म ऋतु का साध्यराग सुन कर दर्शक ऐसे मुग्ध हो गये कि सारी रगशाला चित्रलिखी सी जान पडती है' (**आर्ये, साधु गीतम् ! अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्ग**)।

महाकवि के दूसरे नाटक विक्रमोर्वशीय का भी महाराज विक्रमादित्य की सभा मे अभिनय हुआ था। नाटक की प्रस्तावना मे सूत्रधार के द्वारा इसको स्पष्ट घोषणा देखने को मिलती है। पारिपार्श्वक को सम्बोधित कर सूत्रधार कहता है 'देखो मारिष, इस सभा ने पुराने कवियो के तो अनेक नाटक देखे हैं, किन्तु

आज मैं उन्हें कालिदास द्वारा रचित विक्रमोर्वशीय नाम का एक नया नाटक दिखाना चाहता हूँ। इसलिए सब अभिनेताओं को जाकर समझा दो कि वे अपने-अपने पाठ का अभिनय सावधानी से करें (**मारिष, परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धाः। अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्वहितैर्भवितव्यमिति**)।

इस उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि महाराज विक्रमादित्य की सभा मे कालिदास के पूर्ववर्ती अनेक नाटककारो के नाटक अभिनीत हो चुके थे। नाटक को रगमच पर प्रस्तुत करने मे पूर्व प्रत्येक पात्र को अपने-अपने पाठो का भली भाँति पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) करना होता था। दर्शको एव श्रोताओं मे विद्वान्, राज परिवार के व्यक्ति और सामान्य जन, सभी सम्मिलित होते थे।

विक्रमोर्वशीय के दूसरे अक के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि किसी समय आचार्य भरत द्वारा दीक्षित आठो रसो से युक्त एक नाटक का अभिनय हुआ था। **विक्रमोर्वशीय** के रूप मे महाकवि कालिदास ने उसी पुरातन नाटक का रूपान्तर प्रस्तुत किया। इस प्रसग मे चित्रलेखा को सम्बोधित करते हुए देवदूत कहता है 'अयि चित्रलेखे, उर्वशी को शीघ्र ले आओ। भरत मुनि ने तुम लोगो को आठ रसो से युक्त जिस नाटक का प्रशिक्षण दिया है, देवराज इन्द्र और लोकपाल उसका सुन्दर अभिनय देखना चाहते हैं।' इस नाटक का नाम लक्ष्मी स्वयम्बर था, जिसके लिए सरस्वती ने गीत लिखे थे। इस नाटक मे वारुणी का अभिनय मेनका ने और लक्ष्मी का अभिनय उर्वशी ने किया था। उसको देखने के लिए तीनो लोको के सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वय विष्णु भगवान् उपस्थित थे (**समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषा सकेशवाश्च लोकपाला**)। इस नाटक के अभिनय के समय उर्वशी ने **पुरुषोत्तम** पाठ के स्थान पर **पुरूरवा** पाठ का उच्चारण कर दिया था, जिससे असन्तुष्ट होकर महामुनि भरत ने उसे स्वर्ग मे च्युत कर दिया, किन्तु देवराज इन्द्र के आग्रह पर अपने शाप मे कुछ शिथिलता कर दी। इस प्रकार उर्वशी स्वर्ग से च्युत होने से बच गयी।

महाकवि कालिदास के तीसरे नाटक **मालविकाग्निमित्र** का, पूर्व के दोनो नाटको की भाँति महाराज विक्रमादित्य की सभा मे अभिनय हुआ था। **अभिज्ञान शाकुन्तल** का ग्रीष्म ऋतु और **मालविकाग्निमित्र** का वसन्तोत्सव पर अभिनय हुआ था। नाटक की प्रस्तावना मे पारिपार्श्वक द्वारा यह जिज्ञासा करने पर कि भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे प्रसिद्ध नाटककारो के नाटको के होते हुए विद्वत्सभा कालिदास के नाटको का अभिनय देखने के लिए क्यों उत्सुक है ? सूत्रधार कहता है कि 'पुराने होने से ही न तो सब अच्छे होते हैं और न नये होने पर ही सब बुरे होते हैं। बुद्धिमान् लोग दोनो की परख कर उनमे से जो अच्छा होता है, उसे अपना लेते हैं। जिन्हे अपनी समझ नही होती, उन्हें दूसरे जैसा समझा देते हैं व उसी को ठीक मान बैठते हैं'

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

आज मैं उन्हे कालिदास द्वारा रचित विक्रमोर्वशीय नाम का एक नया त्रोटक दिखाना चाहता हूँ। इसलिए सब अभिनेताओं को जाकर समझा दो कि वे अपने-अपने पाठ का अभिनय सावधानी से करें' (मारिष, परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदासप्रथितवस्तुना नवेन विक्रमोर्वशीनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेस्वहितैर्भवितव्यमिति)।

इस उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि महाराज विक्रमादित्य की सभा में कालिदास के पूर्ववर्ती अनेक नाटककारों के नाटक अभिनीत हो चुके थे। नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने से पूर्व प्रत्येक पात्र को अपने अपने पाठों का भली भाँति पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) करना होता था। दर्शकों एवं श्रोताओं में विद्वान् राज परिवार के व्यक्ति और सामान्य जन सभी सम्मिलित होते थे।

विक्रमोर्वशीय के दूसरे अंक के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि किसी समय आचार्य भरत द्वारा दीक्षित आठों रसों से युक्त एक नाटक का अभिनय हुआ था। विक्रमोर्वशीय के रूप में महाकवि कालिदास ने उसी पुरातन नाटक का रूपान्तर प्रस्तुत किया। इस प्रसंग में चित्रलेखा को सम्बोधित करते हुए देवदूत कहता है 'अयि चित्रलेखे, उर्वशी को शीघ्र ले आओ। भरत मुनि ने तुम लोगों को आठ रसों से युक्त जिस नाटक का प्रशिक्षण दिया है, देवराज इन्द्र और लोकपाल उसका सुन्दर अभिनय देखना चाहते हैं। इस नाटक का नाम लक्ष्मी स्वयम्बर था जिसके लिए सरस्वती ने गीत लिखे थे। इस नाटक में वारुणी का अभिनय मेनका ने और लक्ष्मी का अभिनय उर्वशी ने किया था। उसको देखने के लिए तीनों लोकों के सुन्दर पुरुष लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान् उपस्थित थे (समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः)। इस नाटक के अभिनय के समय उर्वशी ने पुरुषोत्तम पाठ के स्थान पर पुरूरवा पाठ का उच्चारण कर दिया था, जिससे असन्तुष्ट होकर महामुनि भरत ने उसे स्वर्ग से च्युत कर दिया, किन्तु देवराज इन्द्र के आग्रह पर अपने शाप में कुछ शिथिलता कर दी। इस प्रकार उर्वशी स्वर्ग से च्युत होने से बच गयी।

महाकवि कालिदास के तीसरे नाटक मालविकाग्निमित्र का, पूर्व के दोनों नाटकों की भाँति महाराज विक्रमादित्य की सभा में अभिनय हुआ था। अभिज्ञान शाकुन्तल का ग्रीष्म ऋतु और मालविकाग्निमित्र का वसन्तोत्सव पर अभिनय हुआ था। नाटक की प्रस्तावना में पारिपार्श्वक द्वारा यह जिज्ञासा करने पर कि भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे प्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों के होते हुए विद्वत्सभा कालिदास के नाटकों का अभिनय देखने के लिए क्यों उत्सुक है? सूत्रधार कहता है कि 'पुराने होने से ही न तो सब अच्छे होते हैं और न नये होने पर ही सब बुरे होते हैं। बुद्धिमान् लोग दोनों को परख कर उनमें से जो अच्छा होता है उसे अपना लेते हैं। जिन्हें अपनी समझ नहीं होती उन्हें दूसरे जैसा समझा देते हैं वे उसी को ठीक मान बैठते हैं'

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

प्रस्तुत नाटक की प्रस्तावना से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला के प्रशिक्षण के लिए संगीतशालाओ तथा नाट्यशालाओ का प्रबन्ध था, जहाँ सुयोग्य नाट्य संगीताचार्यो द्वारा नाट्य-संगीत की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। इस नाटक की कथावस्तु का आरम्भ नाट्य-संगीत की प्रतिस्पर्धा से होता है। यह प्रतिस्पर्धा आचार्य गणदास और आचार्य हरदत्त के बीच होती है। ये दोनो आचार्य महाराज अग्निमित्र की नाट्य-संगीतशाला के विद्वान् है। प्रतिस्पर्धा मे आचार्य गणदास की शिष्या मालविका का अभिनय श्रेष्ठ घोषित होता है और आचार्य गणदास की विजय होती है।

अभिनय की दृष्टि से संस्कृत नाटको की परम्परा मे महाकवि कालिदास के बाद शूद्रक (५वी श० ई०) के मृच्छकटिक का महत्वपूर्ण स्थान है। इस नाटक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय नृत्य, संगीत, चित्र और मूर्ति आदि कलाएँ अपनी उन्नतावस्था मे थी। मृच्छकटिक जैसी बडी प्रकरण रचनाओ के अभिनय के लिए सर्वसाधन सम्पन्न शास्त्रीय विधि से तैयार की गयी नाट्यशालाएँ उस समय वर्तमान थी। इससे तत्कालीन समाज मे नाट्यकला की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

मृच्छकटिक के आमुख मे सूत्रधार घोषित करता है कि 'आप आदरणीयो को नमस्कार करने के उपरान्त आपको मैं सूचित करता हूँ कि हम इस मृच्छकटिक नामक प्रकरण के अभिनय के लिए उद्यत हैं' (तदिद वय मृच्छकटिक नाम प्रकरण प्रयोक्तु व्यवस्यिता)। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि उसका अभिनय हुआ था। यह अभिनय संगीतशाला मे हुआ था। सूत्रधार कहता है 'अरे, हमारी यह संगीतशाला तो खाली है। नट, नर्तक, गायक आदि सब कहा गये ?' (अये, शून्येयमस्मत्संगीतशाला। क्व नु गता. कुशीलवा. भविष्यन्ति)। यह नाटक उज्जयिनी मे अभिनीत हुआ था।

इस प्रकरण की नायिका गणिका वसन्तसेना नृत्य, संगीत आदि ललित कलाओ मे निपुण थी। नाटककार ने उसके नृत्यप्रयोग विशारद चरणो की बडी प्रशसा की है। नाट्यशाला की कला मे वह बडी कुशल थी। रूप और स्वर मे सहसा परिवर्तन कर देना उसके लिए सहज था। एक बार बिट ने वसन्तसेना को रदनिका समझ लिया था। इसी भ्रम को प्रकट करते हुए बिट कहता है 'इस वसन्तसेना ने नाट्यशाला की कुशलता और कलाओं की शिक्षा द्वारा दूसरो को ठगने की निपुणता के कारण लोगो को भ्रम मे डाल दिया है।'

अभिनय की दृष्टि से मृच्छकटिक कितनी सफल और लोकप्रिय कृति है, इसके अनेक उदाहरण सामने हैं। सुदूर अतीत से लेकर आज तक रंगमच पर उसका अभिनय होता आ रहा है। न केवल अपने देश मे, अपितु एशिया और योरप के देशो मे कई बार उसका सफल अभिनय हो चुका है। उसकी इसी अभिनय प्रियता के कारण अनेक भाषाओ मे उसके अनुवाद हो चुके है।

मृच्छकटिक के बाद विशाखदत्त (६ठी श० ई०) के मुद्राराक्षस नाटक का नाम उल्लेखनीय है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य मे वह अपने ढंग का अनुपम नाटक है। उसकी प्रस्तावना से विदित होता है कि नाट्यशास्त्र के विशेषज्ञ विभिन्न वर्गो के व्यक्तियो से अधिष्ठित परिषद् के समक्ष उसका अभिनय हुआ था। नाट्यशाला मे सूत्रधार दर्शको के समक्ष यह घोषणा करता है 'परिषद् ने मुझे यह आज्ञा दी है कि आज मुझे सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र एव महाराज भास्करदत्त के पुत्र कवि विशाखदत्त की नवीन कृति मुद्राराक्षस नामक नाटक का अभिनय

करना है। काव्य के गुण-दोषो की विशेषज्ञ इस परिषद् के समक्ष अभिनय करते हुए वस्तुत मुझे स्वय भी बडे सन्तोष का अनुभव हो रहा है' (आज्ञप्तोऽस्मि परिषदा यथा—अद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराज भास्करदत्तसूनो कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनव मुद्राराक्षस नाम नाटक नाटयितव्यमिति। तत्सत्य काव्य-विशेषवेदिन्या परिषदि प्रयुज्जमानस्य ममापि सुमहान् परितोष प्रादुर्भवति)।

इस नाटक का अभिनय सम्भवत शरद् ऋतु मे हुआ था। नाटक के तीसरे अक म राजा के द्वारा कहलाया गया यह सम्वाद कि "अहो, शरत्समयसम्भृतशोभाना दिशामतिरमणीयता।" इसी आशय का परिचायक है।

नाट्यप्रयोग की दृष्टि से यद्यपि मुद्राराक्षस म कतिपय त्रुटियाँ एव कमियाँ हैं, फिर भी उसके अन्तर्साक्ष्या को देख कर यह विश्वास होता है कि उसका अभिनय हुआ था।

महाकवि कालिदास के बाद कवित्व की जो अजस्र धारा बही, नाटककार भवभूति (७वीं श० ई०) की भारती का उसको आगे बढाने मे बडा योगदान रहा। भवभूति ने तीन नाटक लिखे. उत्तर रामचरित, महावीर चरित और मालती माधव। उत्तर रामचरित उनकी अगाध कवित्व प्रतिभा और समस्त सस्कृत साहित्य का अमूल्य रत्न है। कालिदास की ही भाँति भवभूति कवित्व की दृष्टि से जितने प्रतिभाशाली थे नाटचशास्त्रीय सविधाना की दृष्टि मे भी उतने ही पारगत थे। उनका उत्तर रामचरित रगमच पर अभिनीत हुआ था, इसका उल्लेख उसकी प्रस्तावना म देखने को मिलता है। यह नाटक भगवान् कालप्रियनाथ महादेव की यात्रा के अवसर पर श्रेष्ठ सामाजिका के समक्ष अभिनीत हुआ था (अद्य खलु भगवत कालप्रियनाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि)।

रथोत्सव, यात्राकाल आदि के समय नाटका के अभिनीत होने की चर्चाएँ प्राय अनेक ग्रन्था मे देखने को मिलती हैं। धार्मिक अवसरा पर देवालया मे नाटचशालाओ का आयोजन कर उनमे नाटको का अभिनय हुआ करता था। उत्तर रामचरित भी सम्भवत भगवान् कालप्रियनाथ के यात्रोत्सव पर उज्जयिनी मे अभिनीत हुआ था।

नाटचशास्त्र के निर्देशा के अनुसार अभिनेता को देश, काल और पात्रता की अनुरूपता का ध्यान रखना होता है। तभी वह अभिनय मे सफलता प्राप्त कर सकता है। उत्तर रामचरित की प्रस्तावना म इसी आशय की सूचना देते हुए सूत्रधार कहता है 'यह मैं कार्यवश अयोध्यावासी और उस समय का रहने वाला हो गया हूँ' (एषोऽस्मि कार्यवशादयोध्यकस्तदानींतनश्च सवृत्त)। नाटक के अन्तिम भरत वाक्य से भी यही ज्ञात होता है कि जगन्माता और गगा की तरह मगलकारिणी इस पवित्र रामायणी कथा को सामाजिका के समक्ष अभिनया द्वारा प्रदर्शित (अभिनयैर्विन्यस्तरूपा) किया गया।

भवभूति के अन्य दोना नाटका महावीर चरित और मालती माधव का अभिनय भी भगवान् कालप्रियनाथ की यात्रा के समय हुआ था। दोनो नाटका का श्रोता एव दर्शक विद्वत्समाज था। मालती माधव की प्रस्तावना मे भवभूति न सूत्रधार के द्वारा कहलाया है कि 'विद्वत्परिषद् ने मुझे आदेश दिया है कि अपूर्व नाट्य प्रयोग द्वारा मैं उनका मनोरजन करूँ' (आदिष्टोऽस्मि विद्वत्परिषदा यथा—अद्य त्वमाऽपूर्ववस्तुप्रयोगेण वय

विनोदयितव्या इति)। इस सन्दर्भ मे भवभूति ने नटो के गुणो का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनमे शृगारादि रसो के अभिनय, नायक की मनोहर चेष्टाओ के अभिव्यजन की क्षमता और कला निपुणता तथा वाक्यपाटव होना चाहिए।

इस नाटक की प्रस्तावना से यह भी ज्ञात होता है कि भवभूति नटो एव नाट्य-मण्डलियो के साथ रहे। वही से नाट्यकला का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर उन्होने अपनी इस कृति का निर्माण किया (**भरतेषु वर्तमानः स्वकृतिमेवं गुणभूयसीमस्माकं हस्ते समर्पितवान्**)।

भवभूति के ही आस-पास सम्राट् हर्षवर्धन (७वी श० ई०) ने तीन नाटिकाओ का निर्माण किया, जिनके नाम है **प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द**। **रत्नावली** उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। इस नाटिका की सब से बडी विशेषता है उसका वस्तुविधान, जो कि नाट्यशास्त्रोपयोगी तथा अभिनेय है।

हर्ष के नाटको से अभिनय के क्षेत्र मे नयी ऐतिहासिक दिशा प्रकाश मे आयी। ईसा की ७वी शताब्दी मे **भागवत** (अध्याय १९-२३) मे वर्णित रासक्रीडा के आधार पर एक नयी नाट्यशैली का निर्माण हुआ। इसी परम्परा मे हर्ष ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के आत्म-बलिदान की कथा को सगीतबद्ध करके नृत्य-सगीत के ज्ञाता अभिनेताओ द्वारा अभिनय कराया था।

उनकी इन तीनो कृतियो की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि सम्राट् हर्ष के अधीन देश-देशान्तरो से आये राजाओ की गुणग्राहिणी परिषद् के समक्ष उनका अभिनय हुआ था। **प्रियदर्शिका** और **रत्नावली** मे चैत्र मास की पूर्णिमा तिथि को वसन्तोत्सव मनाये जाने का उल्लेख हुआ है। यह उत्सव लगभग होलिकोत्सव की भाँति हुआ करता था। इसी प्रकार **नागानन्द** नाटक मे इन्द्रोत्सव का उल्लेख हुआ है। इन उत्सवो के समय रगमच पर उक्त नाटको का अभिनय हुआ था।

हर्ष ने नाटिका-लेखन के जिस नये प्रयोग का सूत्रपात किया था, उसका अनुसरण करने वाले बाद के नाटककारो मे राजशेखर (८वी श०) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने चार नाटक लिखे, जिनके नाम हैं **कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण** और **बालभारत**। **कर्पूरमंजरी** उनका ही नही, समस्त सस्कृत साहित्य मे अपने ढग का प्रथम नाटक है। यह एक प्राकृत रचना है और रूपक-भेदो मे इसे **सट्टक** नाम से कहा जाता है। उसकी प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि रगशाला मे उसका अभिनय हुआ था। उसकी सब से बडी विशेषता यह है कि उसका अभिनय चौहान कुल प्रसूता कविराज एव कवीन्द्र राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी ने स्वय किया था। वसन्त ऋतु के समय वह अभिनीत हुई थी :

चउहाणकुलमौलिमालिआ राअसेहरकइदंगेहिणी।
भत्तुणो किदिमवंतिसुंदरी सा पउजइमेदमिच्छदि॥

इसी प्रकार भट्ट नारायण (८वी-९वी श० ई०) के **वेणीसंहार** का भी दर्शको एव श्रोताओ के समक्ष रगमच पर अभिनय हुआ था। उपस्थित सभासदो के समक्ष सूत्रधार नम्र निवेदन करता है : 'भट्ट नारायण की यह कृति अभिनय के लिए प्रस्तुत है। कवि के परिश्रम और श्रेष्ठ आख्यान के कारण ही सही, अथवा नाटक

को देखने की उत्कट अभिलाषा के प्रयोजन से आप लोग शान्त होकर इसका अभिनय देखें।' यह नाटक शरद् ऋतु में अभिनीत हुआ था।

कविराज राजशेखर के समकालीन या उनसे कुछ पूर्ववर्ती मुरारि (६ठी ७वीं श०) कवि ने अनर्घराघव नाटक लिख कर संस्कृत नाटकों की परम्परा को उजागर किया। यह नाटक नाट्य प्रयोग का अच्छा उदाहरण है। इसकी प्रस्तावना से तत्कालीन नटों की प्रतिस्पर्धा का मनोरंजक वृत्त जानने को मिलता है। मध्य देश के निवासी नाट्याचार्य बहुरूप का एक शिष्य था, जिसका नाम था सुचरित। वह बड़ा प्रतिभाशाली नट था। एक बार किसी द्वीपान्तर से आये कलहकन्दक नामक नट ने अपनी नाट्यकला को दिखा कर सारे समाज को उद्वेजित कर दिया था। भगवान् पुरुषोत्तम की यात्रा में उपस्थित सभासदों के सम्मुख उसने अपने अभिनय का प्रदर्शन किया था। उसके द्वारा इस प्रकार के नाट्य प्रदर्शन का सुचरित नामक नट ने विरोध किया और उस पर अपनी जीविका छीनने का आरोप लगाया। उसने कहा 'जनानुराग ही नाट्योपजीवी नटों का सर्वस्व हुआ करता है। उसे छीन कर ले जाने वाले दुष्ट कलहकन्दक को विजय करके मैं उस जनानुराग को वापिस लाना चाहता हूँ'

प्रीतिर्नाम सदस्याना प्रिया रंगोपजीविन।
जित्वा तदपहर्तारमेव प्रत्याहरामि ताम्॥

अनर्घराघव—१।३

इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नाट्यकला नटों की आजीविका का साधन थी और अपने क्षेत्र में वे किसी भी बाहरी नट के नाट्य प्रदर्शन को अपनी जीविका पर आघात समझते थे। इसलिए अपने अधिकार क्षेत्र की जनता के प्रति अपनी लोकप्रियता को बनाये रखना वे आवश्यक समझते थे।

नाटक लेखन और नाट्य प्रयोग की यह परम्परा शक्तिमद्र के आश्चर्यचूडामणि, क्षेमीश्वर के चण्ड कौशिक एवं नैषधानन्द, दिङ्नाग की कुन्दमाला, क्षेमेन्द्र के चित्रभारत तथा कनकजानकी से होती हुई निरन्तर आगे बढ़ती गयी। जयदेव का प्रसन्न राघव इस उन्नत परम्परा का अन्तिम केन्द्र बिन्दु है, जिसकी रचना १२वीं-१३वीं श० ई० के लगभग हुई। यद्यपि उसके बाद भी आगे की कई शताब्दियों तक निरन्तर नाटक लिखे जाते रहे, किन्तु नाट्यविधा और काव्यविधा की दृष्टि से उनका उतना महत्व नहीं रहा। एकांकी नाटकों ने अवश्य ही नाट्य प्रयोग की नयी दिशा को जन्म दिया, किन्तु उसकी परम्परा आगे नहीं बढ़ी। प्रतीकात्मक और छाया नाटकों ने अभिव्यंजनात्मक शैली का निर्माण तो किया, किन्तु उनके द्वारा अभिनय की एकांगिता ही प्रकाश में आयी।

इस प्रकार संस्कृत नाटकों से नाट्यकला की मूर्त परम्परा की प्रतिष्ठा हुई और आगे-आगे निरन्तर उसकी उन्नति होती गयी। उनके अभिनय के लिए राजदरबारों और सार्वजनिक स्थानों पर नाट्यशालाओं का निर्माण हुआ। सभी युगों में वे जनता के मनोरंजन का श्रेष्ठ माध्यम बनते रहे। इस राष्ट्र की अभिनय कला का जीवित इतिहास उनके द्वारा आगे की पीढ़ियों को प्राप्त होता रहा।

●

सात

•

आचार्य नन्दिकेश्वर कृत अभिनयदर्पण

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖

मूल और हिन्दी अनुवाद

आचार्य-नन्दिकेश्वर-विरचितम्

अभिनयदर्पणम्

नमस्क्रिया

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥१॥

यह समस्त विश्व जिनका आंगिक अभिनय है, यह सम्पूर्ण वाङ्मय जिनका वाचिक अभिनय है, और यह चन्द्र तथा ये तारागण जिनका आहार्य अभिनय है, उन सात्त्विक अभिनय स्वरूप भगवान् शंकर को हम नमस्कार करते है।

नाट्यवेद की उत्पत्ति और परम्परा

नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः।

पितामह ब्रह्मा ने नाट्यवेद का निर्माण कर सर्व प्रथम उसे (अभिनय के लिए) आचार्य भरत को दिया। (आचार्य भरत ने गन्धर्वों और अप्सराओं को उसमें दीक्षित किया)।

ततश्च भरतः सार्धं गन्धर्वाप्सरसां गणैः॥२॥
नाट्यं नृत्तं तथा नृत्यमग्रे शम्भोः प्रयुक्तवान्।

तदनन्तर गन्धर्वों और अप्सराओं के साथ आचार्य भरत ने उस नाट्यवेद को नाट्य, नृत्त और नृत्य—इन तीन रूपों में भगवान् शंकर के सम्मुख प्रस्तुत किया।

प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हरः॥३॥
तण्डुना स्वगणाग्रण्या भरताय न्यदीदिशत्।
लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत्॥४॥

आचार्य भरत द्वारा प्रस्तुत उस अभिनय के उद्धत प्रयोगो को देख कर शकर ने अपने मुख्य गण तण्डु द्वारा भरत को विधिवत् शिक्षा दिलायी। (इसी प्रकार) भरत के प्रति स्नेहवश भगवती पार्वती ने लास्य नामक (चौथे) नृत्त मे उनको दीक्षित किया।

बुद्ध्वाऽथ ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन्।

भगवान् शकर के गण तण्डु द्वारा भरत को उपदिष्ट उस नाट्य को मुनिजनो ने मानवी सृष्टि मे ताण्डव नाम से प्रचलित किया।

पार्वती त्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम् ॥५॥

बाद म भगवती पार्वती ने बाणासुर की कन्या उषा को लास्य नृत्य में दीक्षित किया।

तया द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः।
ताभिस्तु तत्तद्देशीयास्तदशिष्यन्त योषितः ॥६॥

उषा ने ब्रजवासिनी गोपियों को लास्य नृत्य मे दीक्षित किया। गोपियो द्वारा वह सौराष्ट्र की वनिताओ मे प्रवर्तित हुआ। सौराष्ट्र वनिताओ ने भिन्न भिन्न प्रदेशो की युवतियो मे उसको प्रचलित किया।

एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम्।

इस प्रकार परम्परा द्वारा प्रवर्तित यह नाट्य कला (नाट्यशास्त्र) पीढ़ी-दर पीढ़ी से आगे बढ़ती रही और इस समस्त भू मण्डल मे प्रतिष्ठित एव विश्रुत हुई।

नाट्यशास्त्र की प्रशसा

ऋग्यजुः सामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात् ॥७॥
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥८॥

ब्रह्मा ने ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से क्रमश पाठ्य, अभिनय, गीत और रसो का सग्रह कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाले इस नाट्यशास्त्र का निर्माण किया।

कीर्तिप्रागल्भ्यसौभाग्यवैदग्ध्यानां प्रवर्धनम्।
औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम् ॥९॥

यह नाट्यशास्त्र कीर्ति, वाग्मिता, सौभाग्य तथा पाण्डित्य का सवर्धक और उदारता, स्थिरता, धैर्य एव सुखोपभोग का प्रदाता है।

दुःखार्तिशोकनिर्वेदखेदविच्छेदकारणम् ।
अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमप्यधिकं मतम् ॥१०॥

यह नाट्यशास्त्र दुःख, पीडा, शोक, नैराश्य और खेद का विनाशक है। (इतना ही नहीं) अपितु वह पारलौकिक ब्रह्मानन्द का प्रदाता, बल्कि कुछ आचार्यों के मत में उससे भी अधिक आनन्ददायी है।

जहार नारदादीनां चित्तानि कथमन्यथा।

यदि ऐसा न होता तो नारद मुनि जैसे (विरक्त एवं उन्मुक्त) सन्तों को यह शास्त्र कैसे मोह लेता ?

अभिनय और उसके भेद

एतच्चतुर्विधोपेतं नटनं त्रिविधं स्मृतम् ॥११॥
नाट्यं नृत्तं नृत्यमिति मुनिभिर्भरतादिभिः।

इस प्रकार चारों वेदों से संगृहीत इस नाट्यवेद को आचार्य भरत और उनके परवर्ती आचार्यों ने अभिनय की दृष्टि से तीन प्रकार का बताया है, जिनके नाम हैं नाट्य, नृत्त और नृत्य।

अभिनय का आयोजन और प्रदर्शनकाल

द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः ॥१२॥

नाट्य और नृत्य का विशेष रूप से पर्वों और त्योहारों के समय आयोजन करना चाहिए।

नृत्तं तत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसङ्गमे ॥१३॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।

नृत्त का आयोजन किसी बृहत् समारोह के समय करना चाहिए, जैसे राज्याभिषेक, महोत्सव, यात्राकाल, तीर्थयात्रा, विवाह, प्रियजनों के समागम, नगर प्रवेश, गृह प्रवेश, पुत्र-जन्मोत्सव और इसी प्रकार के अन्य शुभ अवसरों पर।

शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं माङ्गल्यं सर्वकर्मभिः ॥१४॥

उक्त पर्व-समारोहों और इसी प्रकार के अन्य कार्यों की शुभकामना एवं मांगल्य प्राप्ति के लिए नाट्य, नृत्य और नृत्त का आयोजन प्रदर्शन करते रहना चाहिए।

नाट्य का लक्षण

नाट्यं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्।

किसी पौराणिक एवं प्राचीन चरित्र पर आधृत ऐसी कथा के अभिनय को नाट्य कहा जाता है, जो लोक सम्पूज्य हो।

नृत्त का लक्षण

भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते ॥१५॥

जिस अभिनय (नाट्य) मे भावो का प्रदर्शन नही किया जाता, उसको नृत्त कहते है।

नृत्य का लक्षण

रसभावव्यञ्जनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते।
एतन्नृत्यं महाराजसभायां कल्पयेत् सदा ॥१६॥

ऐसे अभिनय (नाट्य) को नृत्य कहते हैं, जिसमे रस, भाव और व्यजना का प्रदर्शन हो। इस अभिनय का आयोजन सदा राज दरबारो मे ही किया जाना चाहिए।

सभापति का लक्षण

श्रीमान् धीमान् विवेकी वितरणनिपुणो गानविद्याप्रवीणः
सर्वज्ञः कीर्तिशाली सरसगुणयुतो हावभावेष्वभिज्ञः।
मात्सर्यद्वेषहीनः प्रकृतिहितसदाचारशीलो दयालु-
र्धीरोदात्तः कलावानभिनयचतुरोऽसौ सभानायकः स्यात् ॥१७॥

उक्त नाट्य, नृत्त और नृत्य सभाओ के लिए जिस सभापति का निर्वाचन किया जाय; वह श्रीसम्पन्न, बुद्धिमान्, विवेकशील, पुरस्कार वितरण मे निपुण, सगीतविद्या मे प्रवीण, सर्वज्ञ, प्रशस्तकीर्ति, रसिक, गुणवान्, हाव-भावो का ज्ञाता, ईर्ष्या-द्वेष रहित, स्वभाव से हितेच्छु, सदाचारी, शील सम्पन्न, दयालु, धीर, सयमी, कलाओ का ज्ञाता और अभिनय-कुशल होना चाहिए।

मन्त्री का लक्षण

मेधासुस्थिरभाषणगुणपराः श्रीमद्यशोलम्पटा
भावज्ञा गुणदोषभेदनिपुणाः शृङ्गारलीलायुताः।

मध्यस्था नयकोविदाः सहृदयाः सत्पण्डिता भान्ति ते
भाषाभेदविचक्षणाः सुकवयो अस्य प्रभोर्मन्त्रिणः ॥१८॥

[उक्त अभिनय सभा के लिए एक मंत्री की भी व्यवस्था होनी चाहिए।] मंत्रिपद पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाना चाहिए; जो मेधावी, स्थिरचित्त, भाषणकला में निपुण, श्रीसम्पन्न, यशाभिलाषी हाव-भावों का ज्ञाता, गुण-दोषों के भेद का विवेचक, प्रसाधन कला में अभिरुचि रखने वाला, विवाद की स्थिति में निर्णय करने में समर्थ, नीति निपुण, सहृदय, विद्वान्, अनेक भाषाओं का ज्ञाता और कविकर्म में दक्ष हो।

सभा का लक्षण

सभाकल्पतरुर्भाति वेदशाखोपजीवितः।
शास्त्रपुष्पसमाकीर्णो विद्वद्भ्रमरशोभितः ॥१९॥

उक्त लक्षणों से युक्त सभापति और मंत्री से अधिष्ठित सभा ऐसे कल्पवृक्ष के समान शोभायमान होती है, वेद जिसकी शाखाएँ, शास्त्र जिसके पुष्प और विद्वन्मण्डली जिसकी भ्रमरावली है।

सभा की रचना

एवंविधः सभानाथः प्राङ्मुखो निविशेन् मुदा।
वर्तेरन् पार्श्वयोस्तस्य कविमन्त्रिसुहृज्जनाः ॥२०॥

सभा-मण्डप में सभापति को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके प्रसन्न मुख मुद्रा में अपना आसन ग्रहण करना चाहिए। उसके दोनों पार्श्वों में कवियों, मंत्रियों और मित्रजनों को बैठना चाहिए।

तदग्रे नटनं कुर्यात् तत् स्थलं रङ्ग उच्यते।
रङ्गमध्ये स्थिते पात्रे तत्समीपे नटोत्तमः ॥२१॥

उक्त सभा-मण्डप के सामने अभिनय (नटन) का आयोजन करना चाहिए। उस अभिनय स्थल को रंगमंच (स्टेज) कहा जाता है। रंगमंच के मध्य में नृत्य करने के लिए खड़ी नर्तकी के समीप ही प्रधान नर्तक को खड़ा होना चाहिए।

दक्षिणे तालधारी च पार्श्वद्वन्द्वे मृदङ्गकौ।
तयोर्मध्ये गीतकारी श्रुतिकारस्तदन्तिके ॥२२॥

रंगमंच पर नर्तक-नर्तकी के दाहिने पार्श्व में मँजीरे वाले (तालधारी) को और उसके दोनों पार्श्वों में दो मृदंगवादकों को होना चाहिए। उन दोनों के मध्य में गीतकार और गीतकार के पास ही स्वरकार का स्थान होना चाहिए।

एवं तिष्ठेत् क्रमेणैव नाट्यादौ रङ्गमण्डली।

इस प्रकार अभिनय का आरम्भ करने से पूर्व नर्तक-मण्डली को रगमच पर यथास्थान बैठना चाहिए।

पात्र का लक्षण

तन्वी रूपवती श्यामा पीनोन्नतपयोधरा ।।२३।।

रगमच पर अभिनय करने वाली मुख्य अभिनेत्री सुकुमार, सुन्दरी और युवती होनी चाहिए। उसके स्तन पुष्ट और उन्नत होने चाहिए।

प्रगल्भा सरसा कान्ता कुशला ग्रहमोक्षयोः।
विशाललोचना गीतवाद्यतालानुवर्तिनी ।।२४।।

उसमे निर्भीकता, सरसता और कमनीयता होनी चाहिए। उसको अभिनय के आरम्भ और उसकी समाप्ति की विधियो का भली भाँति ज्ञान होना चाहिए। वह विशालनेत्रा हो और उसको गीत-वाद्य-ताल के अनुसार अभिनय की गति-विधियो के अनुवर्तन मे दक्ष होना चाहिए।

परार्घ्यभूषासम्पन्ना प्रसन्नमुखपङ्कजा।
एवंविधगुणोपेता नर्तकी समुदीरिता ।।२५।।

वह मूल्यवान् पोशाक धारण किये खिले कमल की भाति प्रसन्न मुख वाली होनी चाहिए। इन विशेषताओं (गुणो) से युक्त नर्तकी नाट्य सभा मे नृत्य के योग्य समझी जाती है।

नर्तकी की अयोग्यताएँ (वर्जनीय पात्र)

पुष्पाक्षी केशहीना च स्थूलोष्ठी लम्बितस्तनी।
अतिस्थूलाप्यतिकृशा अत्युच्चाप्यतिवामना ।।२६।।
कुब्जा च स्वरहीना च दशैता नाट्यवर्जिताः।

नाट्य सभा मे दस प्रकार की नर्तकियाँ अभिनय के अयोग्य समझी जाती है। वे इस प्रकार है : १. जिनकी आँखो (पुतलियो) मे सफेद या लाल फूले हो, २ जिनके शिर मे बाल न हो, ३ जिनके अधर मोटे एव भद्दे हो; ४ जिनके स्तन लटके हुए हो, ५. जिनका शरीर बहुत मोटा हो; ६. जो बहुत दुबली-पतली हो; ७. जिनका कद बहुत लम्बा हो, ८. जो बौने कद की हो, ९ जो कुबडी हो और १०. जिनके स्वर मे माधुर्य न हो।

नर्तकी की योग्यताएँ (पात्र के प्राण)

जवः स्थिरत्वं रेखा च भ्रमरी दृष्टिरश्रमा ॥२७॥
मेधा श्रद्धा वचो गीतं पात्रप्राणा दश स्मृताः ।

नाट्य-सभा मे अभिनय करने वाली नर्तकी मे दस योग्यताएँ होनी चाहिए। वे इस प्रकार हैं १ गीत-वाद्य-ताल के अनुसार जिसके पाद-सचालन मे गतिमत्ता हो, २. जिसको स्थिर भाव का ज्ञान हो, ३ रगमच पर पाद-सचालन की सीमा-रेखाओं का जिसे अभ्यास हो, ४ जिसको परिभ्रमण की विधियों का ज्ञान हो, ५. जिसके अभिनय मे स्वाभाविकता हो, ६ जो सहज भाव से दृष्टि-परिचालन मे निपुण हो, ७. जो बुद्धिमती हो, ८. कला के प्रति जिसमे सहज अभिरुचि हो, ९ जिसकी वाणी मे माधुर्य हो और १० जो गायन विद्या मे निपुण हो।

एवंविधेन पात्रेण नृत्यं कार्यं विधानतः ॥२८॥

इस प्रकार की योग्यताओं से सम्पन्न नर्तकी नाट्यशास्त्र के विधानानुसार अभिनय के सर्वथा उपयुक्त समझी जाती है।

पाद किंकिणी (घुंघरू) का लक्षण

सुस्वराश्च सुरूपाश्च सूक्ष्मा नक्षत्रदेवताः ।
किङ्किण्यः कांस्यरचिता एकैकाङ्गुलिकान्तरम् ॥२९॥

नर्तकी के पैरों मे पहनाये जाने वाले घुंघरू (किंकिणी) काँसे के बने हुए होने चाहिए। उनकी आवाज मधुर हो, वे ऐसे बनाये गये हो, जो देखने मे अच्छे लगें। आकार मे वे छोटे होने चाहिए। उनकी बनावट अर्ध चन्द्राकार होनी चाहिए। उनको एक एक अँगुल के अन्तर से पिरोना चाहिए।

बध्नीयान्नीलसूत्रेण ग्रन्थिभिश्च दृढं पुनः ।
शतद्वयं शतं वापि पादयोर्नाट्यकारिणी ॥३०॥

घुंघरुओं को पिरोने के लिए नीले रग का डोरा होना चाहिए। उनके बीच-बीच मे जो गाँठें दी जायें, वे मजबूत होनी चाहिएँ। नर्तकी के दोनों पैरों मे सौ-सौ या दो-दो सौ घुंघरू होने चाहिएँ।

अभिनय के अधिष्ठाता देवताओं की स्तुति, वाद्यार्चन और गुरु-वन्दना

विघ्नेशं सुरजाधिपं च गगनं स्तुत्वा महीं प्रार्थयेत्
तत्तद्वाद्यकदम्बकस्य विधिना पूजाविधामानयेत् ।

आलप्यातिमनोहरान् बहुविधीन् संपाद्य भूयस्तथा
गुर्वाज्ञामवलम्ब्य पात्रमुचितं शृङ्गारमेवारभेत् ।।३१।।

अभिनय के लिए अंग-प्रत्यंग की शृंगार रचना करने से पूर्व सर्व प्रथम नर्तक-नर्तकी को विघ्नराज भगवान् गणेश और नटराज भगवान् शंकर की स्तुति करनी चाहिए। तदनन्तर आकाश और पृथ्वी की वन्दना करनी चाहिए। इसी प्रकार बहुविध अति मनोहर आलापों सहित विधिपूर्वक पुनः वाद्ययंत्रों की पूजा-अर्चना करनी चाहिए। तदनन्तर नमस्कारपूर्वक गुरुपाद से आज्ञा प्राप्त करके नर्तकी को अपने अंग प्रत्यंग की शृंगार रचना करनी चाहिए।

रंगभूमि की अधिष्ठात्री देवी की वन्दना

भरतकुलभाग्यकलिके भावरसानन्दपरिणताकारे।
जगदेकमोहनकले जय जय रङ्गाधिदेवते देवि ।।३२।।

नाट्य के अधिष्ठाता देवताओं की स्तुति, वाद्यार्चन और गुरुवन्दना करने के अनन्तर नर्तक-नर्तकी को रंगमंच की अधिष्ठात्री देवी की वन्दना इन शब्दों में करनी चाहिए : हे रंगभूमि की अधिष्ठात्री देवी, तुम्हारी बारम्बार जय हो ! तुम नाट्याचार्य भरत (अथवा नटों) की नाट्य-परम्परा की विधात्री, विविध भावों एवं रसों की विधायिनी, आनन्द स्वरूपिणी और सृष्टि को सम्मोहित करने वाली एकमात्र कला-स्वरूपिणी हो।

पुष्पांजलि

विघ्नानां नाशनं कर्तुं भूतानां रक्षणाय च।
देवानां तुष्टये चापि प्रेक्षकाणां विभूतये ।।३३।।
श्रेयसे नायकस्यात्र पात्रसंरक्षणाय च।
आचार्यशिक्षासिद्ध्यर्थं पुष्पाञ्जलिमथारभेत् ।।३४।।

रंगभूमि की अधिष्ठात्री देवी की वन्दना करने के अनन्तर अभिनेत्री को चाहिए कि वह विघ्न-बाधाओं की निवृत्ति के लिए, प्राणियों की रक्षा (लोकमंगल) के लिए, देवताओं की प्रसन्नता के लिए, दर्शकों की ऐश्वर्य वृद्धि के लिए, नाट्य के नायक के कल्याण के लिए, अन्य पात्रों के श्रेयस् के लिए और आचार्यपाद द्वारा अधीत नाट्यविद्या की सिद्धि-सफलता के लिए पुष्पांजलि अर्पित करे।

नाट्यारम्भ की विधि

एवं कृत्वा पूर्वरङ्गं नृत्यं कार्यं ततः परम्।
नृत्यं गीताभिनयनं भावतालयुतं भवेत्॥३५॥

इस प्रकार उक्त विधि से पूर्वरंग की प्रक्रिया को सम्पन्न करने के उपरान्त नृत्य का आरम्भ करना चाहिए। नृत्य ऐसा होना चाहिए, जो गीत, अभिनय, भाव और ताल से समन्वित हो।

आस्येनालम्बयेद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्।
चक्षुर्भ्यां दर्शयेद् भावं पादाभ्यां तालमाचरेत्॥३६॥

नृत्य के समय वाणी द्वारा गायन करना चाहिए। गीत के अभिप्राय को हस्तमुद्राओं द्वारा, भावों को नेत्र-संचालन द्वारा और ताल छन्द की गति को दोनों पैरों द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए।

यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥३७॥

अभिनय काल में मुद्राओं, भावों और गतिभेदों को प्रदर्शित करते हुए नर्तक या नर्तकी को चाहिए: जिस दिशा की ओर वह हस्त-संचालन करे, उधर ही दृष्टिपात भी होना चाहिए। जिस दिशा में वह दृष्टिपात करे, वहीं उसका मन भी केन्द्रित होना चाहिए। जिस दिशा में मन केन्द्रित हो तदनुसार ही भावाभिव्यक्ति भी होनी चाहिए। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति के अनुरूप ही रस की सृष्टि होनी चाहिए।

अभिनय

अभिनय के चार भेद

तत्र त्वभिनयस्यैव प्राधान्यमिति कथ्यते।
आङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोऽपरः॥३८॥
चतुर्धाभिनयस्-

नाट्य के साधन नृत्य, गीत, अभिनय, भाव, रस और ताल—इन छः तत्त्वों में अभिनय का स्थान प्रमुख माना गया है। अभिनय चार प्रकार का है १ आंगिक, २ वाचिक, ३ आहार्य और ४. सात्त्विक।

आंगिक अभिनय

तत्र आङ्गिकोऽङ्गैर्निदर्शितः।

उक्त चारो अभिनय-भेदो मे अगो द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले नृत्य को आंगिक अभिनय कहते है।

वाचिक अभिनय

वाचा विरचितः काव्यनाटकादि तु वाचिकः ॥३९॥

जिस नृत्य मे वाणी द्वारा काव्य (गीत सगीत) और नाटकादि (सम्वादादि) का अभिव्यजन किया जाता है, उसको वाचिक अभिनय कहते है।

आहार्य अभिनय

आहार्यो हारकेयूरवेषादिभिरलंकृतः।

हार और केयूर आदि प्रसाधनो से सुसज्जित होकर जिस नृत्य का प्रदर्शन किया जाता है, उसको आहार्य अभिनय कहते हैं।

सात्त्विक अभिनय

सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावितः ॥४०॥

जिस नृत्य मे भावज्ञ व्यक्ति सात्त्विक भावो के माध्यम से नृत्य का प्रदर्शन करता है, उसको सात्त्विक अभिनय कहते हैं।

सात्त्विक भाव के आठ भेद

स्तम्भः स्वेदाम्बु रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥४१॥

सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते है जिनके नाम है १ स्तम्भित होना, २ पसीने पसीने हो जाना, ३ रोमांचित हो जाना, ४ वाणी का लडखडा जाना, ५ शरीर मे कँपकँपी आना, ६ मुखाकृति का विकृत हो जाना, ७ अश्रुपात हो जाना और ८ मूर्च्छित हो जाना।

आंगिक अभिनय के साधन

तत्राङ्गिकोऽङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गैस्त्रेधा प्रकाशितः।

अभिनय के उक्त चार भेदो मे अग, प्रत्यग और उपाग—इन तीन साधनो के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को आंगिक कहा गया है।

अग साधन

अङ्गान्यत्र शिरो हस्तौ वक्षः पार्श्वौ कटीतटौ ॥४२॥
पादाविति षडुक्तानि

आगिक अभिनय के छ अग सावनो के नाम हैं १ शिर, २. दोनो हाथ, ३ वक्ष स्थल, ४ दोनो पार्श्व, ५ दोनो कटि प्रदेश और ६ दोनो पैर।

ग्रीवामप्यपरे जगुः।

इनके अतिरिक्त कुछ नाट्याचार्यों के मत से ग्रीवा को भी एक अग साधन माना गया है।

प्रत्यग साधन

प्रत्यङ्गान्यथ च स्कन्धौ बाहू पृष्ठं तथोदरम् ॥४३॥
ऊरू जङ्घे षडित्याहुरपरे मणिबन्धकौ।
जानुनी कूर्परावेतत् त्रयमप्यधिकं जगुः ॥४४॥
ग्रीवा स्यादपि

प्रत्यग सावनो के अन्तर्गत १. दोनो कन्धे, २. दोनो वाँहें, ३ पीठ, ४. उदर, ५ दोनो उरु और ६ दोनो जघाएँ—इन छ का समावेश किया गया है।

इनके अतिरिक्त कुछ नाट्याचार्यों के मत मे दोनो कलाइयाँ, दोनो कुहनियाँ, दोनो घुटने और ग्रीवा को भी प्रत्यगो मे परिगणित किया गया है।

उपाग साधन

उपाङ्गन्तु स्कन्ध एव जगुर्बुधाः।

कुछ विद्वानो ने केवल स्कन्ध भाग को ही उपाग माना है।

दृष्टिभ्रूपुटताराश्च कपोलौ नासिका हनू ॥४५॥
अधरो दशना जिह्वा चुबुकं वदनं तथा।
उपाङ्गानि द्वादशैव शिरस्यङ्गान्तरेषु च ॥४६॥

आचार्य नन्दिकेश्वर के मत से १ नेत्र, २ भवें, ३, आँखों की पुतलियाँ, ४ दोनो कपोल, ५. नासिका, ६ दोनो कुहनियाँ, ७ अधर, ८ दाँत, ९ जिह्वा, १०. ठोड़ी, ११. मुख और १२ शिर के अग—ये बारह उपाग कहलाते हैं।

पार्ष्णिगुल्फौ तथाङ्गुल्यः करयोः पादयोस्तले ।
एतानि पूर्वशास्त्रानुसारेणोक्तानि वै मया ॥४७॥

उक्त द्वादश उपागो के अतिरिक्त दोनो पार्श्व, दोना घुटने, उँगलियाँ और हाथ-पैर के तलुवे भी उपागो मे गिने गये हैं। आचार्य नन्दिकेश्वर का कहना है कि पूर्वाचार्यो के मत से मैंने इन उपागो का उल्लेख किया है।

नृत्यमात्रोपयोगीनि कथ्यन्ते लक्षणैः क्रमात् ।
अङ्गानां चलनादेव प्रत्यङ्गोपाङ्गयोरपि ॥४८॥
चलनं प्रभवेत्तस्मात् सर्वेषां नात्र लक्षणम् ।

इन अग प्रत्यग और उपागों मे जो-जो नृत्य के उपयोगी हैं, केवल उन्ही का क्रमश आगे उल्लेख किया गया है। यद्यपि अगो के सचालन के समय प्रत्यगों और उपागो का भी अनायास सचालन होता है, फिर भी वे इतने अधिक हैं कि उन सब का उल्लेख करना सम्भव नही है।

शिर के अभिनय और उनका विनियोग

शिर के भेद

सममुद्वाहितमधोमुखमालोलितं धुतम् ॥४९॥
कम्पितं च परावृत्तमुत्क्षिप्तं परिवाहितम् ।
नवधा कथितं शीर्षं नाट्यशास्त्रविशारदैः ॥५०॥

नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने अभिनय की दृष्टि मे शिर के नौ भेद बताये हैं, जिनके नाम हैं १. सम, २ उद्वाहित, ३ अधोमुख, ४ आलोलित, ५ धुत, ६ कम्पित, ७ परावृत्त, ८ उत्क्षिप्त और ९ परिवाहित।

सम शिर

निश्चलं सममाख्यातं यन्नत्युन्नतिवर्जितम् ।

नृत्य करते समय जब शिर न तो उठा हो और न झुका ही हो, बल्कि सम (निश्चल) भाव मे अवस्थित रहे—ऐसी स्थिति को सम कहते हैं।

विनियोग

नृत्यारम्भे जपादौ च गर्वे प्रणयकोपयोः ॥५१॥
स्तम्भने निष्क्रियत्वे च समशीर्षमुदाहृतम् ।

नृत्य के आरम्भ में, जप करते समय, गर्व प्रकट करने की अवस्था में, प्रणय के समय, कोपावस्था में, स्तम्भन के समय और निष्क्रियता के भाव को प्रकट करने में सम शिर का विनियोग होता है।

उद्वाहित शिर

उद्वाहितशिरो ज्ञेयमूर्ध्वभागोन्नताननम् ॥५२॥

नृत्य करते समय जब मुख को ऊपर की ओर उठाया जाय तो सिर की उस स्थिति को उद्वाहित कहते हैं।

विनियोग

ध्वजे चन्द्रे च गगने पर्वते व्योमगामिषु ।
तुङ्गवस्तुनि संयोज्यमुद्वाहितशिरो बुधैः ॥५३॥

ध्वज, चन्द्रमा, आकाश, पर्वत, नभचारी तारागण और ऊर्ध्व भाग में अवस्थित वस्तुओं को देखने का भाव प्रकट करने के लिए बुद्धिमान् लोगों को उद्वाहित शिर का विनियोग करना चाहिए।

अधोमुख शिर

अधस्तान्नमितं वक्त्रमधोमुखमितीरितम् ।

नीचे की ओर मुंह झुका लेने की स्थिति को अधोमुख कहते हैं।

विनियोग

लज्जाखेदप्रणामेषु दुश्चिन्तामूर्छयोस्तथा ॥५४॥
अधःस्थितार्थनिर्देशे युज्यतेऽम्बुनि मज्जने ।

लज्जा तथा खेद प्रकट करने, प्रणाम करने, दुश्चिन्ता एवं मूर्च्छा की स्थिति में, निम्नप्रदेश में अवस्थित वस्तुओं को सूचित करने और स्नान करते समय अधोमुख शिर का उपयोग किया जाता है।

आलोलित शिर

मण्डलाकारमुद्भ्रान्तमालोलितं शिरो भवेत् ॥५५॥

नृत्य की जिस स्थिति में सिर को चारों ओर (मण्डलाकार) घुमा कर उद्भ्रान्ति के भाव प्रकट किये जाते हैं, सिर की उस स्थिति को आलोलित कहते हैं।

विनियोग

निद्रोद्वेगग्रहावेशमदमूर्छासु तन्मतम्।
भ्रमणे विकटोद्दामहास्ये चालोलितं शिरः ॥५६॥

निद्रा, उद्वेग, ग्रहो के आवेश, मद, मूर्च्छा, भ्रमण और विकट एव उद्दाम हास्य के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए आलोलित शिर का उपयोग किया जाता है।

धुत शिर

वामदक्षिणभागेषु चलितं तद्धुतं शिरः।

शिर को जब बांये-दांये (इधर-उधर) घुमाया जाता है, तब शिर की उस स्थिति को धुत कहते हैं।

विनियोग

नास्तीति वचने भूयः पार्श्वदेशावलोकने ॥५७॥
जनाश्वासे विस्मये च विषादेऽनीप्सिते तथा।
शीतार्ते ज्वरिते भीते सद्यःपीतासवे तथा ॥५८॥
युद्धे यत्ने निषेधादावमर्षे स्वाङ्गवीक्षणे।
पार्श्वाह्वाने च तस्योक्तः प्रयोगो भरतादिभिः ॥५९॥

नकारात्मक या निषेधात्मक बात कहने, बार-बार अगल-बगल ताकने-झाँकने; दूसरो को सान्त्वना देने, विस्मय, विषाद एव अनिच्छा के भाव प्रकट करने, शीत से पीडित होने, ज्वराक्रान्त, भयभीत होने की स्थिति मे; तत्काल मदिरापान किये हुए की स्थिति मे, युद्ध काल मे, प्रयत्न करते समय; रोकने की स्थिति मे; ईर्ष्या से उत्पन्न क्रोध करते समय; अपने अगो पर दृष्टिपात करते समय और किसी पार्श्ववर्ती को ललकारते समय—आचार्य भरत तथा अन्य नाट्यशास्त्रियो के अभिमत से धुत शिर का उपयोग किया जाता है।

कम्पित शिर

ऊर्ध्वाधोभागचलितं तच्छिरः कम्पितं भवेत्।

जब शिर को ऊपर-नीचे की ओर गतिमान् किया जाता है, तब शिर की उस स्थिति को कम्पित कहते हैं।

विनियोग

रोषे तिष्ठेति वचने प्रश्ने संख्योपहूतयोः ॥६०॥
आवाहने तर्जने च कम्पितं विनियुज्यते।

क्रोध करने, 'रुक जाओ' ऐसा वचन कहने, प्रश्न करने (कहिए, कैसे आना हुआ?), गिनती गिनने, सकेत से निकट बुलाने, आवाहन करने और मारने-पीटने मे कम्पित शिर का उपयोग होना है।

परावृत्त शिर

पराङ्मुखीकृतं शीर्षं परावृत्तमितीरितम् ॥६१॥

जब विमुखता, उदासीनता या असहमति आदि का भाव प्रकट करने के लिए शिर को पीछे की ओर फेर लिया जाता है, तब शिर की उस स्थिति को परावृत्त कहते हैं।

विनियोग

तत् कार्यं कोपलज्जादिकृते वक्त्रापसारणे।
अनादरे कचे तूण्यां परावृत्तशिरो भवेत् ॥६२॥

'यह करना चाहिए' ऐसा निर्देश करने, क्रोध एव लज्जा के भाव प्रकट करने, मुँह फेर लेने, अनादर सूचित करने, बालो को खोलने और तूणीर के लिए निर्देश करने आदि मे परावृत्त शिर का उपयोग किया जाता है।

उत्क्षिप्त शिर

पार्श्वोर्ध्वभागचलितमुत्क्षिप्तं कथ्यते शिरः।

जब पार्श्व भाग से घुमा कर शिर को ऊपर की ओर चालित किया जाता है, तब शिर की उस स्थिति को उत्क्षिप्त कहते हैं।

विनियोग

गृहाणागच्छेत्याद्यर्थसूचने परिपोषणे ॥६३॥
अङ्गीकारे प्रयोक्तव्यमुत्क्षिप्तं नाम शीर्षकम्।

'इसे लो', 'यहाँ आओ' इस प्रकार के आदेशपरक भाव को सूचित करने, (अथवा देवाराधन के समय), किसी का पालन-पोषण करने और किसी वस्तु या बात को स्वीकार करने मे उत्क्षिप्त शिर का उपयोग करना चाहिए।

परिवाहित शिर

पार्श्वयोश्चामरमिव नतं चेत् परिवाहितम् ॥६४॥

जब शिर को चँवर की भाँति एक ओर से दूसरी ओर हिलाया-डुलाया जाता है, तब शिर की उस स्थिति को **परिवाहित** कहते है।

विनियोग

मोहे च विरहे स्तोत्रे सन्तोषे चानुमोदने।
विचारे च प्रयोक्तव्यं परिवाहितशीर्षकम् ॥६५॥

मोह वियोग स्तुति, सन्तोष, समर्थन और चिन्तन आदि के भाव व्यक्त करने के लिए **परिवाहित** शिर का उपयोग किया जाता है।

दृष्टि के अभिनय और उनका विनियोग

दृष्टि के भेद

सममालोकितं साची प्रलोकितनिमीलिते।
उल्लोकितानुवृत्ते च तथा चैवावलोकितम् ॥६६॥
इत्यष्टौ दृष्टिभेदाः स्युः कीर्तिताः पूर्वसूरिभिः।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने पूर्वाचार्यों के अभिमत के अनुसार दृष्टि अभिनय के आठ प्रकार बताये है, जिनके नाम है १ सम, २ आलोकित, ३ साची, ४ प्रलोकित, ५ निमीलित, ६ उल्लोकित, ७ अनुवृत्त और ८ अवलोकित।

सम दृष्टि

वीक्षणं सुरनारीवत् सानन्दं समवीक्षणम् ॥६७॥

देवागनाओ की भाँति सौम्य रूप मे अपलक नयनो से सीधे देखना सम दृष्टि कहलाती है।

विनियोग

नाट्यारम्भे तुलायां चाप्यन्यचिन्ताविनिश्चये।
आश्चर्ये देवतारूपे समदृष्टिरुदाहृता ॥६८॥

नाट्य के आरम्भ का सकेत करने मे, तुलनात्मक स्थिति मे; किसी अन्य व्यक्ति द्वारा चिन्तित विचारों (मनोभावों) का अनुमान लगाने मे आश्चर्य को व्यक्त करने मे और देवप्रतिमा के सम्मुख—सम दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

आलोकित दृष्टि

आलोकितं भवेदाशुभ्रमणं स्फुटवीक्षणम्।

आँखें खोल कर शीघ्रतापूर्वक घुमा कर दृष्टिपात करना आलोकित दृष्टि कहलाती है।

विनियोग

कुलालचक्रभ्रमणे सर्ववस्तुप्रदर्शने ॥६९॥
याञ्चायां च प्रयोक्तव्यमालोकितनिरीक्षणम्।

कुम्हार के चाक की तरह घूमने का भाव व्यक्त करने, सब प्रकार की वस्तुओं के प्रदर्शन का आशय प्रकट करने और याचना की स्थिति को प्रकट करने के लिए आलोकित दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

साची दृष्टि

स्वस्थाने तिर्यगाकारमपाङ्गवलनं क्रमात् ॥७०॥
साचीदृष्टिरिति ज्ञेया नाट्यशास्त्रविशारदैः।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों का अभिमत है कि अपने स्थान पर बैठे ही (पात्र द्वारा) जब तिरछी चितवन से दृष्टिपात करने का भाव प्रदर्शित किया जाता है, तब उस दृष्टि को साची नाम से कहा जाता है।

विनियोग

इङ्गिते श्मश्रुसंस्पर्शे शरलक्ष्ये शुके स्मृतौ ॥७१॥
सूचनायां च कार्याणां नाट्ये साचीनिरीक्षणम्।

सकेत करने, मूँछें टेरने, बाण का लक्ष्य साधने, शुक का निर्देश करने, स्मरण करने, सूचना देने और कार्यारम्भ के भाव व्यक्त करने मे साची दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

प्रलोकित दृष्टि

प्रलोकितं परिज्ञेयं चलनं पार्श्वभागयोः ॥७२॥

दोनों पार्श्व भागों को देखने का भाव प्रकट करने के लिए जब एक ओर से दूसरी ओर दृष्टिपात किया जाता है, तब आँखो की उस स्थिति को प्रलोकित दृष्टि कहा जाता है।

विनियोग

उभयोः पार्श्वयोर्वस्तु निर्देशे च प्रसंजिते।
चलने बुद्धिजाडचे च प्रलोकितनिरीक्षणम् ॥७३॥

दोनो पार्श्वभागो मे अवस्थित वस्तुओं का निर्देश करने, अतिशय अनुराग को प्रदर्शित करने; चलने या हिलने-डुलने और बुद्धि की जडता (मूढता) का भाव व्यक्त करने के लिए प्रलोकित दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

निमीलित दृष्टि

दृष्टेरर्धविकाशेन मीलिता दृष्टिरीरिता।

अधखुली आँखो से देखने का भाव प्रकट करने वाली दृष्टि को मीलित या निमीलित दृष्टि कहा जाता है।

विनियोग

आशीविषे पारवश्ये जपे ध्याने नमस्कृतौ ॥७४॥
उन्मादे सूक्ष्मदृष्टौ च मीलिता दृष्टिरीरिता।

सर्प विष का भाव व्यक्त करने, परवश मे होने, मत्र पढने, ध्यान करने, नमस्कार करने; उन्माद की अवस्था को बताने और सूक्ष्मेक्षण का भाव प्रकट करने मे मीलित या निमीलित दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

उल्लोकित दृष्टि

उल्लोकितमिति ज्ञेयमूर्ध्वभागे विलोकनम् ॥७५॥

ऊपर की ओर दृष्टिपात करने की स्थिति को उल्लोकित दृष्टि कहते हैं।

विनियोग

ध्वजाग्रे गोपुरे देवमण्डले पूर्वजन्मनि।
औन्नत्ये चन्द्रिकादावप्युल्लोकितनिरीक्षणम् ॥७६॥

फहराती हुई ध्वजा के अग्रभाग को देखने, मीनार या गुम्बद को देखने, नक्षत्र मण्डल का अवलोकन करने, पूर्व जन्म का स्मरण करने, ऊँचाई की ओर ताकने और चाँदनी का निर्देश करने में उल्लोकित दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

अनुवृत्त दृष्टि

ऊर्ध्वाधोवीक्षणं वेगादनुवृत्तमितीरितम्।

तीव्रता से ऊपर-नीचे दृष्टिपात करने वाली दृष्टि को अनुवृत्त कहा जाता है।

विनियोग

कोपदृष्टौ प्रियामन्त्रे अनुवृत्तनिरीक्षणम् ॥७७॥

क्रोध करने और प्रिय के स्वागत-सत्कार का भाव प्रकट करने के लिए अनुवृत्त दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

अवलोकित दृष्टि

अधस्ताद्दर्शनं यत्तदवलोकितमुच्यते।

नीचे पृथ्वी की ओर दृष्टिपात करने को अवलोकित दृष्टि कहा जाता है।

विनियोग

छायालोके विचारे च चर्यायां पठनश्रमे ॥७८॥
स्वाङ्गावलोकने यानेऽप्यवलोकितमुच्यते।

छाया या प्रतिबिम्ब को देखने, चिन्तन करने, चर्चा करने, अध्ययन करने, परिश्रम करने, अपने अंगों को देखने और गमन करने के लिए अवलोकित दृष्टि का उपयोग किया जाता है।

ग्रीवा के अभिनय और उनका विनियोग

ग्रीवा के भेद

सुन्दरी च तिरश्चीना तथैव परिवर्तिता ।।७९।।
प्रकम्पिता च भावज्ञैर्ज्ञेया ग्रीवा चतुर्विधा ।

भावो के अभिज्ञ आचार्यों ने ग्रीवाभिनय के चार भेद बताये हैं, जिनके नाम हैं : १. सुन्दरी, २. तिरश्चीना, ३. परिवर्तिता और ४. प्रकम्पिता।

सुन्दरी ग्रीवा

तिर्यक् चञ्चलिता ग्रीवा सुन्दरीति निगद्यते ।।८०।।

जब ग्रीवा को इधर-उधर, दांये-बांये संचालित किया जाय, तब ग्रीवा की उस स्थिति को सुन्दरी कहा जाता है।

विनियोग

स्नेहारम्भे तथा यत्ने सम्यगर्थे च विस्तृते ।
सरसत्वानुमोदे च सा ग्रीवा सुन्दरी मता ।।८१।।

स्नेह के आरम्भ मे, गमन करने मे; सम्यक् अर्थ के प्रतिपादन मे; व्यापकता दर्शित करने मे, हर्ष एव आनन्द की स्थिति प्रकट करने मे और अनुमोदन करने मे सुन्दरी ग्रीवा का उपयोग किया जाता है।

तिरश्चीना ग्रीवा

पार्श्वयोरुर्ध्वभागे तु चलिता सर्पयानवत् ।
सा ग्रीवा तु तिरश्चीनेत्युच्यते नाट्यकोविदैः ।।८२।।

नाट्यशास्त्र के निष्णात आचार्यों का कहना है कि जब ग्रीवा को दोनों बगलो मे और ऊपर की ओर साँप के चलने के समान संचालित किया जाता है, तब उस स्थिति को तिरश्चीना ग्रीवा कहते है।

विनियोग

खड्गश्रमे सर्पगत्यां तिरश्चीना प्रयुज्यते।

तलवार चलाने का अभ्यास करने और सर्प गति के भाव प्रदर्शित करने के लिए तिरश्चीना ग्रीवा का उपयोग किया जाता है।

परिवर्तिता ग्रीवा

सव्यापसव्यचलिता ग्रीवा यत्रार्धचन्द्रवत् ॥८३॥
सा हि नाट्यकलाभिज्ञैर्विज्ञेया परिवर्तिता।

नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ आचार्यों का कहना है कि जब ग्रीवा को अर्धचन्द्र की भाँति दाहिनी ओर से बायीं ओर सचालित किया जाता है, तब उस ग्रीवाभेद को परिवर्तिता कहते हैं।

विनियोग

शृङ्गारनटने कान्तकपोलद्वयचुम्बने ॥८४॥
नाट्यतन्त्रविचारज्ञैः प्रयोज्या परिवर्तिता।

नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ आचार्यों का अभिमत है कि शृंगारिक अभिनय (लास्य नृत्य) में और प्रिय के दोनों कपोलों का चुम्बन करने में परिवर्तिता ग्रीवा का उपयोग करना चाहिए।

प्रकम्पिता ग्रीवा

पुरः पश्चात् प्रचलनात् कपोतीकण्ठकम्पवत् ॥८५॥
प्रकम्पितेति सा ग्रीवा नाट्यशास्त्रे प्रशस्यते।

जब कबूतरी के गले के कम्पन के समान ग्रीवा को आगे-पीछे सचालित किया जाता है, तब उसको प्रकम्पिता ग्रीवा कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में इस ग्रीवाभेद की प्रशसा की गयी है।

विनियोग

युष्मदस्मदिति प्रोक्ते देशीनाट्ये विशेषतः ॥८६॥
दोलायां भणिते चैव प्रयोक्तव्या प्रकम्पिता।

'तुम और मैं' का भाव प्रदर्शित करने में, विशेष रूप से लोक नृत्य का अभिनय करने में, आगे-पीछे झूला झुलाने में और सम्भोग काल में सिसकियाँ भरते समय प्रकम्पिता ग्रीवा का उपयोग किया जाता है।

हस्त मुद्राओं का अभिनय और विनियोग

हस्तमुद्राओ के भेद

अथेदानीन्तु हस्तानां लक्षणं प्रोच्यते मया ॥८७॥
असंयुताः संयुताश्च हस्तद्वेधा निरूपिता।

अब ग्रीवा भेदो के अनन्तर हस्तभेदो का निरूपण किया जाता है। हस्त दो प्रकार के होते हैं १ असयुत (एक हाथ) और २ सयुत (दोनो हाथ)।

असंयुत हस्ताभिनय और उनका विनियोग

असयुत हस्त के भेद

तत्रासंयुतहस्तानामादौ लक्षणमुच्यते ॥८८॥

उनमे पहले असयुत हस्ताभिनय का वर्णन किया जाता है।

पताकस्त्रिपताकोऽर्धपताकः कर्तरीमुखः।
मयूराख्योऽर्धचन्द्रश्च अरालः शुकतुण्डकः ॥८९॥
मुष्टिश्च शिखराख्यश्च कपित्थः कटकामुखः।
सूची चन्द्रकला पद्मकोशः सर्पशिरस्तथा ॥९०॥
मृगशीर्षः सिंहमुखः कांगुलश्चालपद्मकः।
चतुरो भ्रमरश्चैव हंसास्यो हंसपक्षकः ॥९१॥
सन्दंशो मुकुलश्चैव ताम्रचूडस्त्रिशूलकः।
इत्यसंयुतहस्तानामष्टाविंशतिरीरिता ॥९२॥

असयुत हस्त के अट्ठाईस प्रकार बताये गये हैं, जिनके नाम हैं १ पताक, २ त्रिपताक, ३ अर्धपताक, ४ कर्तरी मुख, ५ मयूर, ६ अर्धचन्द्र, ७ अराल, ८ शुकतुण्ड, ९ मुष्टि, १० शिखर, ११ कपित्थ, १२ कटकामुख, १३ सूची, १४ चन्द्रकला, १५ पद्मकोश, १६ सर्पशिर, १७ मृगशीर्ष, १८. सिंहमुख, १९ कांगुल, २० अलपद्म, २१ चतुर, २२ भ्रमर, २३ हसास्य, २४ हसपक्ष, २५ सदंश, २६. मुकुल, २७ ताम्रचूड और २८ त्रिशूल।

पताक हस्त

अङ्गुल्यः कुञ्चिताङ्गुष्ठाः संश्लिष्टाः प्रसृता यदि ।
स पताककरः प्रोक्तो नृत्यकर्मविशारदैः ॥९३॥

जब हाथ की चारों उँगलियाँ सटा कर आगे की ओर सीधे फैला दी जाय और अंगूठा हथेली की ओर मोड़ कर तर्जनी के मूल भाग को स्पर्श करता हो, तब नाट्याचार्यों के मतानुसार उसका पताक हस्त कहा जाता है।

विनियोग

नाट्यारम्भे वारिवाहे वने वस्तुनिषेधने ।
कुचस्थले निशायां च नद्याममरमण्डले ॥९४॥
तुरङ्गे खण्डने वायौ शयने गमनोद्यमे ।
प्रतापे च प्रसादे च चन्द्रिकायां घनातपे ॥९५॥
कपाटपाटने सप्तविभक्त्यर्थे तरङ्गके ।
वीथिप्रवेशभावेऽपि समत्वे चाङ्गरागके ॥९६॥
आत्मार्थे शपथे चापि तूष्णींभावनिदर्शने ।
तालपत्रे च खेटे च द्रव्यादिस्पर्शने तथा ॥९७॥
आशीर्वादक्रियायां च नृपश्रेष्ठस्य भावने ।
तत्र तत्रेति वचने सिन्धौ च सुकृतिक्रमे ॥९८॥
सम्बोधने पुरोगेऽपि खड्गरूपस्य धारणे ।
मासे संवत्सरे वर्षदिने सम्मार्जने तथा ॥९९॥
एवमर्थेषु युज्यन्ते पताकहस्तभावनाः ।

पताक हस्तमुद्रा का उपयोग अभिनय के आरम्भ में किया जाता है। इसके अतिरिक्त जिन अन्य भावों की अभिव्यक्ति के लिए उसका उपयोग किया जाता है, वे इस प्रकार हैं जल भरे मेघ के अर्थ में, वन, वस्तुनिषेध, कुच स्थल, रात्रि, नदी, देवलोक, अश्व, विभाजन, वायु, शयन, गमनोद्यम (जाने के प्रयत्न), साहस, प्रसन्नता, चाँदनी, तीव्र धूप, दरवाजा खोलने, सातों विभक्तियाँ, लहरें, मार्गगमन, समानता, अंगराग रचना, आत्म प्रकाश, शपथ ग्रहण, शांतचित्त, ताम्रपत्र, ढाल, तरल पदार्थों का स्पर्श, आशीर्वाद, आदर्श राजा की रुचि-वर्णन, 'वहाँ-वहाँ' इस प्रकार के वचन, समुद्र, पुण्य कार्यों के सम्पादन, सम्बोधन, आगे बढ़ना, तलवार धारण करना, एक मास, एक वर्ष, एक वर्ष दिन और झाड़ू देना।

त्रिपताक हस्त

स एव त्रिपताकः स्याद्वक्रितानामिकाङ्गुलिः ॥१००॥

यदि पताक हस्त मुद्रा मे अनामिका के अगले दो पोर टेढे कर के हथेली की ओर झुका दिये जांय, तो उसे त्रिपताक हस्त कहा जाता है।

विनियोग

मुकुटे वृक्षभावेषु वज्रे तद्धरवासवे।
केतकीकुसुमे दीपे वह्निज्वाला विजृम्भणे ॥१०१॥
कपोले पत्रलेखायां बाणार्थे परिवर्तने।
युज्यते त्रिपताकोऽयं कथितो भरतोत्तमैः ॥१०२॥

मुकुट, वृक्ष, वज्र, इन्द्र, केतकीपुष्प दीपक, अग्निज्वाला, जमुहाई, कपोत, पत्रलेखा (मुख या छाती की चित्र रचना), बाण और परिवर्तन (पीछे मुडने) आदि के भावो को व्यक्त करने के लिए त्रिपताक हस्त का उपयोग किया जाता है।

अर्धपताक हस्त

त्रिपताके कनिष्ठा चेद् वक्रिताऽर्धपताकिका।

यदि त्रिपताक हस्त मुद्रा मे कनिष्ठिका को भी टेढी करके झुका दिया जाय, तो वह हस्तमुद्रा अर्ध-पताक कही जाती है।

विनियोग

पल्लवे फलके तीरे उभयोरिति वाचके ॥१०३॥
क्रकचे छुरिकायां च ध्वजे गोपुरश्रृङ्गयोः।
युज्यतेऽर्धपताकोऽयं तत्तत्कर्मप्रयोगके ॥१०४॥

पल्लव, चित्र फलक या लेखन आधार (पैंड), नदी तट, 'दोनो' ऐसे कथन के लिए, आरा, छुरी, मीनार (गोपुर) और शिखर आदि का भाव व्यक्त करने के लिए अर्धपताक हस्त का उपयोग किया जाता है।

कर्तरीमुख हस्त

अस्यैव चापि हस्तस्य तर्जनी च कनिष्ठिका।
बहिः प्रसारिते द्वे च स करः कर्तरीमुखः ॥१०५॥

यदि अर्धपताक हस्तमुद्रा मे तर्जनी और कनिष्ठा उंगलियो को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाय,

तो उस मुद्रा को कर्तरीमुख हस्त कहा जाता है। (इस हस्त मुद्रा में भी मध्यमा और अनामिका उँगलियाँ हस्ततल की ओर झुकी रहती हैं; किन्तु वे अर्धपताक हस्त की भाँति अग्रभाग में ईषत् मुड़ी न हो कर सीधे तनी रहती हैं)।

विनियोग

स्त्रीपुंसयोस्तु विश्लेषे विपर्यासपदेऽपि वा।
लुण्ठने नयनान्ते च मरणे भेदभावने॥१०६॥
विद्युदर्थेऽप्येकशय्याविरहे पतने तथा।
लतायां युज्यते यस्तु स करः कर्तरीमुखः॥१०७॥

स्त्री-पुरुष के वियोग या विवाद, परिवर्तन या प्रतिकूलता, लूट-खसोट, नयनकोर, मृत्यु, भेदभाव, बिजली की चमक, विरहावस्था में अकेले शयन करना, गिरना और लता आदि के भावों को व्यंजित करने के लिए कर्तरीमुख हस्त का उपयोग किया जाता है।

मयूर हस्त

अस्मिन्ननामिकाङ्गुष्ठौ श्लिष्टौ चान्याः प्रसारिताः।
मयूरहस्तः कथितः करटीकाविचक्षणैः॥१०८॥

यदि कर्तरीमुख की अनामिका को अँगूठे से मिला कर शेष उँगलियों को सीधे बाहर की ओर फैला दिया जाय, तो उस मुद्रा को विद्वानों ने मयूर हस्त कहा है।

विनियोग

मयूरास्ये लतायां च शकुने वमने तथा।
अलकस्यापनयने ललाटतिलकेषु च॥१०९॥
नद्युदकस्य निक्षेपे शास्त्रवादे प्रसिद्धके।
एवमर्थेषु युज्यन्ते मयूरकरभावनाः॥११०॥

मयूर मुख, लता, शकुन, वमन, केशों को फैलाना, ललाट पर तिलक रचना करना, नदी जल को उछालने, शास्त्रार्थ करने और किसी प्रसिद्ध वस्तु का निर्देश करने में मयूर हस्त का उपयोग किया जाता है।

अर्धचन्द्र हस्त

अर्धचन्द्रकरः सोऽयं पताकेऽङ्गुष्ठसारणात्।

यदि पताक हस्त मुद्रा मे अंगूठे को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाय, तो उसे अर्धचन्द्र हस्त कहा जाता है।

विनियोग

चन्द्रे कृष्णाष्टमीभाजि गलहस्तार्थकेऽपि च ॥१११॥
भल्लायुधे देवतानामभिषेचनकर्मणि।
भुक्पात्रे चोद्भवे कट्यां चिन्तायामात्मवाचके ॥११२॥
ध्याने च प्रार्थने चापि अङ्गानां स्पर्शने तथा।
प्राकृतानां नमस्कारे अर्धचन्द्रो नियुज्यते ॥११३॥

कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि के चन्द्रमा, किसी के गले को हाथ से पकडने; भाले से युद्ध करने; देवता का अभिषेचन (मूर्ति प्रतिष्ठापन), भोजन के पात्र, उद्भव; कटि; चिन्ता; मनन, ध्यान; प्रार्थना, अगस्पर्श, साधारण लोगो को नमस्कार करने आदि भावो की अभिव्यक्ति के लिए अर्धचन्द्र हस्त का उपयोग किया जाता है।

अराल हस्त

पताके तर्जनी वक्रा नाम्ना सोऽयमरालकः।

यदि पताक हस्त मे तर्जनी को मोड लिया जाय तो उसे अराल हस्त कहा जाता है। (पताक हस्त मे तर्जनी और अगुष्ठ पहले ही से मुडे होते हैं)।

विनियोग

विषाद्यमृतपानेषु प्रचण्डपवनेऽपि च ॥११४॥

विष पान, अमृत पान और प्रचण्ड पवन (तूफान) के भावो को प्रदर्शित करने के लिए अराल हस्त का उपयोग किया जाता है।

शुकतुण्ड हस्त

अस्मिन्ननामिका वक्रा शुकतुण्डकरो भवेत्।

यदि अराल हस्त मुद्रा मे अनामिका को भी टेढी करके मुडा दिया जाय, तो उसे शुकतुण्ड (तोते की चोंच) हस्त कहा जाता है।

विनियोग

बाणप्रयोगे कुन्तार्थे वाऽऽलयस्य स्मृतिक्रमे ॥११५॥
मर्मोक्त्यामुग्रभावेषु शुकतुण्डो नियुज्यते ।

बाण चलाने, बर्छी-भाला मारने, अपने निवास स्थान को स्मरण करने, मार्मिक या रहस्यमय बात कहने और उग्र भाव का प्रदर्शन करने के लिए शुकतुण्ड हस्त का उपयोग किया जाता है।

मुष्टि हस्त

मेलनादङ्गुलीनाञ्च कुञ्चितानां तलान्तरे ॥११६॥
अङ्गुष्ठश्चोपरियुतो मुष्टिहस्तोऽयमीर्यते ।

यदि हाथ की चारों उँगलियों को हथेली पर मोड़ दिया जाय और उनके ऊपर अँगूठा चढ़ा कर तान दिया जाय, तो उस मुद्रा को मुष्टि हस्त कहा जाता है।

विनियोग

स्थिरे कचग्रहे दार्ढ्ये वस्त्वादीनां च धारणे ॥११७॥
मल्लानां युद्धभावेऽपि मुष्टिहस्तोऽयमिष्यते ।

स्थिरता, किसी के बाल पकड़ने, दृढ़ता, किसी वस्तु को धारण करने और मल्ल युद्ध के भावों को व्यक्त करने के लिए मुष्टि हस्त का उपयोग किया जाता है।

शिखर हस्त

चेन्मुष्टिरुन्नताङ्गुष्ठः स एव शिखरः करः ॥११८॥

यदि मुष्टि हस्त मुद्रा में अँगूठे को उँगलियों के ऊपर न मोड़ कर सीधे खड़ा कर दिया जाय, तो उस मुद्रा को शिखर हस्त कहा जाता है।

विनियोग

मदने कार्मुके स्तम्भे निश्चये पितृकर्मणि ।
ओष्ठे प्रविष्टरूपे च रदने प्रश्नभावने ॥११९॥
लिङ्गे नास्तीति वचने स्मरणेऽभिनयान्तिके ।
कटिबन्धाकर्षणे च परिरम्भविधिक्रमे ॥१२०॥
घण्टानिनादे शिखरो युज्यते भरतादिभिः ।

आचार्य भरत और उनके अनुयायियों के मत से कामातुरता धनुष, स्तम्भ, निश्चय, पितृकर्म, ओठ पर दाँत गड़ाने, शिश्न पूजन, निषधसूचक वचन कहने, स्मरण करने, अभिनयान्त सूचित करने, करधनी खींचने, आलिंगन-चुम्बन करने और घण्टा बजाने आदि का भाव व्यक्त करने के लिए शिखर हस्त का उपयोग किया जाता है।

कपित्थ हस्त

अङ्गुष्ठमूर्ध्नि शिखरे वक्रिता यदि तर्जनी ॥१२१॥
कपित्थाख्यः करःसोऽयं कीर्तितो नृत्तकोविदैः।

यदि शिखर हस्त मुद्रा में तर्जनी को अँगूठे के अग्रभाग पर अवस्थित किया जाय, तो नाट्यशास्त्रियों के अभिमत से उसे कपित्थ हस्त कहा जाता है।

विनियोग

लक्ष्म्यां चैव सरस्वत्यां नटानां तालधारणे ॥१२२॥
गोदोहनेऽप्यञ्जने च लीलाकुसुमधारणे।
चेलाञ्चलादिग्रहणे पटस्यैवावगुण्ठने ॥१२३॥
धूपदीपार्चने चापि कपित्थः संप्रयुज्यते।

लक्ष्मी, सरस्वती, नटों द्वारा झाँझ मँजीरा (ताल) धारण करने, गाय दुहने, अंजन लगाने, क्रीड़ा-कौतुक के समय पुष्प धारण करने, चोली-आँचल पकड़ने, घूँघट काढ़ने और धूप-दीपार्चन के भावों को प्रदर्शित करने के लिए कपित्थ हस्त का उपयोग किया जाता है।

कटकामुख हस्त

कपित्थे तर्जनी चोर्ध्वमुच्छ्रिताङ्गुष्ठमध्यमा ॥१२४॥
कटकामुखहस्तोऽयं कीर्तितो भरतागमैः।

यदि कपित्थ हस्त में तर्जनी और मध्यमा उठी हुई हों और अँगूठे के अग्रभाग का स्पर्श करती हों, तो आचार्य भरत की परम्परा के अनुसार उसे कटकामुख हस्त कहा जाता है।

विनियोग

कुसुमावचये मुक्तास्रग्दाम्नां धारणे तथा ॥१२५॥
शरमध्याकर्षणे च नागवल्ली प्रदानके।

कस्तूरिकादिवस्तूनां पेषणे गन्धवासने ॥१२६॥
वचने दृष्टिभावेऽपि कटकामुख इष्यते।

फूल चुनने, मोतियों या फूलों की माला धारण करने, धनुष को बीच में पकड़ कर खींचने, पान-सुपारी प्रदान करने, चन्दन-कस्तूरी आदि लेपों को पीसने, किसी वस्तु को सुगन्धित करने, बोलने और देखने के भावों को व्यक्त करने के लिए कटकामुख हस्त का उपयोग किया जाता है।

सूची हस्त

ऊर्ध्वप्रसारिता यत्र कटकामुखतर्जनी ॥१२७॥
सूचीहस्तः स विज्ञेयो भरतागमकोविदैः।

यदि कटकामुख हस्त मुद्रा में तर्जनी को सीधे फैला दिया जाय, तो आचार्य भरत की परम्परा के अभिमत से उसे सूची हस्त कहा जाता है।

विनियोग

एकार्थेऽपि परब्रह्मभावनायां शतेऽपि च ॥१२८॥
रवौ नगर्यां लोकार्थे तथेति वचनेऽपि च।
यच्छब्देऽपि तच्छब्दे विजनार्थेऽपि तर्जने ॥१२९॥
कार्श्ये शलाके वपुषि आश्चर्ये वेणिभावने।
छत्रे समर्थे पाणौ च रोमाल्यां भेरिवादने ॥१३०॥
कुलालचक्रभ्रमणे रथाङ्गमण्डले तथा।
विवेचने दिनान्ते च सूचीहस्तः प्रकीर्तितः ॥१३१॥

एकार्थबोध, परब्रह्म की भावना, शतार्थबोध, सूर्य, नगरी, संसार, 'अच्छा' यह कहना, 'जो' और 'वह' कहना, नीरवता के अर्थ में, ताडना, दुर्बलता, सलाई, शरीर, आश्चर्य, जूड़ा (वेणी), छत्र, समर्थता, दोनों हाथ, रोमावली, भेरी (नगाडा) वादन, कुम्हार का चाक चलना, पहिया चलाना, विवेचन और सन्ध्याकाल (सूर्यास्त) के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए सूची हस्त का उपयोग किया जाता है।

चन्द्रकला हस्त

सूच्यामङ्गुष्ठमोक्षे तु करश्चन्द्रकला भवेत्।

यदि सूची हस्त में अँगूठे को खोल कर तान दिया जाय, तो उसे चन्द्रकला हस्त कहा जाता है।

विनियोग

चन्द्रे मुखे च प्रादेशे तन्मात्राकारवस्तुनि ॥१३२॥
शिवस्य मुकुटे गङ्गानद्यां च लगुडेऽपि च।
एषा चन्द्रकला चैव विनियोज्या विधीयते ॥१३३॥

चन्द्रमा, मुख, बलिस्त (प्रादेश), अर्धचन्द्राकार वस्तुओं, शिव का मुकुट, गंगा नदी और छड़ी या डंडा आदि के भाव प्रदर्शित करने के लिए चन्द्रकला हस्त का उपयोग किया जाता है।

पद्मकोश हस्त

अङ्गुल्यो विरला किञ्चित् कुञ्चितास्तलनिम्नगाः।
पद्मकोशाभिधो हस्तस्तन्निरूपणमुच्यते ॥१३४॥

यदि हाथ की पाँचों उँगलियाँ अलग-अलग हों, अर्थात् एक-दूसरे को स्पर्श न करती हों, सभी को मोड़ कर झुका दिया जाय, जिससे हथेली में एक तरह से गड्ढा-सा बन गया हो—तो इस प्रकार की हस्तमुद्रा को पद्मकोश हस्त कहा जाता है।

विनियोग

फले बिल्वकपित्थादौ स्त्रीणां च कुचकुम्भयोः।
आवर्ते कन्दुके स्थाल्यां भोजने पुष्पकोरके ॥१३५॥
सहकारफले पुष्पवर्षे मञ्जरिकादिषु।
जपाकुसुमभावे च घण्टारूपे विधानके ॥१३६॥
वल्मीके कमलेऽप्यण्डे पद्मकोशो विधीयते।

बेल और कैथा आदि फलों, स्त्रियों के दोनों गोल स्तन, भँवर या घुमाव, गेंद, पतीली, भोजन, पुष्प-कली, आम, पुष्पस्तवक (फूलों का गुच्छा), मंजरी, जावा (गुड़हल), कुसुम, घंटा, बाँबी (वल्मीक), कमल और अण्डे आदि का भाव प्रदर्शित करने के लिए पद्मकोश हस्त का उपयोग किया जाता है।

सर्पशीर्ष हस्त

पताका नमिताग्रा चेत् सर्पशीर्षकरो भवेत् ॥१३७॥

यदि पताक हस्त में उँगलियों को मिला कर अग्रभाग से कुछ झुका दिया जाय तो उसे सर्पशीर्ष हस्त (साँप का फन) कहा जाता है।

विनियोग

चन्दने भुजगे मन्द्रे प्रोक्षणे पोषणादिषु।
देवस्योदकदानेषु आस्फाले गजकुम्भयोः ॥१३८॥
भुजस्थाने तु मल्लानां युज्यते सर्पशीर्षकः।

चन्दन, सर्प, मन्द स्वर, जल छिड़कने, पोषण करने, देवताओं को तर्पण में जल देने, हाथी के कुम्भ स्थलों का संचालन और पहलवानों की भुजाओं का भाव व्यंजित करने के लिए सर्पशीर्ष हस्त का उपयोग किया जाता है।

मृगशीर्ष हस्त

अस्मिन् कनिष्ठिकाङ्गुष्ठे प्रसृते मृगशीर्षकः ॥१३९॥

यदि सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठिका और अँगूठे को तान कर सीधे फैला दिया जाय, तो उसे मृगशीर्ष हस्त कहा जाता है।

विनियोग

स्त्रीणामर्थे कपोले च चक्रमर्यादयोरपि।
भीत्यां विवादे नेपथ्ये आह्वाने च त्रिपुण्ड्रके ॥१४०॥
मृगमुखे रङ्गमल्लयां पादसंवाहने तथा।
सर्वस्वे मिलने काममन्दिरे छत्रधारणे ॥१४१॥
सञ्चारे च प्रियाह्वाने युज्यते मृगशीर्षकः।

स्त्रियों के कपोल चक्र, सीमा (मर्यादा), भय, कलह, नेपथ्य, आह्वान, त्रिपुण्ड, मृगमुख, वीणा, पाद-संवाहन (पैरों की चम्पी), सम्पूर्ण धनापहरण, मिलन, योनि, छत्र धारण, संचरण और प्रिय को बुलाने के अर्थ में मृगशीर्ष हस्त का उपयोग किया जाता है।

सिंहमुख हस्त

मध्यमानामिकाग्राभ्यामङ्गुष्ठो मिश्रितो यदि ॥१४२॥
शेषौ प्रसारितौ यत्र स सिंहास्यकरो भवेत्।

यदि मध्यमा और अनामिका दोनों उँगलियों के अग्रभाग को अँगूठे के अग्रभाग से मिला दिया जाय और शेष दोनों उँगलियों (तर्जनी तथा कनिष्ठिका) को सीधे तान कर फैला दिया जाय, तो उस मुद्रा को सिंहमुख हस्त कहा जाता है।

विनियोग

होमे शशे गजे दर्भचलने पद्मदामनि ॥१४३॥
सिंहानने वैद्यपाके शोधने संप्रयुज्यते ।

हवन कार्य, खरगोश, हाथी, लहराते कुशदल, कमल की माला, सिंहमुख, वैद्य द्वारा तैयार किया गया पाक और उसके शोधन आदि का भाव व्यक्त करने के लिए सिंहमुख हस्त का उपयोग किया जाता है।

कांगुल हस्त

पद्मकोशेऽनामिका चेन्नम्रा काङ्गूलहस्तकः ॥१४४॥

यदि पद्मकोश हस्त में अनामिका उँगली को मोड़ कर झुका दिया जाय, तो उसे कांगुल हस्त कहा जाता है।

उपयोग

लकुचस्य फले बालकिङ्किण्यां घण्टिकार्थके ।
चकोरे क्रमुके बालकुचे कह्लारके तथा ॥१४५॥
चातके नालिकेरे च काङ्गूलो युज्यते करः ।

लकुच (बड़हर) फल, बच्चों की किंकिणियाँ (घुँघरू), घंटियाँ, चकोर, सुपारी के वृक्ष, बाला के स्तन, श्वेत कमल (कह्लार), चातक और नारियल आदि के भाव व्यक्त करने के लिए कांगुल हस्त का उपयोग किया जाता है।

अलपद्म हस्त

कनिष्ठाद्या वक्रिताश्च विरलाश्चालपद्मकः ॥१४६॥

यदि कनिष्ठा आदि पाँचों उँगलियों को किंचित् टेढ़ी कर दिया जाय और वे परस्पर अलग रहें, तो उस मुद्रा को अलपद्म हस्त कहा जाता है।

विनियोग

विकचाब्जे कपित्थादिफले चावर्तके कुचे ।
विरहे मुकुरे पूर्णचन्द्रे सौन्दर्यभावने ॥१४७॥
धम्मिल्ले चन्द्रशालायां ग्रामे चोद्धृतकोपयोः ।
तटाके शकटे चक्रवाके कलकलारवे ॥१४८॥
श्लाघने सोऽलपद्मश्च कीर्तितो भरतागमे ।

विकसित कमल, कैथा आदि फल, भ्रमराकार या चक्राकार वस्तु स्तन, विरह दर्पण, पूर्णचन्द्र, सौन्दर्य, कुसुमाचित वेणिबन्ध, चाँदनी या छत के ऊपर का कमरा, गाँव, ऊँचाई, क्रोध, सरोवर, गाड़ी, चक्रवाक, कल-कल ध्वनि और कीर्ति आदि भावों को प्रदर्शित करने के लिए अलपद्म हस्त का उपयोग किया जाता है।

चतुर हस्त

तर्जन्याद्यास्तत्र शिलष्टाः कनिष्ठा प्रसृता यदि ॥१४९॥
अङ्गुष्ठोऽनामिकामूले तिर्यक् चेच्चतुरः करः।

यदि तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका आदि तीनों उँगलियाँ कनिष्ठा की ओर टेढ़ी होकर झुकी और कनिष्ठा से मिली हों, कनिष्ठा सीधे फैली हुई हो और अँगूठा टेढ़ा होकर अनामिका के मूल भाग को स्पर्श करता हो, तो उस मुद्रा को चतुर हस्त कहा जाता है।

विनियोग

कस्तूर्यां किञ्चिदर्थे च स्वर्णे ताम्रे च लोहके ॥१५०॥
आर्द्रे खेदे रसास्वादे लोचने वर्णभेदने।
प्रमाणे सरसे मन्दगमने शकलीकृते ॥१५१॥
आनने घृततैलादौ युज्यते चतुरः करः।

कस्तूरी, अल्पार्थ, स्वर्ण, ताम्र, लोहा, गीलापन, दुःख, रसास्वादन (कलाभिरुचि), नेत्र, वर्णभेद, प्रमाण, माधुर्य, मन्दगति, खण्ड-खण्ड करना, मुख, घृत और तेल आदि के भावों को व्यक्त करने के लिए चतुर हस्त का उपयोग किया जाता है।

भ्रमर हस्त

मध्यमाङ्गुष्ठसंयोगे तर्जनी वक्रिताकृतिः ॥१५२॥
शेषाः प्रसारितार्चासौ भ्रमराभिधहस्तकः।

यदि मध्यमा और अंगुष्ठ परस्पर मिले हुए हों तथा तर्जनी वृत्ताकार रूप में मुड़कर अंगुष्ठ के मूल भाग को स्पर्श करती हो और शेष दोनों उँगलियाँ (अनामिका तथा कनिष्ठा) सीधे फैली हों तो उस हस्तमुद्रा को भ्रमर हस्त कहा जाता है।

विनियोग

भ्रमरे च शुके पक्षे सारसे कोकिलादिषु ॥१५३॥
भ्रमराख्यश्च हस्तोऽयं कीर्तितो भरतागमे।

भ्रमर, शुक (तोता), पखना (पक्ष), सारस, कोयल और इसी प्रकार के अन्य पक्षियों के भाव अभिव्यजित करने के लिए भ्रमर हस्त का उपयोग किया जाता है।

हंसास्य हस्त

मध्यमाद्यास्त्रयोऽङ्गुल्यः प्रसृता विरला यदि ।।१५४।।
तर्जन्यङ्गुष्ठसंश्लेषात् करो हंसास्यको भवेत् ।

यदि अगुष्ठ और तर्जनी, दोनो परस्पर मिले हो और मध्यमा आदि तीनो उँगलियाँ अलग-अलग हथेली की ओर ईषत् मुडी होकर फैली हो, तो उस मुद्रा को हंसास्य हस्त कहा जाता है।

विनियोग

माङ्गल्ये सूत्रबन्धे च उपदेशविनिश्चये ।।१५५।।
रोमाञ्चे मौक्तिकादौ च दीपवर्तिप्रसारणे।
निकषे मल्लिकादौ च चित्रे तल्लेखने तथा ।।१५६।।
दंशे च जलबन्धे च हंसास्यो युज्यते करः।

मागलिक कार्य, मगलसूत्र या डोरी बाँधने, उपदेश, विवाद-निश्चय, रोमाच, मोती की माला आदि, दीपक की बत्ती आगे बढाने, कसौटी, चमेली, चित्र, चित्ररचना, दशन और जलबध (बाँध) आदि के भाव प्रदर्शित करने के लिए हंसास्य हस्त का उपयोग किया जाता है।

हसपक्ष हस्त

सर्पशीर्षकरे सम्यक् कनिष्ठा प्रसृता यदि ।।१५७।।
हंसपक्षः करः सोऽयं तन्निरूपणमुच्यते।

यदि सर्पशीर्ष हस्त मे कनिष्ठा उँगली को फैला दिया जाय, तो उसे हंसपक्ष हस्त कहा जाता है।

विनियोग

षट्संख्यायां सेतुबन्धे नखरेखाङ्कणे तथा ।।१५८।।
पिधाने हंसपक्षोऽयं कथितो भरतागमे।

भरत नाट्यशास्त्र के निर्देशानुसार छ की सख्या, सेतुबन्ध (पुल बनाने), नाखूनो द्वारा रेखा खीचने और ढकने या आच्छादन करने के आशय मे हंसपक्ष हस्त का उपयोग किया जाता है।

सन्दश हस्त

पुनः पुनः पद्मकोशः संश्लिष्टो विरलो यदि ।।१५९।।
सन्दंशाभिधहस्तोऽयं कीर्तितो नृत्यकोविदैः ।

यदि पद्मकोश मुद्रा मे उँगलियाँ बार-बार सटाई तथा हटाई जांय, तो नृत्यकोविदो के अनुसार उसे सन्दश हस्त (सडासी) कहा जाता है।

विनियोग

उदरे बलिदाने च व्रणे कीटे महाभये ।।१६०।।
अर्चने पञ्चसंख्यायां सन्दंशाख्यो नियुज्यते ।

उदर, बलिदान (देवी-देवताओ को उपहार अर्पित करने), घाव, कीट, महाभय पूजा और पाँच की सख्या व्यक्त करने के लिए सन्दंश हस्त का उपयोग किया जाता है।

मुकुल हस्त

अङ्गुलीपञ्चकं चैव मेलयित्वा प्रदर्शने ।।१६१।।
मुकुलाभिधहस्तोऽयं कीर्त्यते भरतागमे ।

यदि (पद्मकोश हस्त मे) पाँचो उँगलियाँ एक साथ मिला कर प्रदर्शित की जांय, तो भरत नाट्यशास्त्र के निर्देशानुसार उसे मुकुल हस्त कहा जाता है।

विनियोग

कुमुदे भोजने पञ्चबाणे मुद्रादिधारणे ।।१६२।।
नाभौ च कदलीपुष्पे युज्यते मुकुलः करः ।

कुई, भोजन, कामदेव, मुद्राधारण, नाभि और कदली पुष्प (गोफे) का भाव व्यक्त करने के लिए मुकुल हस्त का उपयोग किया जाता है।

ताम्रचूड हस्त

मुकुले ताम्रचूडः स्यात्तर्जनी वक्रिता यदि ।।१६३।।

यदि मुकुल हस्त मे तर्जनी को मोड दिया जाय (किन्तु वह हथेली को स्पर्श न करती हो), तो उसे ताम्रचूड हस्त कहा जाता है।

विनियोग

कुक्कुटादौ वके काके उष्ट्रे वत्से च लेखने।
युज्यते ताम्रचूडाख्यः करो भरतवेदिभिः ॥१६४॥

मुर्गा, बगुला, कौआ, ऊँट, बछड़ा और लेखनी का भाव व्यक्त करने के लिए ताम्रचूड हस्त का उपयोग किया जाता है।

त्रिशूल हस्त

निकुञ्चनयुताङ्गुष्ठकनिष्ठस्तु त्रिशूलकः।

यदि कनिष्ठा और अँगूठे को झुका कर मिला दिया जाय (और शेष तीनों उँगलियाँ विलग होकर सीधी फैली रहें), तो उस मुद्रा को त्रिशूल हस्त कहा जाता है।

विनियोग

विल्वपत्रे त्रित्वयुक्ते त्रिशूलकर ईरितः ॥१६५॥

तीन पत्तों वाले बेलपत्र का भाव प्रकट करने के लिए त्रिशूल हस्त का उपयोग किया जाता है।

व्याघ्र हस्त

कनिष्ठाङ्गुष्ठनमने मृगशीर्षकरे तथा।
व्याघ्रहस्तः स विज्ञेयो भरतागमकोविदैः ॥१६६॥

भरत नाट्यशास्त्र के विशेषज्ञ आचार्यों का कहना है कि यदि मृगशीर्ष हस्त में कनिष्ठा और अँगूठे को (शेष तीनों मुड़ी हुई उँगलियों की अपेक्षा अधिक) झुका दिया जाय, तो उसे व्याघ्र हस्त कहा जाता है।

विनियोग

व्याघ्रे भेके मर्कटे च शुक्तौ संयुज्यते करः।

व्याघ्र, मेढक, बन्दर और सीपी (शुक्ति) का निर्देश करने के लिए व्याघ्र हस्त का उपयोग किया जाता है।

अर्धसूची हस्त

कपित्थे तर्जनी ऊर्ध्वसारणे त्वर्धसूचिकः ॥१६७॥

यदि कपित्थ हस्त में तर्जनी को ऊपर की ओर सीधे फैला दिया जाय, तो उसे अर्धसूची हस्त कहा जाता है।

विनियोग

अङ्कुरे पक्षिशावादौ वृहत्कीटे नियुज्यते।

बीज के अकुर, चिडियो के बच्चो (चूजो) और बडे-बडे कीडे-मकोडो को व्यक्त करने के लिए अर्धसूची हस्त का उपयोग किया जाता है।

कटक हस्त

सन्दंशेऽप्यूर्ध्वभागे तु मध्यमानामिकान्वया ।।१६८।।
... ... कटको हस्त उच्यते।

यदि सन्दश हस्त मे मध्यमा और अनामिका को अग्रभाग मे अँगूठे के साथ मिला दिया जाय, तो उसे कटक हस्त कहा जाता है। (इस मुद्रा मे मध्यमा और अनामिका दोनो जुडी तथा ईषत् झुकाव के साथ खडी होती है और तर्जनी, कनिष्ठा दोनो मुडी होकर अँगूठे के अग्रभाग से जुडी हुई होती हैं)।

विनियोग

एतस्य विनियोगस्तु ... ... दर्शने ।।१६९।।
आह्वानभावचलने ... ... ।

देखने, बुलाने और चलने आदि क्रियाओ के लिए कटक हस्त का उपयोग किया जाता है।

पल्ली हस्त

मयूरे तर्जनीपृष्ठो मध्यमेन युतो यदि ।।१७०।।
पल्लिहस्तः स विज्ञेयः

यदि मयूर हस्त मे मध्यमा को तर्जनी के पीछे मोड कर अग्रभाग से जोड दिया जाय, तो उसे पल्ली हस्त कहा जाता है।

विनियोग

पल्लयर्थे विनियुज्यते।

गाँव, बस्ती, कुटी, झोपडी आदि का भाव प्रदर्शित करने के लिए पल्ली हस्त का उपयोग किया जाता है।

अभिनयवशादेषां संयुतत्वं प्रकीर्तितम् ।।१७१।।
मार्गप्रदर्शनं तेषां क्रमाल्लक्ष्यानुसारतः।

अभिनय की उक्त असयुत हस्त मुद्राओ को आवश्यकतानुसार आगे क्रमश सयुत हस्त मुद्राओं के रूप मे वर्णित किया जा रहा है और साथ ही उनके लक्षण विनियोगो का निरूपण किया जा रहा है।

संयुत हस्ताभिनय और उनका विनियोग

संयुत हस्त के भेद

अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥१७२॥
डोलाहस्तः पुष्पपुट उत्सङ्गः शिवलिङ्गकः।
कटकावर्धनश्चैव कर्तरीस्वस्तिकस्तथा ॥१७३॥
शकटं शङ्खचक्रे च सम्पुटः पाशकीलकौ।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च गरुडो नागबन्धकः ॥१७४॥
खट्वा भेरुण्ड इत्येते संख्याता संयुताः कराः।
त्रयोविंशतिरित्युक्ताः पूर्वगैर्भरतादिभिः ॥१७५॥

आचार्य भरत और नाट्यशास्त्र के अन्य पूर्वाचार्यों के मतानुसार आचार्य नन्दिकेश्वर ने संयुत हस्त मुद्राओं के तेईस भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है १. अजलि, २ कपोत, ३. कर्कट, ४ स्वस्तिक, ५. डोला, ६. पुष्पपुट, ७. उत्सग, ८. शिवलिंग, ९. कटकावर्धन, १० कर्तरी स्वस्तिक, ११ शकट, १२ शंख, १३ चक्र, १४. सम्पुट, १५ पाश, १६ कीलक, १७ मत्स्य, १८. कूर्म, १९ वराह, २० गरुड, २१ नागबन्ध, २२. खट्वा और २३ भेरुण्ड।

अंजलि हस्त

पताकातलयोर्योगादञ्जलिः कर ईरितः।

पताक हस्त मुद्रा बना कर दोनो हथेलियो को यदि परस्पर जोड दिया जाय, तो उसे अंजलि हस्त कहा जाता है।

विनियोग

देवतागुरुविप्राणां नमस्कारेष्वनुक्रमात् ॥१७६॥
कार्यः शिरोमुखोरस्यो विनियोगेऽञ्जलिर्बुधैः।

देवता, गुरु और ब्राह्मण को नमस्कार करते समय अंजलि हस्त का उपयोग किया जाता है। नाट्यशास्त्रियों का निर्देश है कि देवता को नमस्कार करते समय अजलि को सिर पर, गुरु को नमस्कार करते समय अजलि को मुख पर और ब्राह्मण का नमस्कार करते समय अजलि को हृदय पर अवस्थित करना चाहिए।

कपोत हस्त

कपोतोऽसौ करो यत्र श्लिष्टाऽऽमूलाग्रपार्श्वकः ॥१७७॥

यही अजलि हस्त उस अवस्था मे कपोत हस्त कहा जाता है, यदि दो पताक हस्त को केवल मूल (कलाई) और अग्रभाग (उँगलियो के छोर) से सयुक्त कर दिया जाय और हथेली के बीच का हिस्सा खोखला रहे।

विनियोग

प्रणामे गुरुसम्भाषे विनयाङ्गीकृतेष्वयम्।

प्रणाम करते, गुरु से बातचीत करते समय और सविनय स्वीकृति के लिए कपोत हस्त का उपयोग किया जाता है।

कर्कट हस्त

अन्योऽन्यस्यान्तरे यत्राङ्गुल्यो निःसृत्य हस्तयोः ॥१७८॥
अन्तर्बहिर्वा वर्तन्ते कर्कटः सोऽभिधीयते।

जिस सयुक्त हस्त मे उँगलियाँ परस्पर गुँथी होकर या तो अन्दर हथेली की ओर अवस्थित हो या बाहर पीछे की ओर निकली हो—उसे कर्कट हस्त कहा जाता है।

विनियोग

समूहागमने तुन्ददर्शने शङ्खपूरणे ॥१७९॥
अङ्गानां मोटने शाखोन्नमने च नियुज्यते।

समूह के आगमन, पेट के प्रदर्शन, शख बजाने, अग तोडने और शाखा झुकाने के आशय मे कर्कट हस्त का उपयोग किया जाता है।

स्वस्तिक हस्त

पताकयोः सन्नियुक्तः करयोर्मणिबन्धयोः ॥१८०॥
संयोगेन स्वस्तिकाख्यो

जब पताक हस्त की मुद्रा मे दोनो हाथो की कलाई बाँध कर उत्तान करके रखा जाय, तो उसे स्वस्तिक हस्त कहा जाता है।

विनियोग

मकरे विनियुज्यते।

मकर (ग्राह) के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए स्वस्तिक हस्त का उपयोग किया जाता है।

डोला हस्त

पताक ऊरुदेशस्थे डोलाहस्तोऽयमिष्यते ॥१८१॥

यदि दोनो पताक हस्त को घुटनो (उरु) पर अवस्थित किया जाय, तो उसे डोला हस्त कहा जाता है।

विनियोग

नाट्यारम्भे प्रयोक्तव्य इति नाट्यविदो विदुः।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों का विधान है कि डोला हस्त का उपयोग अभिनय के प्रारम्भ में किया जाता है।

पुष्पपुट हस्त

संश्लिष्टकरयोः सर्पशीर्षः पुष्पपुटः करः ॥१८२॥

यदि सर्पशीर्ष हस्त मुद्रा में दोनो हाथों को (उँगलियाँ आकुंचित करके) मिला लिया जाय, तो उसे पुष्पपुट हस्त कहा जाता है।

विनियोग

नीराजनाविधौ वारिफलादिग्रहणेऽपि च।
सन्ध्यायामर्घ्यदाने च मन्त्रपुष्पे च युज्यते ॥१८३॥

आरती उतारने, पानी तथा फल आदि ग्रहण करने, सध्या करने, अर्घ्यदान करने और मत्र शक्ति युक्त पुष्प का भाव प्रकट करने के लिए पुष्पपुट हस्त का उपयोग किया जाता है।

उत्सग हस्त

आन्योन्यबाहुदेशस्थौ मृगशीर्षकरौ यदि।
उत्सङ्गहस्तः स ज्ञेयो भरतागमवेदिभिः ॥१८४॥

यदि मृगशीर्ष हस्त मुद्रा में दोनो हाथों को एक-दूसरे की बाहुओं के ऊपर रख दिया जाय तो उसे उत्सग हस्त कहा जाता है।

विनियोग

आलिङ्गने च लज्जायामङ्गदादिप्रदर्शने।
बालानां शिक्षणे चायमुत्सङ्गो युज्यते करः॥१८५॥

आलिगन करने, लज्जानुभव करने, भुजबन्ध (केयूर) आदि के प्रदर्शन करने और बालकों को सीख (उपदेश) देने के अर्थ मे उत्संग हस्त का उपयोग किया जाता है।

शिवलिंग हस्त

वामेऽर्धचन्द्रो विन्यस्तः शिखरः शिवलिङ्गकः।

यदि बाँये हाथ की अर्धचन्द्र हस्त मुद्रा मे दाहिने हाथ की शिखर हस्त मुद्रा को टिका दिया जाय, तो उस सयुत हस्त को शिवलिंग हस्त कहा जाता है।

विनियोग

विनियोगस्तु तस्यैव शिवलिङ्गस्य दर्शने॥१८६॥

शिवलिंग के स्वरूप को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से शिवलिंग हस्त का उपयोग किया जाता है।

कटकावर्धन हस्त

कटकामुखयोः पाण्योः स्वस्तिको मणिबन्धयोः।
कटकावर्धनाख्यः स्यादिति नाट्यविदो विदुः॥१८७॥

नाट्याचार्यों का अभिमत है कि यदि कटकामुख हस्त मुद्रा मे दोनों हाथों की कलाइयों को स्वस्तिक हस्त मुद्रा मे प्रदर्शित किया जाय, तो उसे कटकावर्धन हस्त कहा जाता है।

विनियोग

पट्टाभिषेके पूजायां विवाहादिषु युज्यते।

राज्याभिषेक, पूजा-अर्चना और विवाहादि कार्यों मे कटकावर्धन हस्त का उपयोग किया जाता है।

कर्तरीस्वस्तिक हस्त

कर्तरी स्वस्तिकाकारा कर्तरीस्वस्तिको भवेत्॥१८८॥

यदि दो कर्तरी हस्तो के सयोग से एक स्वस्तिक हस्त बनाया जाय, तो उसे कर्तरीस्वस्तिक हस्त कहा जाता है।

विनियोग

शाखासु चाद्रिशिखरे वृक्षेषु च नियुज्यते।

वृक्ष शाखाओ, पर्वत शिखरो और वृक्षो का भाव व्यक्त करने के लिए कर्तरीस्वस्तिक हस्त का उपयोग किया जाता है।

शकट हस्त

भ्रमरे मध्यमाङ्गुष्ठप्रसाराच्छकटो भवेत् ।।१८९।।

यदि भ्रमर हस्त मे मध्यमा और अगुष्ठ को फैला कर दोनो हाथो को अँगूठो से सयुत कर दिया जाय, तो उसे शकट हस्त कहा जाता है।

विनियोग

राक्षसाभिनये प्रायः शकटो विनियुज्यते।

राक्षसो का अभिनय करने मे प्राय शकट हस्त का उपयोग किया जाता है।

शख हस्त

शिखरान्तर्गताङ्गुष्ठ इतराङ्गुष्ठसङ्गतः ।।१९०।।
तर्जन्या युत आश्लिष्टः शङ्खहस्तः प्रकीर्तितः।

यदि शिखर हस्त मुद्रा के अँगूठे को दूसरे हाथ के अँगूठे से मिला दिया जाय और तर्जनी आदि चारो उँगलिया की मूठ से उसको (अँगूठे को) बाँध या लपेट लिया जाय, तो उस सयुत हस्त मुद्रा को शख हस्त कहा जाता है।

विनियोग

शङ्खादिषु प्रयोज्योऽयमित्याहुर्भरतादयः ।।१९१।।

भरत आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का कहना है कि शख या शखाकार वस्तुओ के प्रदर्शन के लिए शख हस्त का उपयोग किया जाता है।

चक्र हस्त

यत्रार्धचन्द्रौ तिर्यञ्चावन्योन्यतलसंस्पृशौ।
चक्रहस्तः स विज्ञेयः

यदि एक अर्धचन्द्र हस्त की हथेली पर दूसरे अर्धचन्द्र हस्त की हथेली को ऊपर से इस प्रकार तिरछा या आर-पार करके रखा जाय कि जिसमे दाँये हाथ का अँगूठा बाँये हाथ की भुजा की ओर हो, तो उसे चक्र हस्त कहा जाता है।

विनियोग

चक्रार्थे विनियुज्यते ।।१९२।।

चक्र या चक्राकार वस्तुओं के प्रदर्शन के लिए चक्र हस्त का उपयोग किया जाता है।

सम्पुट हस्त

कुञ्चिताङ्गुलयश्चक्रे प्रोक्तः सम्पुटहस्तकः।

यदि चक्र हस्त की फैली हुई उँगलियों को (परस्पर हथेली में गूँथ देने के उद्देश्य से) मोड़ लिया जाय, तो उसे सम्पुट हस्त कहा जाता है।

विनियोग

वस्त्वाच्छादे सम्पुटे च सम्पुटः कर ईरितः ।।१९३।।

किसी वस्तु को ढकने और पेटिका का निर्देश करने के लिए सम्पुट हस्त का उपयोग किया जाता है।

पाश हस्त

सूच्यां निकुञ्चिते श्लिष्टे तर्जन्यौ पाश ईरितः।

यदि सूची हस्त मुद्रा में दोनों हाथों की तर्जनी उँगलियों को अग्रभाग से मोड़ कर या झुका कर परस्पर मिला दिया जाय, तो उसे पाश हस्त कहा जाता है।

विनियोग

अन्योन्यकलहे पाशे शृङ्खलाया नियुज्यते ।।१९४।।

पारस्परिक कलह, जाल, सांकल या जंजीर का निर्देश करने के लिए पाश हस्त का उपयोग किया जाता है।

कीलक हस्त

कनिष्ठे कुञ्चिते श्लिष्टे मृगशीर्षस्तु कीलकः।

यदि मृगशीर्ष हस्त मुद्रा में दोनों हाथों की कनिष्ठा उँगलियों को भीतर की ओर मोड़ कर गूँथ दिया जाय, तो उस संयुत हस्त मुद्रा को कीलक हस्त कहा जाता है।

विनियोग

स्नेहे नर्मानुलापे च कीलको विनियुज्यते ।।१९५।।

स्नेह और हास परिहास के लिए कीलक हस्त का उपयोग किया जाता है।

मत्स्य हस्त

करपृष्ठोपरि न्यस्तो यत्र हस्तस्त्वधोमुखः ।
किञ्चित्प्रसारिताङ्गुष्ठकनिष्ठो मत्स्यनामकः ॥१९६॥

अधोमुख की स्थिति मे जब एक हाथ की पीठ पर दूसरे हाथ को रख दिया जाय और दोनो कनिष्ठिकाएँ तथा अँगूठे बाहर की ओर फैला दिये जांय, तो उसे मत्स्य हस्त कहा जाता है।

विनियोग

एतस्य विनियोगस्तु सम्मतो मत्स्यदर्शने ।

अभिनय मे मत्स्य की मुद्रा प्रदर्शित करने के लिए मत्स्य हस्त का उपयोग किया जाता है।

कूर्म हस्त

कुञ्चिताग्राङ्गुलिश्चक्रे त्यक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठकः ॥१९७॥
कूर्महस्तः स विज्ञेयः

यदि चक्र हस्त मुद्रा मे अँगूठा और कनिष्ठा को छोड कर शेष सभी उँगलियो को मोड कर दोनो हथेलियो को परस्पर गंथ लिया जाय, तो उसे कूर्म हस्त कहा जाता है।

विनियोग

कूर्मार्थे विनियुज्यते ।

कछुए का भाव प्रदर्शित करने के लिए कूर्म हस्त का उपयोग किया जाता है।

वराह हस्त

मृगशीर्षे त्वन्यतरे स्वोपर्येकः स्थिते यदि ॥१९८॥
कनिष्ठाङ्गुष्ठयोर्योगाद्वराहकर ईरितः ।

यदि एक मृगशीर्ष हस्त से दूसरे मृगशीर्ष हस्त को इस प्रकार ऊपर से रख दिया जाय कि एक हाथ के अँगूठे से दूसरे हाथ की कनिष्ठिका मिली हो, तो उस सयुत हस्त मुद्रा को वराह हस्त कहा जाता है।

विनियोग

एतस्य विनियोगः स्याद्वराहार्थप्रदर्शने ॥१९९॥

वराह (सुअर) का प्रदर्शन करने के लिए वराह हस्त का उपयोग किया जाता है।

गरुड हस्त

तिर्यक्तलस्थितावर्धचन्द्रावङ्गुष्ठयोगतः ।
गरुडहस्त इत्याहुः

यदि दो अर्धचन्द्र हस्त को उत्तान दशा मे इस प्रकार भुजबन्ध मे टिका कर परस्पर तिरछा फैला दिया जाय कि जिससे दानो अँगूठे आपस मे गुँथ हो, तो उसे गरुड हस्त कहा जाता है।

विनियोग

गरुडार्थे नियुज्यते ॥२००॥

गरुड का निर्देश करने के लिए गरुड हस्त का उपयोग किया जाता है।

नागबन्ध हस्त

सर्पशीर्षस्वस्तिकञ्च नागबन्ध इतीरितः ।

यदि सर्प शीर्ष हस्त और स्वस्तिक हस्त को मिला दिया जाय अर्थात् (भुजबन्ध मे) एक-दूसरे पर रख दिया जाय, तो उसे नागबन्ध हस्त कहते हैं।

विनियोग

एतस्य विनियोगस्तु नागबन्धे हि सम्मतः ॥२०१॥

नागबन्ध या नागफाँस के प्रदर्शन के लिए नागबन्ध हस्त का उपयोग किया जाता है।

खट्वा हस्त

चतुरे चतुरं न्यस्य तर्जन्यङ्गुष्ठमोक्षतः ।
खट्वाहस्तो भवेदेषः

यदि एक चतुर हस्त को दूसरे चतुर हस्त पर (आमने-सामने) रख दिया जाय और दोनो की तर्जनी तथा अँगूठा खोल दिये जाँय (और दोनों हाथो की मध्यमा तथा अनामिका उँगलियाँ मुडी होकर एक-दूसरी के सामने अवस्थित हो), तो उसे खट्वा हस्त कहा जाता है।

विनियोग

खट्वाशिविकयोः स्मृतः ॥२०२॥

चारपाई तथा पालकी को प्रदर्शित करने के लिए खट्वा हस्त का उपयोग किया जाता है।

भेरुण्ड हस्त

मणिबन्धे कपित्थाभ्यां भेरुण्डकर इष्यते।

यदि दो कपित्थ हस्त मुद्राओं की कलाइयों को आपस मे मिला दिया जाय, तो उसे भेरुण्ड हस्त कहा जाता है।

विनियोग

भेरुण्डे पक्षिदम्पत्योर्भेरुण्डो युज्यते करः ॥२०३॥

भेरण्ड (भरुही) पक्षी और पक्षि-युगल का प्रदर्शन करने के लिए भेरुण्ड हस्त का उपयोग किया जाता है।

देवताओं के लिए हस्त मुद्राएँ

अथात्र ब्रह्मरुद्रादिदेवताभिनयक्रमात्।
मूर्तिभेदेन ये हस्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥२०४॥

अभिनय की पूर्वोक्त हस्तमुद्राओ का निरूपण करने के उपरान्त अब ब्रह्मा, शकर आदि (अर्थात् विष्णु, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी, गणेश, कार्तिकेय, मन्मथ, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु और कुबेर) देवी-देवताओ की विभिन्न मूर्तियो के लिए जिन हस्तमुद्राओ का उपयोग एव प्रदर्शन किया जाता है, उनका क्रमश वर्णन किया जाता है।

ब्रह्म हस्त

ब्रह्मणश्चतुरो वामे हंसास्यो दक्षिणे करः।

ब्रह्मा का बाँया हाथ चतुर हस्त मुद्रा मे और दाहिना हाथ हसास्य हस्त मुद्रा मे अवस्थित रहता है। अत ब्रह्मा की मूर्ति का भाव प्रदर्शन करने के लिए बाँये हाथ से चतुर मुद्रा और दाहिने हाथ से हसास्य मुद्रा धारण करनी चाहिए।

ईश्वर हस्त (शंकर हस्त)

शम्भोर्वामे मृगशीर्षस्त्रिपताकस्तु दक्षिणे ॥२०५॥

भगवान् शकर का बाँया हाथ मृगशीर्ष हस्त मुद्रा मे और दाहिना हाथ त्रिपताक हस्त मुद्रा मे वर्तमान रहता है। अत उनकी प्रतिमा का भाव प्रदर्शन करने के लिए बाँये हाथ मे मृगशीर्ष और दाहिने हाथ से त्रिपताक मुद्रा धारण करनी चाहिए।

विष्णु हस्त

हस्ताभ्यां त्रिपताकस्तु विष्णुहस्तः स कीर्तितः।

भगवान् विष्णु के दोनों हाथ त्रिपताक मुद्रा में अवस्थित रहते हैं। अत उनकी मूर्ति का भाव प्रकट करने के लिए दोनों हाथों से त्रिपताक मुद्रा बनानी चाहिए।

सरस्वती हस्त

सूचीकृते दक्षिणे च वामे चांससमकृतौ ॥२०६॥
कपित्थकेऽपि भारत्याः कर स्यादिति सम्मतः।

भगवती सरस्वती का दाहिना हाथ सूची हस्त मुद्रा में और बाँया हाथ कपित्थ मुद्रा में कन्धे की बराबरी में अवस्थित रहता है। अत उनकी मूर्ति का भाव प्रदर्शित करने के लिए दाहिना हाथ सूची मुद्रा में और बाँया हाथ कंधभाग के समानान्तर कपित्थ मुद्रा में होना चाहिए।

पार्वती हस्त

ऊर्ध्वाधः प्रसृतावर्धचन्द्राख्यौ वामदक्षिणौ ॥२०७॥
अभयो वरदश्चैव पार्वत्या कर ईरितः।

भगवती पार्वती के दाहिने और बाँये, दोनों हाथ अर्धचन्द्र मुद्रा धारण किये रहते हैं, किन्तु बाँया हाथ ऊपर और दाहिना हाथ नीचे की ओर रहता है और उन दोनों में अभयदान तथा वरदान देने का भाव वर्तमान होता है। अत पार्वती हस्त के लिए दोनों हाथों को इसी स्थिति में रखना चाहिए।

लक्ष्मी हस्त

अंसोपकण्ठे हस्ताभ्यां कपित्थस्तु श्रियः करः ॥२०८॥

भगवती महालक्ष्मी दोनों हाथों को कपित्थ हस्त मुद्रा में कन्धों के समीप अवस्थित रखती हैं। अत लक्ष्मी हस्त के लिए दोनों हाथों को दोनों स्कन्ध प्रदेशों में कपित्थ मुद्रा में अवस्थित रखना चाहिए।

विनायक हस्त (गणेश हस्त)

उरोगताभ्यां हस्ताभ्यां कपित्थो विघ्नराट् करः।

विनायक (गणेश) दोनों हाथ कपित्थ हस्त मुद्रा में वक्षस्थल पर धारण करते हैं। अत विनायक की मूर्ति का भाव दर्शित करने के लिए दोनों हाथों को कपित्थ मुद्रा में हृदय पर धारण करना चाहिए।

षण्मुख हस्त (कार्तिकेय हस्त)

वामे करे त्रिशूलञ्च शिखरो दक्षिणे करे।।२०९।।
ऊर्ध्वं गते षण्मुखस्य हस्तः स्यादिति कीर्तितः।

षण्मुख (कार्तिकेय) का बाँया हाथ त्रिशूल मुद्रा में और दाहिना हाथ शिखर मुद्रा में ऊपर की ओर अवस्थित होता है। अत उनकी मूर्ति का भाव प्रदर्शित करने के लिए बाँये हाथ को त्रिशूल मुद्रा में और दाहिने हाथ को शिखर मुद्रा में कुछ ऊपर उठाये रखना चाहिए।

मन्मथ हस्त

वामे करे तु शिखरो दक्षिणे कटकामुखः।।२१०।।
मन्मथस्य करः प्रोक्तो नाट्यशास्त्रार्थकोविदैः।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों के कथनानुसार मन्मथ (कामदेव) का बाँया हाथ शिखर मुद्रा में और दाहिना हाथ कटकामुख मुद्रा में अवस्थित रहता है। अत उनकी मूर्ति का भाव व्यक्त करने के लिए बाँया हाथ शिखर मुद्रा में और दाहिना हाथ कटकामुख मुद्रा में अवस्थित होना चाहिए।

इन्द्र हस्त

त्रिपताकः स्वस्तिकश्च शक्रहस्तः प्रकीर्तितः।।२११।।

देवाधिदेव इन्द्र का एक हाथ त्रिपताक मुद्रा में और दूसरा हाथ स्वस्तिक मुद्रा में अवस्थित होता है। अत उनके भाव को व्यक्त करने के लिए एक हाथ को त्रिपताक मुद्रा में और दूसरे हाथ को स्वस्तिक मुद्रा में वर्तमान रखना चाहिए।

अग्नि हस्त

त्रिपताको दक्षिणे तु वामे काङ्गुलहस्तकः।
अग्निहस्तः स विज्ञेयो नाट्यशास्त्रविशारदैः।।२१२।।

नाट्यशास्त्र के आचार्यों के निर्देशानुसार अग्निदेव का दाहिना हाथ त्रिपताक और बाँया हाथ कांगुल मुद्रा में अवस्थित रहता है। अत अग्निदेव की प्रतिमा का भाव प्रदर्शित करने के लिए दाहिने हाथ को त्रिपताक और बाँये हाथ को कांगुल मुद्रा में रखना चाहिए।

यम हस्त

वामे पाशं दक्षिणे तु सूची यमकरः स्मृतः।

यमदेव का बांया हाथ पाश मुद्रा में और दाहिना हाथ सूची मुद्रा में अवस्थित रहता है। अत उनकी प्रतिमा का भाव प्रदर्शित करने के लिए बांये हाथ को पाश और दाहिने हाथ को सूची अवस्था में रखना चाहिये।

निर्ऋति हस्त

खट्वा च शकटश्चैव कीर्तितो निर्ऋतेः करः॥२१३॥

निर्ऋति (नैऋत कोण की देवी) का एक हाथ खट्वा और दूसरा हाथ शकट मुद्रा में अवस्थित रहता है। अत उनकी प्रतिमा का भाव प्रदर्शित करने के लिए एक हाथ को खट्वा और दूसरे हाथ को शकट मुद्रा में रखना चाहिए।

वरुण हस्त

पताको दक्षिणे वामे शिखरो वारुणः करः।

वरुणदेव का दाहिना हाथ पताक मुद्रा और बांया हाथ शिखर मुद्रा में अवस्थित रहता है। अत उनकी प्रतिमा का भाव प्रदर्शित करने के लिए दाहिने हाथ को पताक मुद्रा में और बायें हाथ को शिखर मुद्रा में रखना चाहिए।

वायु हस्त

अरालो दक्षिणे हस्ते वामे चार्धपताकिका॥२१४॥
धृता चेद्वायुदेवस्य कर इत्यभिधीयते।

वायुदेव का दाहिना हाथ अराल मुद्रा में और बांया हाथ अर्धपताक मुद्रा में अवस्थित रहता है। अत उनकी प्रतिमा का भाव प्रदर्शित करने के लिए दाहिने हाथ को अराल मुद्रा में और बायें हाथ को अर्धपताक मुद्रा म रखना चाहिए।

कुबेर हस्त

वामे पद्मं दक्षिणे तु गदा यक्षपतेः करः॥२१५॥

कुबेरदेव अपने बांये हाथ में पद्म (कमल) और दाहिने हाथ में गदा धारण करते हैं। अत उनकी प्रतिमा का भाव प्रदर्शित करने के लिए बांये हाथ को पद्माकार और दाहिने हाथ को गदाकार में रखना चाहिए।

दशावतार हस्त मुद्राएँ

मत्स्यावतार हस्त

मत्स्यहस्तं दर्शयित्वा ततः स्कन्धसमौ करौ।
धृतौ मत्स्यावतारस्य हस्त इत्यभिधीयते ॥२१६॥

यदि दोनों हाथों से मत्स्य हस्त मुद्रा बनाकर उन्हें दोनों कन्धों की ऊँचाई के समानान्तर में अवस्थित किया जाय, तो उसे मत्स्यावतार हस्त कहा जाता है।

कूर्मावतार हस्त

कूर्महस्तं दर्शयित्वा ततः स्कन्धसमौ करौ।
धृतौ कूर्मावतारस्य हस्त इत्यभिधीयते ॥२१७॥

यदि दोनों हाथों में कूर्महस्त मुद्रा बनाकर उन्हें स्कन्ध प्रदेश की ऊँचाई के समानान्तर में अवस्थित किया जाय, तो उसे कूर्मावतार हस्त कहा जाता है।

वराहावतार हस्त

दर्शयित्वा वराहं तु कटिपार्श्वसमौ करौ।
धृतौ वराहावतारस्य देवस्य कर इष्यते ॥२१८॥

यदि दोनों हाथों में वराह हस्त मुद्रा बना कर उन्हें कटि के दोनों पार्श्वों के समानान्तर धारण किया जाय तो उसे वराहावतार हस्त कहा जाता है।

नृसिंहावतार हस्त

वामे सिंहमुखं धृत्वा दक्षिणे त्रिपताकिकाम्।
नरसिंहावतारस्य हस्त इत्युच्यते बुधैः ॥२१९॥

यदि बाँये हाथ में सिंहमुख हस्त मुद्रा और दाहिने हाथ में त्रिपताक हस्त मुद्रा धारण की जाय तो नाट्याचार्यों के मत में उसको नृसिंहावतार हस्त कहा जाता है।

वामनावतार हस्त

ऊर्ध्वाधो धृतमुष्टिभ्यां सव्यान्याभ्यां यदि स्थितः।
स वामनावतारस्य हस्त इत्यभिधीयते ॥२२०॥

यदि दोनों हाथों में मुष्टि हस्त मुद्रा धारण कर उन्हें एक दूसरे के ऊपर अवस्थित किया जाय, तो उसे वामनावतार हस्त कहा जाता है।

परशुरामावतार हस्त

वामं कटितटे न्यस्य दक्षिणेऽर्धपताकिका।
धृतौ परशुरामस्य हस्त इत्यभिधीयते ॥२२१॥

यदि बांये हाथ को कटि भाग पर और दाहिने हाथ को अर्धपताक मुद्रा में अवस्थित किया जाय, तो उसे परशुरामावतार हस्त कहा जाता है।

रामचन्द्रावतार हस्त

कपित्थो दक्षिणे हस्ते वामे तु शिखरः करः।
ऊर्ध्वं धृतो रामचन्द्रहस्त इत्युच्यते बुधैः ॥२२२॥

यदि दाहिने हाथ को कपित्थ मुद्रा मे और बांये हाथ को शिखर मुद्रा में ऊपर उठा लिया जाय, तो नाट्याचार्यों के अनुसार उसे रामचन्द्रावतार हस्त कहा जाता है।

बलरामावतार हस्त

पताको दक्षिणे हस्ते मुष्टिर्वामकरे तथा।
बलरामावतारस्य हस्त इत्युच्यते बुधैः ॥२२३॥

यदि दाहिने हाथ को पताक मुद्रा मे और बांये हाथ को मुष्टिहस्त मुद्रा मे अवस्थित किया जाय, तो विद्वानो के अभिमत से उसे बलरामावतार हस्त कहा जाता है।

कृष्णावतार हस्त

मृगशीर्षे तु हस्ताभ्यामन्योन्याभिमुखे कृते।
आस्योपकण्ठे कृष्णस्य हस्त इत्युच्यते बुधैः ॥२२४॥

यदि दोनों हाथों से मृगशीर्ष मुद्रा बनाकर उन्हें आमने-सामने करके मुख के समीप अवस्थित किया जाय, तो विद्वानों के मत मे उसे कृष्णावतार हस्त कहा जाता है।

कल्कि अवतार हस्त

पताको दक्षिणे वामे त्रिपताकः करो धृतः।
कल्क्याख्यस्यावतारस्य हस्त इत्यभिधीयते ॥२२५॥

यदि बांये हाथ को पताक मुद्रा मे और दाहिने हाथ को त्रिपताक मुद्रा में अवस्थित किया जाय, तो उसे कल्कि अवतार हस्त कहा जाता है।

विभिन्न जातियों एवं वर्णो की हस्त मुद्राएँ

राक्षस हस्त

मुखे कराभ्यां शकटौ राक्षसानां करः स्मृतः।

यदि शकट हस्त मुद्रा में दोनो हाथों को मुख के समीप अवस्थित किया जाय, तो उसे राक्षस हस्त कहा जाता है।

ब्राह्मण हस्त

कराभ्यां शिखरं धृत्वा यज्ञसूत्रस्य सूचने ॥२२६॥
दक्षिणेन कृते तिर्यग् ब्राह्मणानां करः स्मृतः।

यदि दोनों हाथों मे शिखर हस्त मुद्रा बनाकर दाहिने हाथ को कुछ टेढा करके उसके द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने का भाव प्रदर्शित किया जाय, तो उसे ब्राह्मण हस्त कहा जाता है।

क्षत्रिय हस्त

वामेन शिखरं तिर्यग् धृत्वान्येन पताकिका ॥२२७॥
धृता यदि क्षत्रियाणां हस्त इत्यभिधीयते।

यदि बाँये हाथ को कुछ टेढा करके शिखर हस्त मुद्रा मे और दाहिने हाथ को पताक हस्त मुद्रा मे अवस्थित किया जाय, तो उसे क्षत्रिय हस्त कहा जाता है।

वैश्य हस्त

करे वामे तु हंसास्यो दक्षिणे कटकामुखः ॥२२८॥
वैश्यहस्तोऽयमाख्यातो मुनिभिर्भरतादिभिः।

यदि बाँये हाथ से हंसास्य हस्त और दाहिने हाथ मे कटकामुख हस्त मुद्रा बनायी जाय, तो आचार्य भरत की परम्परा के अनुसार उसे वैश्य हस्त कहा जाता है।

शूद्र हस्त

वामे तु शिखरं धृत्वा दक्षिणे मृगशीर्षकः ॥२२९॥
शूद्रहस्तः स विज्ञेयो मुनिभिर्भरतादिभिः।

यदि बाँये हाथ को शिखर हस्त मुद्रा मे और दाहिने हाथ को मृगशीर्ष हस्त मुद्रा मे अवस्थित किया जाय, तो आचार्य भरत की परम्परा के अनुसार उसे शूद्र हस्त कहा जाता है।

कर्म के अनुसार विभिन्न हस्त मुद्राएँ

यदष्टादशजातीनां कर्म तेन कराः स्मृताः ॥२३०॥
तत्तद्देशजानामपि एवमूह्यं बुधोत्तमैः।

इसी प्रकार अठारह जातियो के व्यवसायो (कर्मो) के अनुसार और भिन्न-भिन्न देशो की परम्पराओ के अनुसार विद्वानो ने विभिन्न हस्तमुद्राओ का वर्णन किया है।

सम्बन्धी जनों के लिए हस्त मुद्राएँ

दम्पति हस्त और उसका विनियोग

वामे तु शिखरं धृत्वा दक्षिणे मृगशीर्षकः ॥२३१॥
धृतः स्त्रीपुंसयोर्हस्तः ख्यातो भरतकोविदैः।

यदि बाँये हाथ को शिखर हस्त मुद्रा मे और दाहिने हाथ को मृगशीर्ष हस्त मुद्रा म अवस्थित किया जाय, तो उसे दम्पति हस्त कहा जाता है। पति और पत्नी का भाव द्योतन करने के लिए दम्पति हस्त का उपयोग किया जाता है।

मातृ हस्त

वामे हस्तेऽर्धचन्द्रश्च सन्दंशो दक्षिणे करे ॥२३२॥
आवर्तयित्वा जठरे वामहस्तं ततः परम्।
स्त्रियाः करो धृतो मातृहस्त इत्युच्यते बुधैः ॥२३३॥

यदि बाँये हाथ को अर्धचन्द्र हस्त मुद्रा मे और दाहिने हाथ को सन्दश हस्त मुद्रा मे अवस्थित करके तदनन्तर अर्धचन्द्र बाँये हाथ को उदर पर घुमा दिया जाय, तो विद्वानों के मत से उसे मातृ हस्त कहा जाता है।

विनियोग

जनन्यां च कुमार्यां च मातृहस्तो नियुज्यते।

जननी और कुमारी कन्या का भाव प्रदर्शित करने के लिए मातृ हस्त का उपयोग किया जाता है।

पितृ हस्त

एतस्मिन् मातृहस्ते तु शिखरे दक्षिणेन तु ॥२३४॥
धृते सति पितृहस्त इत्याख्यातो मनीषिभिः।

यदि उक्त मातृ हस्त मुद्रा के दाहिने हाथ को शिखर हस्त मुद्रा मे परिवर्तित कर दिया जाय, तो मनीषी लोगो के मत से उसे पितृ हस्त कहा जाता है।

विनियोग

अयं हस्तस्तु जनके जामातरि च युज्यते ॥२३५॥

पिता और जामाता का द्योतन करने के लिए पितृ हस्त का उपयोग किया जाता है।

श्वश्रू हस्त

विन्यस्य कण्ठे हंसास्यं सन्दंशं दक्षिणे करे।
उदरे च परामृश्य वामहस्तं ततः परम् ॥२३६॥

यदि हसास्य हस्त मुद्रा मे दाहिने हाथ को कठ पर और सन्दश हस्त मुद्रा मे बाँये हाथ को उदर पर अवस्थित किया जाय, तो उसको श्वश्रू हस्त (सास हस्त) कहा जाता है।

विनियोग

स्त्रियाः करो धृतः श्वश्रूहस्तस्तस्यां नियुज्यते।

सास का भाव प्रदर्शित करने के लिए श्वश्रू हस्त का उपयोग किया जाता है।

श्वशुर हस्त

एतस्यान्ते तु हस्तस्य शिखरो दक्षिणे यदि ॥२३७॥
धृतश्च श्वशुरस्यायं हस्त इत्युच्यते बुधैः।

यदि दाहिने श्वश्रू हस्त को शिखर हस्त बना दिया जाय, तो विद्वानो के मत से उसे श्वशुर हस्त कहा जाता है।

भर्तृभ्रातृ हस्त

वामे तु शिखरं धृत्वा पार्श्वयोः कर्तरीमुखः ॥२३८॥
धृतो दक्षिणहस्तेन भर्तृभ्रातृकरः स्मृतः ।

यदि बाँयें हाथ मे शिखर हस्त मुद्रा और दाहिने हाथ मे कर्तरीमुख हस्त मुद्रा धारण की जाय और दोनो हाथों को दोनो पार्श्वों मे अवस्थित किया जाय, तो उसे भर्तृभ्रातृ हस्त (देवर हस्त या जेठ हस्त) कहा जाता है।

ननान्दृ हस्त

अन्ते श्वेतस्य हस्तस्य स्त्रीहस्तो दक्षिणे करे ॥२३९॥
धृतो ननान्दृहस्तः स्यादिति नाट्यविदां मतम् ।

नाट्याचार्यों का अभिमत है कि यदि उक्त देवर हस्त या जेठ हस्त के दाहिने हाथ को अन्त मे स्त्री हस्त मुद्रा मे परिवर्तित किया जाय, तो उसे ननान्दृ हस्त (ननद या बुआ हस्त) कहा जाता है।

ज्येष्ठ कनिष्ठ भ्रातृ हस्त

मयूरहस्तः पुरतः पार्श्वभागे च दर्शितः ॥२४०॥
ज्येष्ठभ्रातुः कनिष्ठस्याप्ययं हस्त इति स्मृतः ।

यदि दोनो हाथों मे मयूर हस्त मुद्रा धारण की जाय और एक हाथ को आगे तथा दूसरे हाथ को पार्श्व भाग मे अवस्थित किया जाय, तो उसे ज्येष्ठ कनिष्ठ भ्रातृ हस्त (बड़े-छोटे भाई का हस्त) कहा जाता है।

पुत्र हस्त

सन्दंशमुदरे न्यस्य भ्रामयित्वा ततः परम् ॥२४१॥
धृतो वामेन शिखरं पुत्रहस्तः प्रकीर्तितः ।

यदि दाहिने हाथ से सन्दंश हस्त मुद्रा बनाकर उसको उदर पर अवस्थित किया जाय और तदनन्तर बाँये हाथ से शिखर हस्त मुद्रा बनाकर उसे उदर पर घुमा कर अवस्थित किया जाय, तो उसे पुत्र हस्त कहा जाता है।

स्नुषा हस्त

एतदन्ते दक्षिणेन स्त्रीहस्तश्च धृतो यदि ॥२४२॥
स्नुषाहस्त इति ख्यातो भरतागमकोविदैः ।

भरत नाट्यशास्त्र के ज्ञाता आचार्यों का अभिमत है कि यदि पुत्र हस्त मुद्रा मे दाहिने हाथ को स्त्री हस्त (मृगशीर्ष हस्त) मे परिवर्तित किया जाय, तो उसे स्नुषा हस्त (पुत्र वधू हस्त) कहा जाता है।

सपत्नी हस्त

दर्शयित्वा पाशहस्तं कराभ्यां स्त्रीकरावुभौ ।।२४३।।
धृतौ सपत्नीहस्तः स्यादिति भावविदो विदुः ।

यदि दोनो हाथो को पाश हस्त मे अवस्थित किया जाय और उनमे स्त्री भाव (मृगशीर्ष) को प्रदर्शित किया जाय, तो उसे सपत्नी हस्त (सौत हस्त) कहा जाता है।

नृत्त में हाथो की गति (चाल)

हस्त गति के भेद

भवन्ति नृत्तहस्तानां गतयः पञ्चधा भुवि ।।२४४।।
ऊर्ध्वाऽधरोत्तरा प्राची दक्षिणा चेति विश्रुता।

नृत्त मे हाथो की गति पाँच प्रकार की होती है, यथा १ ऊर्ध्व (ऊपर), २.अधर (नीचे), ३.उत्तर (सामने) ४ प्राची (बाँये) और ५ दक्षिण (दाहिने)।

यथा स्यात् पादविन्यासस्तथैव करयोरपि ।।२४५।।

नृत्त के समय जैसा पाद विन्यास हो, उसी के अनुसार हस्त-सचालन भी होना चाहिए।

वामाङ्गभागे वामस्य दक्षिणे दक्षिणस्य च।
कुर्यात् प्रचलनं ह्येतन्नृत्तसिद्धान्तलक्षणम् ।।२४६।।

नृत्त सिद्धान्तो (नाट्यशास्त्र) के निर्देशानुसार बाँये हाथ या पैर को वाम भाग मे और दाहिने हाथ या पैर को दक्षिण भाग मे सचालित करना चाहिए।

यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः ।।२४७।।

* पूर्वोक्त नाट्यारम्भ की विधि के अनुसार जिस दिशा मे हाथो का सचालन हो, उसी दिशा मे दृष्टि भी अवस्थित रहनी चाहिए। जिस दिशा मे दृष्टि अवस्थित हो, वही मन भी एकाग्र होना चाहिए। मन के अनुसार ही भावो की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। भावो की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही रस की सृष्टि होनी चाहिए।

नृत्त के उपयोगी हस्त

पताकास्वस्तिकाख्यश्च डोलाहस्तस्तथाञ्जलिः।
कटकावर्धनश्चैव शकटः पाशकीलकौ ॥२४८॥
कपित्थः शिखरः कूर्मो हंसास्यश्चालपद्मकः।
त्रयोदशैते हस्ताः स्युर्नृत्तस्याप्युपयोगिनः ॥२४९॥

नृत्त में प्रमुख रूप से जिन हस्तों का उपयोग किया जाता है, वे संख्या में तेरह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं. १ पताक, २ स्वस्तिक, ३ डोला, ४ अंजलि, ५. कटकावर्धन, ६. शकट, ७ पाश, ८ कीलक, ९ कपित्थ, १०. शिखर, ११. कूर्म, १२ हंसास्य और १३. अलपद्म।

नव ग्रहों के लिए हस्त मुद्राएँ

सूर्य हस्त

अंसोपकण्ठे हस्ताभ्यामलपद्मकपित्थकः।
धृतो यदि करो ह्येष दिवाकरकरः स्मृतः ॥२५०॥

यदि दोनों हाथों से अलपद्म और कपित्थ हस्त मुद्राएँ बनाकर उन्हें कंध के समीप अवस्थित करके प्रदर्शित किया जाय, तो उसे सूर्य हस्त कहा जाता है।

चन्द्र हस्त

अलपद्मो वामहस्ते दक्षिणे च पताकिका।
निशाकरकरः प्रोक्तो भरतागमदर्शिभिः ॥२५१॥

यदि बाँये हाथ से अलपद्म और दाहिने हाथ से पताक हस्त मुद्राएँ बनायी जाँय, तो नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ आचार्यों के मतानुसार उसे चन्द्र हस्त कहा जाता है।

कुज हस्त

वामे करे तु सूची स्यान्मुष्टिहस्तस्तु दक्षिणे।
धृतश्चेन्नाट्यशास्त्रज्ञैरङ्गारककरः स्मृतः ॥२५२॥

यदि बाँये हाथ को सूची और दाहिने हाथ को मुष्टि हस्त मुद्राओं में अवस्थित किया जाय, तो नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ आचार्यों के मतानुसार उसे कुज हस्त (मंगल हस्त) कहा जाता है।

बुध हस्त

तिर्यग्वामे च मुष्टिः स्याद्दक्षिणे च पताकिका।
बुधग्रहकरः प्रोक्तो भरतागमवेदिभिः ॥२५३॥

यदि बाँये हाथ को तिरछा करके मुष्टि हस्त मे और दाहिने हाथ को पताक हस्त मे अवस्थित किया जाय, तो नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ आचार्यों के मतानुसार उसे बुध हस्त कहा जाता है।

गुरु हस्त

हस्ताभ्यां शिखरं धृत्वा यज्ञसूत्रस्य दर्शनम्।
ऋषिब्राह्मणहस्तोऽयं गुरोश्चापि [प्रकीर्तितः] ॥२५४॥

यदि यज्ञोपवीत का निदर्शन करते हुए दोनो हाथों को शिखर हस्त मुद्रा मे अवस्थित किया जाय, तो उसे गुरु हस्त, *ऋषि हस्त अथवा ब्राह्मण हस्त कहा जाता है।*

शुक्र हस्त

वामोच्चभागे मुष्टिः स्यादधस्ताद्दक्षिणे तथा।
शुक्रग्रहकरः प्रोक्तो भरतागमवेदिभिः ॥२५५॥

यदि दोनो हाथो मे मुष्टि हस्त मुद्रा बनाकर बाँयें हाथ को ऊपर उठा लिया जाय और दाहिने हाथ को नीचे झुका दिया जाय, तो नाट्यशास्त्र के आचार्यों के मत से उसे शुक्र हस्त कहा जाता है।

शनि हस्त

वामे करे तु शिखरस्त्रिशूलो दक्षिणे करे।
शनैश्चरकरः प्रोक्तो भरतागमकोविदैः ॥२५६॥

यदि बाँये हाथ मे शिखर हस्त मुद्रा और दाहिने हाथ मे त्रिशूल हस्त मुद्रा धारण की जाय, तो नाट्य शास्त्रज्ञ आचार्यों के मत से उसे शनि हस्त कहा जाता है।

राहु हस्त

सर्पशीर्षो वामकरे सूची स्याद्दक्षिणे करे।
राहुग्रहकरः प्रोक्तो नाट्यविद्याधिपैर्जनैः ॥२५७॥

यदि बाँये हाथ मे सर्पशीर्ष मुद्रा और दाहिने हाथ मे सूची मुद्रा धारण की जाय, तो नाट्याचार्यों के मत से उसे राहु हस्त कहा जाता है।

केतु हस्त

वामे करे तु सूची स्याद्दक्षिणे तु पताकिका।
केतुग्रहकरः प्रोक्तो भरतागमदर्शिभिः ॥२५८॥

यदि बांये हाथ मे सूची हस्त मुद्रा और दाहिनें हाथ मे पताक हस्त मुद्रा धारण की जाय, तो भरत नाट्यशास्त्र के निष्णात आचार्यों के मत से उसे केतु हस्त कहा जाता है।

नृत्त में पैरों की गति (चाल)

पाद गति के भेद

वक्ष्यते पादभेदानां लक्षणं पूर्वसम्मतम्।
मण्डलोत्प्लवने चैव भ्रमरी पादचारिका ॥२५९॥
चतुर्धा पादभेदाः स्युस्तेषां लक्षणमुच्यते।

नाट्यशास्त्र के पूर्वाचार्यों के मतानुसार अब पाद-विन्यास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है। वे अवस्थाएँ या गतियां चार प्रकार की हैं; जिनके नाम हैं - १. मण्डल (स्थानक, आसन आदि), २. उत्प्लवन (उछलना, कूदना, फांदना आदि), ३. भ्रमरी (घूमना, मँडराना, उड़ान भरना आदि) और ४ पादचारिका (चलना, फिरना, सचरण करना आदि)। इन चार प्रकार की पाद-गतियों का क्रमश वर्णन किया जाता है।

१. मण्डल पाद

मण्डल पाद के भेद

स्थानकं चायतालीढं प्रेङ्खणप्रेरितानि च ॥२६०॥
प्रत्यालीढं स्वस्तिकं च मोटितं समसूचिका।
पार्श्वसूचीति च दश मण्डलानीरितानीह ॥२६१॥

मण्डल (खड़े होने के ढंग) पाद के १० भेद कहे गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं १ स्थानक, २. आयत, ३. आलीढ, ४. प्रत्यालीढ, ५. प्रेङ्खण, ६. प्रेरित, ७. स्वस्तिक, ८. मोटित, ९. समसूची और १०. पार्श्वसूची।

स्थानक मण्डल

कटिं स्पृष्ट्वार्धचन्द्राख्यपाणिभ्यां समपादतः।
समरेखतया तिष्ठेत् तत्स्यात् स्थानकमण्डलम् ॥२६२॥

यदि समपाद स्थिति मे दोनो पैरो को समानान्तर रेखा मे अवस्थित किया जाय और दोनो हाथ अर्धचन्द्र हस्त मुद्रा मे कटि भाग को स्पर्श करते हों, तो उसे स्थानक मण्डल कहा जाता है।

आयत पाद

वितस्त्यन्तरितौ पादौ कृत्वा तु चतुरस्रकौ।
तिर्यक् कुञ्चितजानुभ्यां स्थितिरायतमण्डलम् ॥२६३॥

यदि दोना पैरो को चौकोर स्थिति मे एक बित्ता के अन्तर पर अवस्थित किया जाय और दोनों घुटनो को तिरछा करके या झुका कर मोड दिया जाय, तो उसे आयत पाद कहा जाता है।

आलीढ पाद

दक्षिणाङ्घ्रेश्च पुरतः वितस्तित्रितयान्तरम्।
विन्यसेद् वामपादं च शिखरं वामपाणिना ॥२६४॥
कटकामुखहस्तश्च दक्षिणेन धृतो यदि।
आलीढमण्डलमिति विख्यातं भरतादिभिः ॥२६५॥

यदि बाँये हाथ मे शिखर हस्त मुद्रा और दाहिने हाथ मे कटकामुख हस्त मुद्रा धारण की जाय और दाहिने पैर के आगे बाँये पैर को तीन बित्ते या डेढ हाथ के अन्तर पर अवस्थित किया जाय, तो नाट्यशास्त्र के अनुसार उसे आलीढ पाद कहा जाता है।

प्रत्यालीढ पाद

आलीढस्य विपर्यासात् प्रत्यालीढाख्यमण्डलम्।

यदि आलीढ पाद मुद्रा को उलट या विपर्यस्त किया जाय, अर्थात् आलीढ पाद की हस्त पाद स्थिति को परस्पर बदल दिया जाय, दाहिने हाथ-पैर की स्थिति बाँये हाथ-पैर के समान और बाँये हाथ-पैर की स्थिति दाहिने हाथ पैर के समान हो, तो उसे प्रत्यालीढ पाद कहा जाता है।

प्रेङ्खण पाद

प्रसृत्यैकपदं पार्श्वे पार्ष्णिदेशस्य पादतः ॥२६६॥
स्थित्वाऽन्ते कूर्महस्तेन स्थितिः प्रेङ्खणमण्डलम् ।

यदि एक पैर को दूसरे पैर की एडी के पास अवस्थित करके हाथों में कूर्म हस्त मुद्रा धारण की जाय, तो उसे प्रेङ्खण पाद कहा जाता है।

प्रेरित पाद

सन्ताड्यैकं पादं पार्श्वे वितस्तित्रितयान्तरम् ॥२६७॥
तिर्यक् कुञ्चितजानुभ्यां स्थित्वाऽथ शिखरं करम् ।
विधाय वक्षस्यन्येन प्रसृता च पताकिका ॥२६८॥
प्रदर्शयेदिदं तज्ज्ञाः प्रेरितं मण्डलं जगुः ।

यदि एक पैर को पृथ्वी पर ताडित करके दूसरे पैर को डेढ़ हाथ की दूरी पर अवस्थित किया जाय और दोनों जंघाओं को तिरछा करके झुका दिया जाय, तदनन्तर एक हाथ को शिखर हस्त मुद्रा में वक्ष स्थल पर रख दिया जाय और दूसरे हाथ को पताक हस्त मुद्रा में आगे फैला दिया जाय, तो उसे प्रेरित पाद कहा जाता है।

स्वस्तिक पाद

दक्षिणोत्तरतः कुर्यात् पादे पादं करे करम् ॥२६९॥
व्यत्यासेन तदा प्रोक्तं स्वस्तिकं नाम मण्डलम् ।

यदि दाहिने पैर को बाँये पैर के आर-पार करके रख दिया जाय और दाहिने हाथ को बाँये हाथ के आर-पार करके अवस्थित किया जाय, तो उसे स्वस्तिक पाद कहा जाता है।

मोटित पाद

प्रपदाभ्यां भुवि स्थित्वा जानुयुग्मेन संस्पृशेत् ॥२७०॥
क्रमाद् भूतलमेकैकं त्रिपताककरद्वयम् ।
कृत्वा तन्मोटितं नाम मण्डलं कथितं बुधैः ॥२७१॥

यदि दोनों पैरों के पंजों के बल खड़ा होकर बारी-बारी से एक-एक घुटना झुका कर उससे धरती का स्पर्श किया जाय; और दोनों हाथों में त्रिपताक मुद्रा धारण की जाय, तो विद्वानों के कथनानुसार उसे मोटित पाद कहा जाता है।

समसूची पाद

पादाग्राभ्यां च जानुभ्यां भूतलं संस्पृशेद्यदि।
मण्डलं समसूचीति कथितं पूर्वसूरिभिः॥२७२॥

यदि दोनों पैरो के पंजो और दोनो घुटनो से पृथ्वी को स्पर्श किया जाय, तो उसे समसूची पाद कहा जाता है।

पार्श्वसूची पाद

स्थित्वा पादाग्रयुग्मेन जानुनैकेन पार्श्वतः।
संस्पृशेद् भूतलं पार्श्वसूचीमण्डलमीरितम्॥२७३॥

यदि दोनो पैरो के पंजो से बैठ कर एक पैर के घुटने को झुका कर उससे पार्श्व भूमि का स्पर्श किया जाय, तो उसे पार्श्वसूची पाद कहा जाता है।

स्थानक पाद के भेद

पादविन्यासभेदेन स्थानकं षड्विधं भवेत्।
समपादं चैकपादं नागबन्धस्ततः परम्॥२७४॥
ऐन्द्रं च गारुडं चैव ब्रह्मस्थानमिति क्रमात्।

खडे होकर पाद-विन्यास करने या पैरो को रखने की रीति के अनुसार स्थानक पाद के छ भेद होते हैं, जिनके नाम हैं: १. समपाद, २. एकपाद, ३ नागबन्ध, ४. ऐन्द्र, ५. गारुड़ और ६ ब्रह्मस्थान।

समपाद स्थानक

स्थितिः समाभ्यां पादाभ्यां समपादमिति स्मृतम्॥२७५॥

यदि दोनो पैरो से समवेत रूप मे खडा होकर पाद मुद्रा बनायी जाय, तो उसे समपाद स्थानक कहा जाता है।

विनियोग

पुष्पाञ्जलौ देवरूपे समपादं नियुज्यते।

देवताओ को पुष्पांजलि अर्पित करने और देवताओ के स्वरूप का अभिनय करने मे समपाद स्थानक का उपयोग किया जाता है।

एकपाद स्थानक

जान्वाश्रित्य पदैकेन स्थितिः स्यादेकपादकम् ।।२७६।।

यदि एक पैर के बल पर खड़ा होकर दूसरे पैर का घुटने में मोड दिया जाय और पुन उसको खडे हुए पैर के घुटने पर आर-पार स्थिति में रख दिया जाय तो उसे **एकपाद स्थानक** कहा जाता है।

विनियोग

एकपादं त्विदं स्थानं निश्चले तपसि स्थितम् ।

निश्चलता और तपस्या मे स्थित होने का भाव प्रदर्शित करने के लिए **एकपाद स्थानक** का उपयोग किया जाता है।

नागबन्ध स्थानक

पादं पादेन संवेष्ट्य तथा पाणिं च पाणिना ।।२७७।।
स्थितिः स्यान्नागबन्धाख्या

यदि एक पैर मे दूसरे पैर को और एक हाथ से दूसरे हाथ को सर्पबन्ध की तरह लपेट कर खडा हुआ जाय, तो उसे **नागबन्ध स्थानक** कहा जाता है।

विनियोग

नागबन्धे प्रयुज्यते ।

नागफास का भाव प्रदर्शित करने के लिए **नागबन्ध स्थानक** का उपयोग किया जाता है।

ऐन्द्र स्थानक

पादमेकं समाकुञ्च्य स्थित्वाऽन्यपदजानुनी ।।२७८।।
उत्तानिते करं न्यस्य स्थितिरैन्द्रमितीरितम् ।

यदि एक पैर को जानु मे मोड कर झुका दिया जाय तथा दूसरे पैर को जानु सहित सीधे खडा कर दिया जाय और दोनो हाथ अपने स्वाभाविक रूप मे अवस्थित रह, तो उसे ऐन्द्र स्थानक कहा जाता है।

विनियोग

वासवे राजभावे च स्थानमैन्द्रं नियुज्यते ।।२७९।।

इन्द्र और राजा का भाव निर्देश करने के लिए ऐन्द्र स्थानक का उपयोग किया जाता है।

गरुड स्थानक

आलीढमण्डले पश्चादथ जानुतलं भुवि।
संस्थाप्य पाणियुग्मेन वहन विरलमण्डलम् (?) ॥२८०॥
स्थितिस्तु गरुडस्थानं

यदि आलीढ मण्डल पाद मुद्रा मे एक पैर के घुटने को पृथ्वी पर टिका कर रख दिया जाय और दोनो हाथों से आकाश मण्डल मे फडफडाने का भाव प्रदर्शित किया जाय, तो उसे गरुड स्थानक कहा जाता है।

विनियोग

गरुडे विनियुज्यते।

गरुड का भाव प्रदर्शित करने के लिए गरुड स्थानक का उपयोग किया जाता है।

ब्रह्म स्थानक

जानूपरि पदं न्यस्य पदस्योपरि जानु च ॥२८१॥
स्थितं यदि भवेद् ब्राह्मं

यदि एक घुटने पर दूसरे पैर को और दूसरे घुटने पर पहले पैर को रखकर आसन बनाया जाय, तो उसे ब्रह्म स्थानक कहा जाता है।

विनियोग

जपादिषु नियुज्यते।

जप तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों का निर्देश करने के लिए ब्रह्म स्थानक का उपयोग किया जाता है।

२. उत्प्लवन पाद

उत्प्लवन पाद के भेद

अथोत्प्लवनभेदानां लक्षणं परिकथ्यते ॥२८२॥
अलगं कर्तरी वाऽश्वोऽत्प्लवनं मोटितं तथा।
कृपालगमिति ख्यातं पञ्चधोत्प्लवनं बुधैः ॥२८३॥

मण्डल पाद के अनन्तर अब उत्प्लवन पाद भेदों का निरूपण किया जाता है। उत्प्लवन पाद (उछल-कूद) के पाँच भेद होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं. १ अलग, २ कर्तरी, ३ अश्व, ४ मोटित और ५ कृपालग।

अलग उत्प्लवन

उत्प्लुत्य पार्श्वयुगलं कटिदेशे तु विन्यसेत्।
बध्वा कराभ्यां शिखरौ अलगोत्प्लवनं भवेत् ॥२८४॥

यदि दोनों हाथों में शिखर मुद्रा धारण कर उन्हें कटि भाग पर अवस्थित किया जाय और दोनों पैरों से उछलने की मुद्रा प्रदर्शित की जाय, तो उसे अलग उत्प्लवन कहा जाता है।

कर्तरी उत्प्लवन

उत्प्लुत्य प्रपदैः सव्यपादस्यैकस्य पृष्ठतः।
कर्तरी विन्यसेदेषा स्यादुत्प्लवनकर्तरी ॥२८५॥
अधोमुखं च शिखरं कटौ हस्तं न्यसेदिह।

यदि दोनों पैरों के बल उछलते-कूदते समय बायें पैर के पीछे कर्तरी हस्त मुद्रा धारण की जाय और दाहिने पैर के पीछे नीचे की ओर शिखर हस्त मुद्रा धारण की जाय, तो उसे कर्तरी उत्प्लवन कहा जाता है।

अश्व उत्प्लवन

पुरः पादं समुत्प्लुत्य पश्चात्पादं नियोजयेत् ॥२८६॥
करौ तु त्रिपताख्यौ कृत्वाऽश्वोत्प्लवनं भवेत्।

यदि पहले दोनों पैरों से उछल कर फिर दोनों को एक साथ मिला कर धरती पर अवस्थित किया जाय और साथ-साथ दोनों हाथों में त्रिपताक मुद्रा धारण की जाय तो उसे अश्व उत्प्लवन कहा जाता है।

मोटित उत्प्लवन

पर्यायपार्श्वोत्प्लवनं कर्तरीव तु मोटिता ॥२८७॥
त्रिपताके च करयोः कृत्वा शश्वत्प्रकाशनात्।

यदि दोनों हाथों में त्रिपताक मुद्रा धारण की जाय और कर्तरी उत्प्लवन की भाँति बारी-बारी से दोनों पार्श्वों से उछल-कूद की जाय, तो उसे मोटित उत्प्लवन कहा जाता है।

गरुड़ भ्रमरी

तिर्यक् प्रसार्यैकपादं पश्चाज्जानु भुवि क्षिपेत्।
सम्यक् प्रसार्य बाहू द्वौ भ्रामयेद् गरुडो भवेत्॥२९४॥

यदि एक पैर को दूसरे पैर पर आर-पार रखने के पश्चात् एक घुटने को पृथ्वी पर अवलम्बित किया जाय और दोनों हाथों को पूरा फैला कर वेग से घुमाया जाय, तो उसे गरुड़ भ्रमरी कहा जाता है।

एकपाद भ्रमरी

भ्रामयेदेकमेकेन पादं पादेन सत्वरम्।
सा त्वेकपादभ्रमरी भवेदिति विनिश्चिता॥२९५॥

यदि एक पैर के बाद दूसरे पैर पर बारी-बारी से शरीर को शीघ्रतापूर्वक घुमाया जाय, तो उसे एकपाद भ्रमरी कहा जाता है।

कुंचित भ्रमरी

निकुञ्च्य जानुभ्रमणं कुञ्चितभ्रमरी भवेत्।

यदि घुटने झुका कर शरीर को चारों ओर घुमाया जाय, तो उसे कुंचित भ्रमरी कहा जाता है।

आकाश भ्रमरी

उत्प्लुत्य पादौ विरलौ कृत्वा पादौ प्रसार्य च॥२९६॥
भ्रामयेत् सकलं गात्रमाकाशभ्रमरी भवेत्।

यदि दोनों पैरों को तान कर चौड़ा फैला दिया जाय और तदनन्तर उछल कर सम्पूर्ण शरीर को घुमाया जाय, तो उसे आकाश भ्रमरी कहा जाता है।

अंग भ्रमरी

वितस्त्यन्तरितौ पादौ कृत्वाङ्गभ्रमणं तथा॥२९७॥
तिष्ठेद् यदि भवेदङ्गभ्रमरी भरतोदिता।

दोनों पैरों को एक बित्ता के अन्तर पर रख कर तदनन्तर शरीर को घुमाया जाय और घूमने के मे रुका दिया जाय, तो [illegible] अंग भ्रमरी कहा जाता है।

कृपालग उत्प्लवन

पार्ष्णिमेकैकपादस्य कटौ पर्यायतो न्यसेत् ॥२८८॥
अर्धचन्द्रकलामध्ये न्यस्तमन्यत् कृपालगम्।

यदि दोनो पैरो की एड़ियो को क्रमश कटि भाग पर रखा जाय और साथ ही दोनो के बीच मे दोनो हाथो की अर्धचन्द्र मुद्रा धारण की जाय, तो उसे कृपालग उत्प्लवन कहा जाता है।

भ्रमरी पाद के भेद

भ्रमर्या लक्षणान्यत्र वक्ष्ये लक्षणभेदतः ॥२८९॥
उत्प्लुतभ्रमरी चक्रभ्रमरी गरुडाभिधा।
तथैकपादभ्रमरी कुञ्चितभ्रमरी तथा ॥२९०॥
आकाशभ्रमरी चैव तथाङ्गभ्रमरीति च।
भ्रमर्यः सप्त विज्ञेया नाट्यशास्त्रविशारदैः ॥२९१॥

नाट्याचार्यों के निर्देशानुसार यहाँ भ्रमरी पाद के भेदो और लक्षणो का वर्णन किया जाता है। भ्रमरी पाद के सात भेद होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं १ उत्प्लुत, २ चक्र, ३ गरुड, ४ एकपाद, ५ कुंचित, ६ आकाश और ७ अग।

उत्प्लुत भ्रमरी

स्थित्वा समाभ्यां पादाभ्यामुत्प्लुत्य भ्रमयेद्यदि।
सर्वाङ्गमन्तराले स्यादुत्प्लुतभ्रमरी त्वसौ ॥२९२॥

यदि समपाद स्थिति मे खड़े होकर सारे शरीर को उछाल दिया जाय और उसे चारो ओर घुमा दिया जाय, तो उसे उत्प्लुत भ्रमरी कहा जाता है।

चक्र भ्रमरी

भुवि पादौ मुहुः कर्षस्त्रिपताकौ करौ वहन्।
चक्रवद् भ्रमते यत्र सा चक्रभ्रमरी भवेत् ॥२९३॥

यदि दोनो हाथो मे त्रिपताक मुद्रा धारण करने के अनन्तर दोनो पैरो से धरती पर चक्र की तरह वेग से घूमा जाय, तो उसे चक्र भ्रमरी कही जाता है।

गरुड़ भ्रमरी

तिर्यक् प्रसार्यैकपादं पश्चाज्जानु भुवि क्षिपेत्।
सम्यक् प्रसार्य बाहू द्वौ भ्रामयेद् गरुडो भवेत्॥२९४॥

यदि एक पैर को दूसरे पैर पर आर-पार रखने के पश्चात् एक घुटने को पृथ्वी पर अवस्थित किया जाय और दोनो हाथों को पूरा फैला कर वेग से घुमाया जाय, तो उसे गरुड़ भ्रमरी कहा जाता है।

एकपाद भ्रमरी

भ्रामयेदेकमेकेन पादं पादेन सत्वरम्।
सा त्वेकपादभ्रमरी भवेदिति विनिश्चिता॥२९५॥

यदि एक पैर के बाद दूसरे पैर पर बारी-बारी से शरीर को शीघ्रतापूर्वक घुमाया जाय, तो उसे **एकपाद भ्रमरी** कहा जाता है।

कुंचित भ्रमरी

निकुञ्च्य जानुभ्रमणं कुञ्चितभ्रमरी भवेत्।

यदि घुटने झुका कर शरीर को चारो ओर घुमाया जाय, तो उसे कुंचित **भ्रमरी** कहा जाता है।

आकाश भ्रमरी

उत्प्लुत्य पादौ विरलौ कृत्वा पादौ प्रसार्य च॥२९६॥
भ्रामयेत् सकलं गात्रमाकाशभ्रमरी भवेत्।

यदि दोनो पैरो को तान कर चौड़ा फैला दिया जाय और तदनन्तर उछल कर सम्पूर्ण शरीर को घुमाया जाय, तो उसे आकाश भ्रमरी कहा जाता है।

अंग भ्रमरी

वितस्त्यन्तरितौ पादौ कृत्वाङ्गभ्रमणं तथा॥२९७॥
तिष्ठेद् यदि भवेदङ्गभ्रमरी भरतोदिता।

यदि दोनो पैरो को एक बित्ता के अन्तर पर रख कर तदनन्तर शरीर को घुमाया जाय और घूमने के बाद फिर पूर्वावस्था में रुका दिया जाय, तो उसे अंग भ्रमरी कहा जाता है।

३. चारि पाद

चारि (गतिशील) के भेद

अथात्र चारिभेदानां लक्षणं कथ्यते मया ॥२९८॥
आदौ तु चलनं प्रोक्तं पश्चाच्चंक्रमणं तथा।
सरणं वेगिनी चैव कुट्टनं च ततः परम् ॥२९९॥
लुठितं लोलितं चैव ततो विषमसञ्चरः।
चारिभेदा अमी अष्टौ प्रोक्ता भरतवेदिभिः ॥३००॥

अब यहाँ भरतादि पूर्वाचार्यों के मतानुसार चारि पाद (पाद-सचालन) के लक्षणो और भेदो का वर्णन किया जाता है। चारि पाद के आठ भेद बताये गये है, जिनके नाम इस प्रकार हैं : १ चलन, २ चंक्रमण, ३ सरण, ४ वेगिनी, ५. कुट्टन, ६. लुठित, ७. लोलित और ८ विषम।

चलन चारि

स्वस्थानात् स्वस्य पादस्य चलनाच्चलनं भवेत्।

यदि अपने स्थान से स्वाभाविक रूप मे आगे पाद-सचालन किया जाय, तो उसे **चलन चारि** *कहा जाता है।*

चंक्रमण चारि

पादयोर्बाह्यपार्श्वाभ्यामुत्क्षिप्योत्क्षिप्य यत्नतः ॥३०१॥
गतिर्भवेच्चंक्रमणं वर्णितं नाट्यकोविदैः।

यदि दोनो पैरो को सावधानी से क्रमश उठा-उठा कर दोनों पार्श्वों मे आगे बढाया जाय, तो इस प्रकार के पाद-विन्यास को नाट्यकोविदो के मत से **चंक्रमण चारि** कहा जाता है।

सरण चारि

चलनं तु जलूकावदेकेनान्यस्य पार्ष्णिना ॥३०२॥
तिर्यगाकर्षयेद् भूमिं कराभ्यां तु पताकिके।
धृत्वा च गमनं यत्तु सरणं तदुदीरितम् ॥३०३॥

यदि जोक की गति की भाँति एक पैर को दूसरे पैर की एड़ी से सटा कर धरती मे तिर्यक् गति से पाद-विन्यास किया जाय और हाथो मे पताक मुद्रा धारण की जाय, तो उसे **सरण चारि** कहा जाता है।

वेगिनी चारि

पार्ष्णिना वा पदाग्रेण द्रुतं गत्या तु चालनम्।
कराभ्यां चालपद्मे च त्रिपताके यथाक्रमम्॥३०४॥
धृत्वा नटेद् यदि भवेद् वेगवत्त्वेन वेगिनी।

यदि एड़ी या पंजों के बल द्रुत गति से चलते हुए हाथों में क्रमशः अलपद्म और त्रिपताक हस्त मुद्राएँ धारण की जाँय, तो ऐसे पाद-विन्यास को वेगिनी चारि कहा जाता है।

कुट्टन चारि

पार्ष्णिना वा पदाग्रेण समस्तेन तलेन वा॥३०५॥
यत्ताडनं भूतलस्य कुट्टनं तदुदीरितम्।

यदि एड़ी से, पंजों से अथवा समस्त पादतल से ऐसा पाद-विन्यास किया जाय कि जिसमें धरती को कूटने या ताड़ने का भाव प्रदर्शित हो, तो उसे कुट्टन चारि कहा जाता है।

लुठित चारि

स्वस्तिकस्थितिपादाग्रे कुट्टनाल्लुठितं भवेत्॥३०६॥

यदि स्वस्तिक हस्त मुद्रा धारण करके पैरों के पंजों से पृथ्वी को कूटने या रौंदने का प्रदर्शन किया जाय, तो उसे लुठित चारि कहा जाता है।

लोलित चारि

पूर्ववत् कुट्टनं कृत्वा मन्दं मन्दमतः परम्।
अस्पृष्टभूमेः पादस्य चालनं लोलितं भवेत्॥३०७॥

उक्त विधि से पृथ्वी का कुट्टन करके धीरे-धीरे पाद-विन्यास किया जाय और इस प्रकार पाद-विन्यास करते हुए फिर पृथ्वी का स्पर्श न किया जाय, तो उसे लोलित चारि कहा जाता है।

विषम चारि

वेष्टयित्वा दक्षिणेन वामं वामेन दक्षिणम्।
क्रमेण पादं विन्यस्य भवेद् विषमसञ्चरः॥३०८॥

यदि बाँये पैर को दाहिने पैर से और दाहिने पैर को बाँये पैर से क्रमशः वेष्टित कर पाद-संचरण किया जाय, तो उसे विषम चारि कहा जाता है।

गति भेदों (चालों) का निरूपण

गति भेद

अथात्र गतिभेदानां लक्षणं वक्ष्यते क्रमात्।
हंसी मयूरी च मृगी गजलीला तुरङ्गिणी ॥३०९॥
सिंही भुजङ्गी मण्डूकी गतिर्वीरा च मानवी।
दशैता गतयो ज्ञेया नाट्यशास्त्रविशारदैः ॥३१०॥

पाद-भेदो का वर्णन करने के उपरान्त अब गति-भेदों (चालों) की परिभाषा और उनके भेदों का क्रमश. निरूपण किया जाता है। नाट्याचार्यों ने गति (चाल) के दस प्रकार बताये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं: १. हंसी, २ मयूरी, ३ मृगी, ४. गजलीला, ५ तुरंगिणी, ६ सिंही, ७. भुजंगी, ८ मण्डूकी, ९ वीरा और १० मानवी।

हंसी गति

परिवर्त्य तनुं पार्श्वे वितस्त्यन्तरितं शनैः।
एकैकं तत् पदं न्यस्य कपित्थं करयोर्वहन् ॥३११॥
हंसवद्गमनं यत्तु सा हंसी गतिरीरिता।

शरीर के दोनो पार्श्वों को क्रमश हिलाते हुए और एक बित्ते का अन्तर देकर एक-एक पैर को धीरे-धीरे आगे बढाते हुए और दोनो हाथों मे कपित्थ मुद्रा धारण किये हुए यदि हंसी गति की तरह पाद-विन्यास किया जाय, तो उसे हंसी गति कहा जाता है।

मयूरी गति

प्रपदाभ्यां भुवि स्थित्वा कपित्थं करयोर्वहन् ॥३१२॥
एकैकजानुचलनान्मयूरी गतिरीरिता।

यदि दोनो हाथो से कपित्थ मुद्रा धारण करके दोनो पंजो एव घुटनो से भूमि पर अवस्थित होकर एक-एक घुटने के बल आगे पाद-विन्यास किया जाय, तो उसे मयूरी गति कहा जाता है।

मृगी गति

मृगवद् गमनं वेगात् त्रिपताककरौ वहन् ॥३१३॥
पुरतः पार्श्वयोश्चैव यानं मृगगतिर्भवेत्।

यदि दोनो हाथो मे त्रिपताक मुद्रा धारण करके आगे या दांये-बांये मृग की तरह कुलांचें भरने की भांति पाद-विन्यास किया जाय, तो उसे मृगी गति कहा जाता है।

गजलीला गति

पार्श्वयोस्तु पताकाभ्यां कराभ्यां विचरंस्ततः ॥३१४॥
समपादगतिर्मन्दं गजलीलेति विश्रुता।

यदि दोनों हाथों से पताक मुद्रा धारण करके सम पाद गति से अगल-बगल झूलते हुए धीरे धीरे गमन किया जाय, तो उसे गजलीला गति कहा जाता है।

तुरंगिणी गति

उत्क्षिप्य दक्षिणं पादमुल्लङ्घ्य च मुहुर्मुहुः ॥३१५॥
वामेन शिखरं धृत्वा दक्षिणेन पताकिकाम्।
तुरङ्गिणी गतिः प्रोक्ता नृत्तशास्त्रविशारदैः ॥३१६॥

यदि बांयें हाथ से शिखर मुद्रा और दाहिने हाथ से पताक मुद्रा धारण करके दाहिने पैर को उठा कर क्रमश एक-एक पैर से वेगपूर्वक (तुरग की भांति) उछल-उछल कर गमन किया जाय, तो उसे नाट्याचार्यों के मत से तुरंगिणी गति कहा जाता है।

सिंही गति

पादाग्राभ्यां भुवि स्थित्वा पुर उत्प्लुत्य वेगतः।
कराभ्यां शिखरं धृत्वा यानं सिंहगतिर्भवेत् ॥३१७॥

यदि दोनों पजों के बल खडा होकर वेग से आगे की ओर कूद करके चला जाय और दोनों हाथों मे शिखर मुद्रा धारण की जाय, तो उसे सिंही गति कहा जाता है।

भुजगी गति

त्रिपताककरौ धृत्वा पार्श्वयोरुभयोरपि।
पूर्ववद्गमनं यत्तु सा भुजङ्गी गतिर्भवेत् ॥३१८॥

यदि दोनों हाथों मे त्रिपताक मुद्रा धारण करने के उपरान्त सिंही गति से दांये-बांये पाद-विन्यास किया जाय, तो उसे भुजंगी गति कहा जाता है।

मण्डूकी गति

कराभ्यां शिखरं धृत्वा किञ्चित् सिंहीसमा गतिः।
मण्डूकी गतिरित्येषा प्रसिद्धा भरतागमे ॥३१९॥

यदि दोनो हाथो से शिखर मुद्रा धारण की जाय और कुछ-कुछ सिंही गति की भाँति कूद-कूद कर गमन किया जाय, तो नाट्यशास्त्र के विधानानुसार उसे मण्डूकी गति कहा जाता है।

वीरा गति

वामे तु शिखरं धृत्वा दक्षिणेन पताकिका।
दूरादागमनं यत्तु वीरा गतिरुदीरिता॥३२०॥

यदि बाये हाथ मे शिखर मुद्रा और दाहिने हाथ मे पताक मुद्रा धारण की जाय और पैरो की गति मे दूर से आगमन का भाव दर्शित किया जाय तो उसे वीरा गति कहा जाता है।

मानवी गति

मण्डलाकारवद् भ्रान्त्या समागत्य मुहुर्मुहुः।
वामं करं न्यस्य कटौ दक्षिणे कटकामुखम्॥३२१॥
मानवी गतिरित्येषा प्रसिद्धा पूर्वसूरिभिः।

यदि बाँये हाथ को कटि भाग मे अवस्थित करके दाहिने हाथ से कटकामुख मुद्रा बना ली जाय और पैरो की गति मे बार-बार मण्डलाकार घूमने का भाव प्रदर्शित किया जाय, तो पूर्वाचार्यो के मत से उसे मानवी गति कहा जाता है।

अभिनय की अनन्त मुद्राएँ

मण्डलानि प्रयुक्तानि तथैवोत्प्लवनानि च॥३२२॥
भ्रमर्यश्चैव चार्यश्च गतयश्च परस्परम्।
एकैकभेदसम्बन्धादनन्तानि भवन्ति हि॥३२३॥

इसी प्रकार मण्डल, उत्प्लवन, भ्रमरी, चारी और गति भेदो का वर्णन किया गया। उनमे से एक-एक के पारस्परिक सम्बन्धो की दृष्टि से अनेक भेद होकर उनकी सख्या अनन्त हो जाती है।

एताश्च नर्तनविधौ शास्त्रतः सम्प्रदायतः।
सतामनुग्रहेणैव विज्ञेयो नान्यथा भुवि॥३२४॥

इसी प्रकार शास्त्र-दृष्टि और सम्प्रदाय-प्रभेद से अभिनय के अनन्त रूप-प्रकार हो जाते है। अत इन भेद प्रभेदो को जानने के लिए शास्त्रो एव सम्प्रदाय-परम्पराओ का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ नाट्यशास्त्र के आचार्यो तथा सज्जनो का अनुग्रह प्राप्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नही है।

●●●

चित्र सूची

नृत्त मूर्तियाँ

१. तन्वंगी नर्तकी
कांस्यमूर्ति, मोहनजोदारो, प्रागैतिहासिक

२. नृत्यरत मिथुन
चैत्य गुफा, कार्ले, प्रथम शती ई० पूर्व

३. राजनर्तक
पद्मावती, ग्वालियर, गुप्तकालीन, ५वीं-६ठी शती ई०

४. नृत्यरत अप्सरा
बाघ गुफा, ग्वालियर, ७वीं शती ई०

५. नृत्यरत गणेश
कन्नौज, ८वी शती ई०

६. नटराज
बादामी गुफा, ९वी-१०वीं शती ई०

७. तीन पुरुष नर्तक
कपिलेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर, उड़ीसा, १०वीं शती ई०

८. सुन्दरमूर्ति स्वामी
कांस्यमूर्ति, बृहदीश्वर मन्दिर, तंजोर, १०वीं शती ई०

९. एक नृत्य मुद्रा
संगमरमर मूर्तिशिल्प, दिलवर मन्दिर, माउण्ट आबू, ११वीं शती ई०

१०. नृत्यरत राम
कांस्यमूर्ति, दक्षिण भारत, चोलकालीन, ११वीं शती ई०

११. एक नृत्यांगना
खजुराहो, मध्य प्रदेश, ११वीं शती ई०

१२. एक नृत्यरत दिव्यांगना
बेलूर, मैसूर, १२वीं शती ई०

१३. ढोलवादक
सूर्य मन्दिर, कोणार्क, उड़ीसा, १३वीं शती ई० के मध्य

१४. ताण्डव नृत्य में नटराज
कांस्यमूर्ति, मद्रास म्यूज़ियम, १४वीं शती ई०

१ तन्वंगी नर्तकी
कांस्यमूर्ति, मोहनजोदारो, प्रागैतिहासिक

२ नृत्यरत मिथुन
चैत्य गुफा, कार्ले, प्रथम शती ई० पूर्व

३ राजनर्तक
पद्मावती, ग्वालियर, गुप्तकालीन, ५वीं-६ठी शती ई०

४. नृत्यरत अप्सरा
बाघ गुफा, ग्वालियर, ७वीं शती ई०

५ नृत्यरत गणेश
कनौज, ८वी शती ई०

६ नटराज
वादामी गुफा, ९वी-१०वी शती ई०

७· तीन पुरुष नर्तक
कपिलेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर, उड़ीसा, १०वीं शती ई०

८· सुन्दरमूर्ति स्वामी
कांस्यमूर्ति, बृहदीश्वर मन्दिर,
तंजोर, १०वीं शती ई०

९· एक नृत्य मुद्रा
संगमरमर मूर्तिशिल्प, दिलवर
मन्दिर, माउण्ट आबू, ११वीं शती ई०

१०. नृत्यरत राम
कांस्यमूर्ति, दक्षिण भारत,
चोलकालीन, ११वीं शती ई०

११. एक नृत्यांगना
खजुराहो, मध्य प्रदेश,
११वीं शती ई०

१२ एक नृत्यरत दिव्यांगना
बेलूर मैसूर १२वीं शती ई०

१३ ढोलवादक
सूर्य मन्दिर कोणार्क,
उड़ीसा १३वीं शती ई० के मध्य
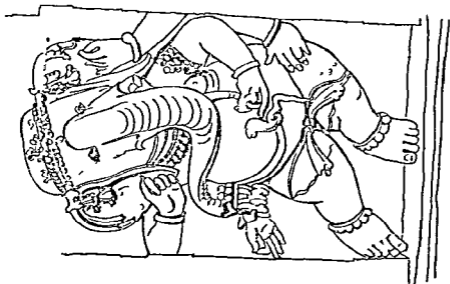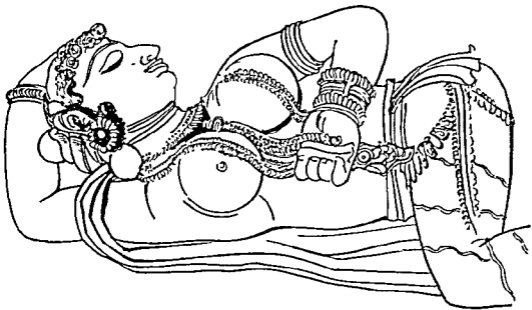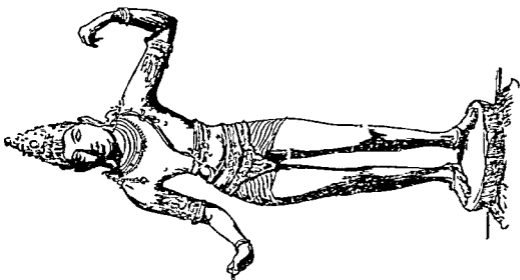
१४ ताण्डव नृत्य में नटराज
कांस्यमूर्ति मद्रास म्यूज़ियम, १०वीं शती ई०

संयुत और असंयुत हस्ताभिनय

संयुत हस्त

•

१. पताक हस्त
२. त्रिपताक हस्त
३. अर्धपताक हस्त
४. कर्तरीमुख हस्त
५. मयूर हस्त
६. अर्धचन्द्र हस्त
७. अराल हस्त
८. शुकतुण्ड हस्त
९. मुष्टि हस्त
१०. शिखर हस्त
११. कपित्थ हस्त
१२. कटकामुख हस्त
१३. सूची हस्त
१४. चन्द्रकला हस्त
१५. पद्मकोश हस्त
१६. सर्पशीर्ष हस्त
१७. मृगशीर्ष हस्त
१८ सिंहमुख हस्त (सम्मुख-पार्श्व)
१९ कांगुल हस्त (सम्मुख-पार्श्व)
२०. अलपद्म हस्त
२१. चतुर हस्त (सम्मुख-पार्श्व)
२२. भ्रमर हस्त
२३. हंसास्य हस्त
२४. हंसपक्ष हस्त
२५. सन्दंश हस्त
२६. मुकुल हस्त
२७. ताम्रचूड हस्त
२८. त्रिशूल हस्त
२९. व्याघ्र हस्त
३०. अर्धसूची हस्त
३१. कटक हस्त
३२. पल्ली हस्त

• • •

असंयुत हस्त

•

१. अंजलि हस्त
२. कपोत हस्त
३. कर्कट हस्त
४. स्वस्तिक हस्त
५. डोला हस्त
६. पुष्पपुट हस्त
७. उत्संग हस्त
८. शिवलिंग हस्त
९. कटकावर्धन हस्त
१०. कर्तरी स्वस्तिक हस्त
११. शकट हस्त
१२. शंख हस्त
१३. चक्र हस्त
१४. सम्पुट हस्त
१५ पाश हस्त
१६. कीलक हस्त
१७. मत्स्य हस्त
१८. कूर्म हस्त
१९. वराह हस्त
२०. गरुड हस्त
२१. नागबन्ध हस्त
२२. खट्वा हस्त
२३. भेरुण्ड हस्त

असंयुत हस्त
पताक
त्रिपताक
अर्धपताक
कर्तरीमुख
मयूर
अर्धचन्द्र
अराल
शुकतुण्ड
मुष्टि
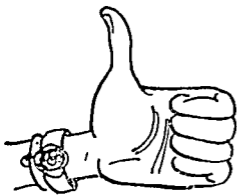
असंयुत हस्त

शिखर
कपित्थ
कटकामुख
सूची
चन्द्रकला
पद्मकोश
सर्पशीर्ष
मृगशीर्ष
सिंहमुख(सम्मुख)

सिंहमुख (पार्श्व)
कांगुल (सम्मुख)
कांगुल (पार्श्व)
अलपद्म
चतुर (सम्मुख)
चतुर (पार्श्व)
भ्रमर
हंसास्य
हंसपक्ष

सन्दंश
मुकुल
ताम्रचूड
त्रिशूल
व्याघ्र
अर्धसूची
कटक
पल्ली

सन्दंश
मुकुल
ताम्रचूड
त्रिशूल
अर्धसूची
पल्ली

संयुत हस्त
अंजलि
कपोत
कर्कट
स्वस्तिक
पुष्पपुट
शिवलिंग
कटकावर्धन

कर्तरी स्वस्तिक

शकट

शंख

चक्र

सम्पुट

पाश

कीलक

मत्स्य

कूर्म

वराह

गरुड

नागबन्ध

खट्वा

भेरुण्ड

आठ

•
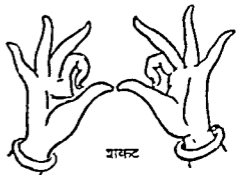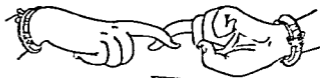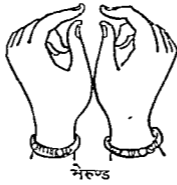
परिशिष्ट
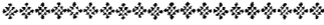
पारिभाषिक शब्दसूची

•

ग्रन्थपुटी

•

सांकेतिका

पारिभाषिक शब्दसूची

[ए० बैरेडल कीथ कृत सस्कृत ड्रामा, ऑक्सफोर्ड यूनि०, लन्दन, १९५४, मोनियर विलियम्स कृत सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड यूनि०, लन्दन, १९५६, वामन शिवराम आप्टे कृत सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी (तीन खण्डो मे), प्रसाद प्रकाशन, पूना, १९५७ ५९, पी० के० गोडे तथा सी० जी० कर्वे कृत सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी, प्रसाद प्रकाशन पूना, १९५७-५९, और केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पारिभाषिक शब्द-सग्रह, दिल्ली, १९६२ पर आधारित।]

अ

अक Act
अकमुख Anticipatory scene
अकावतार Continuation scene
अकास्य Part of an act
अकित Recorded
अग Base, constituent, element, factor, member
अगज Physical
अगरक्षक Body-guard, guard
अगराग Scented cosmetic
अगरूप Subsidiary
अगलीला Movement
अग-विक्षेप Gesture, physical movement, motion
अगविकृति Change of bodily appearance
अगस्थिति Position
अगहार Gesticulation, dance
अगारकार Charcoal-burner
अगी Predominant
अगुष्ठ First metacarpal
अजलि A cavity formed by folding and joining the open hands together
अन्तरग Private
अन्तरसन्धि Internal juncture
अन्तराल Interstice
अन्तर्ज्ञान Intuition
अन्तर्दृष्टि Insight
अन्तर्वस्तु Content
अन्त पुर Court, harem, inner appartment, women's appartment
अन्तस्साक्ष्य Intrenal evidence
अश Share
अक्षर Syllable
अकृत्रिम Genuine, simple
अग्राह्य Inadmissible
अघोषीकरण Hardening
अतिनिर्वहण Carry to excess

अतिप्राकृत Supernatural
अतिशय Excessive
अतिशयोक्ति Hyperbole
अतिशास्त्रवादिता Pedantr.
अद्भुत (रस) Marvellous, sentiment of wonder
अदृष्टाक्षेप Dramatic irony
अधःसीमा Lower limit
अधिकरण Locative
अधिमान Preference
अधिष्ठातृ देवता Deity, tutelary deity
अध्युच्चित्र Base relief
अननुरूप Inconsistent
अनपत्यता Childlessness
अनाटकीय Undramatic
अनामिका Ring finger, fourth metacarpal
अनियत यति Abnormal caesura
अनियत रूप Abnormal form
अनियमित Irregular
अनिर्वचनीय Ineffable
अनुकरण कला Mimetic art
अनुकरण सिद्धान्त Doctrine of mimesis
अनुकरणात्मक Mimic, imitative
अननुकरणीय Inimitable
अनुकार्य Person portrayed
अनुकृति Imitation, mimicry, representation
अनुज्ञा Allow
अनुतप्त Repentant
अनुकथा Address of gratituted
अनुपात Proportion
अनुबिम्ब After-image
अनुभाव Consequents, physical effect, external manifastation or indication of a feeling
अनुभूति Feeling
अनुमान Calculation, conjecture, inference
अनुमति Permit
अनुमिति ज्ञान Inferential knowledge
अनुयायी Follower
अनुरक्षक Escort
अनुराग Tender emotional
अनुराग निवेदन Evince affection
अनुरूपता Agreement, correspondence
अनुवृत्ति Continuation
अनुषंगी Auxiliary
अनुषक्ति Adherence
अनुष्ठान Rite
अनुष्ठित Performed
अनुसन्धि Subjuncture
अनुसरण Obedience
अनुसरण गति Pursuit movement
अन्यमनस्क Absent minded
अन्यमनस्कता Absent mindedness
अन्विति Unity
अपटी (चित्र जवनिका) Tapestry
अपरिवर्तनीय Inexorable
अपरूप Fantastic
अपवाद Exception
अपवारितक Asides
अपिनिहित (स्वर) Epenthetic
अपिनिहिति Epenthesis
अप्रत्यायक Unconvincing
अभिकथन Allegation
अभिकथित Alleged
अभिकर्ता Agent

अभिकल्पना Design
अभिजातवर्गीय Aristocratic
अभिधान Designation, nomenclature
अभिनटन कला Mimetic act
अभिनय Action, dramatic action, gesture, representation
अभिनय करना Acting
अभिनय विद्या Science of acting or dramatic representation, art of dancing
अभिनिवेश Atherence, devotion, attachment
अभिनेता Actor, Player
अभिनेतृ Actress
अभिनेय Acting
अभिपुष्टि Affirmance
अभिभावन Domination
अभियोक्ता Accuser
अभिरुचि Taste, fondness
अभिलिखित Recorded
अभिवन्दन Homage
अभिवचन Remark
अभिवृत्ति Attitude
अभिव्यंजना Expression
अभिव्यंजनात्मक क्रियाशीलता Expressive activity
अभिव्यक्ति Expression
अभिहित Addressed
अभ्यर्थना Appeal
अभ्यस्त Habitual
अभ्यागमन Visit
अभ्युक्ति Remark
अभ्युदय Temporal perferment
अमर्ष Anger, indignation
अमायिकता Sincerity
अमूर्त Abstract
अर्थोपक्षेपक Entr'acte, scene of introduction
अलंकार Poetic figure, figure of speech
अलौकिक Supernatural
अवज्ञा Defiance
अवतरणी (भूमिका) Preface, order, mathod
अवधारणा Conception
अवधि Duration
अवमानन Humiliation
अवर Inferior
अवस्था, अवस्थान Stage
अवेक्षणीय Remarkable
अश्लील Abusive
अश्रु Weeping
असन्तुलन Imbalance
असम्भाव्य Improbable
असत्प्रलाप Incoherent talk
असमानता Disparity
असाधारण Conspicuous, extraordinary
असाधारण उपचय Special development
असुर Demon
अहंकार Egoism, vanity

आ

आंगिक अभिनय Gestures, gesticulation expressed by bodily actions
आकाशभाषित Voice in the air, speaking in the air
आकम्प, आकम्पन Shaking, trembling motion
आकाशीय Ethereal
आकृति Appearance
आक्रन्द Lamentation

आख्यान Narrative tale
आचार्य Master, Professor, teacher, theorist
आतिथेय Host
आतिथ्य Hospitality, reception
आत्मगत Aside
आत्मनिवेदन Submission
आदेश Precept
आधार Base, ground
आधारभूत Fundamental
आधार सामग्री Data
आधिकारिक Principal
आनुवंशिक Genetic
आनुवंशिकता Heredity
आप्त, आप्तता, आप्त प्रमाण } Authority
आभास Appearance
आभासित Apparant
आभिजात्य Classical
आमुख Introduction, opening, Preface, prologue
आम्नाय Sacred, tradition
आयताकार Rectangular
आरोप Impose
आलंकारिक Ornamental
आलम्बन Object
आलम्बन विभाव Fundamental determinants
आलाप Voice
आवेग Agitation, impulse
आवृत्ति Frequency, recurrence
आशीर्वचन Benediction
आसन वेदी Pavilion
आहार्य Costume

इ

इंगित Hint, sign, gesture
इतिवृत्त Annal
ईर्ष्य Enviable
ईर्ष्या Envy

उ

उक्ति Expression, phrase
उत्कीर्तन Narration
उत्थापक Challenge
उत्पतन Flying-up
उत्प्लवन Jumping up, leaping up
उद्गाता Singer
उद्गार Effusion
उद्गीत Anthem
उद्घात्य Abrupt dialogue
उद्घोषित करना Proclaim
उद्दीपन Stimulus
उद्दीपन विभाव Excitant determinants
उद्भावना Invention
उद्भूति Manifestation
उद्वेग Distress, going swiftly
उपकल्पित Supposed
उपकरण Apparatus, instruments
उपनागरिका Refined
उपपत्ति Proof, reason, theory
उपसंहार Close, conclussion
उपस्थापन Presentation
उपाख्यान Episode
उपादान Material
उपालम्भ Rebuke, reproach

उपेक्षा Indifference
उपोद्घात Exordium

ऋ

ऋजुगति Rectilinear movement

ए

एकरूप } Monotonous
एकस्वर }
एकांक } one act, single-act
एकांकी }
एकाग्रता Concentration
एकान्विति Unity
एकालाप Monologue

औ

औद्धत्य Hauteur
औपचारिक Official

क

कंचुकी Chamberlain
कथक Reciter
कथानक Plot, story
कथास्थिति Situation
कथित Alleged
कथोद्घात Catastasis
कथोपकथन Conversation
कनिष्ठा Fifth metacarpal
करभास्थि Metacarpal
कलश Vase
कला Digit, any practical art
कलाकार Artist
कलात्मक योग्यता Artistic ability
कलानिर्मित Artificial
कलाबाज Acrobat
कला संकल्पना Art concept
कला संकाय Faculty of arts
कल्पना Idea, ingenuity, supposition
कल्पित Feigned, imaginary
काम Love
कामदेव God of love
कायिक चेष्टा Posture
कारु } Artiste
कारू }
कार्य Action
कार्यक्रम Proceeding
कालान्विति Unity of time
काषाय कंचुकी Red jacket
कुट्टिनी Go-between
कुतूहल Instinct of Curiosity
कुलगुरु Family precepter
कुलदेवता Lar
कुशीलव Actor
कृत्रिम Artificial
केलि Sportive play
कोमल Soft
कौशलपूर्ण Skilful
कौशिकी वृत्ति Graceful manner
क्रिया विधि Procedure
क्षपणक Monk
क्षेपक Interpolation

ख

खलनायक Villain

ग

गन्धर्व Demi God
गणिका Courtesan hetaera

गति
गतिविधि } Movement
गतिमूलक Kinetic
गतिभंग Ataxia
गण Tribrach
गर्भसंधि Development
गर्भांक Embryo act, embryo drama
गाथागीत Ballade
गीतिका Cantiga
गीति नाट्य
गेय नाटक } Opera
गेय पद Song proper
ग्राह्य Admissible

च

चतुरस्र Harmonious
चपलता Inconstancy
चरित्र चित्रण Characterisation
चारी Steps and movements
चित्तवृत्ति Mental condition, disposition
चित्र वेष Gay garment
चित्रण Delineation
चेट Slave, servant,
चेटी Female servant
चेतना Awareness
चेला
चेली } Acolyte
चेष्टा Action, gesture
चौरस Harmonious

छ

छन्दोबद्ध Metrical
छद्मवेश Disguised

छल Cheating ruse
छाया नट Shadow player
छाया नाटक Shadow drama
छाया नाटककार *Shadow dramatist*
छाया नाट्य Shadow play
छाया प्रक्षेप Shadow projection
छाया प्रयोग Shadow device

ज

जन नाट्यशाला Popular theatre
जनश्रुति Rumour
जनान्तिक Aside, private conversation
जवनिका Curtain
ज्येष्ठा नायिका Earlier heroine

ड

ढंग Manner, mode

त

तन्त्री वाद्य String instrument
तर्जनी Second metacarpal
ताल Time
तिरस्करिणी
तिर्यक यवनिका } Traverse curtain
त्रिगत Triple explanation
त्रिपताका Holding up three fingers
त्रिभुजाकार Triangular
त्रिमात्र Trimeter
त्रिमूर्ति Trinity

द

दर्शक Audience
दर्शक कक्ष Auditorium
दीक्षा Sacrament

दीक्षित Consecrated
दुन्दुभी Trumpet
दुःखान्त Tragic
दूत Ambassador, messenger
दृष्टान्त Instance
दृष्टि View
दृष्टिविक्षेप Side glance
दृष्टि विभ्रम Amorous glance
दृश्य Visual, scene
दृश्य सज्जा Mise-en-scene
दृश्यावली Scenery

ध

धार्मिक नृत्य Cult dance
ध्वनि Suggestion, sound
ध्वनि बिम्ब Acoustic image

न

नट Actor, comedian, dancer
नटन Dancing, acting, gesticulation
नटनी, नटी Actress, The wife of the Sūtradhār
नटरंग Theatrical stage
नटसूत्र Directions or rules for actors
नटधा Company of actors
नटाम्नाय Sacred traditions of actors
नर्त Dancing
नर्तक Dancer, dancing preceptor,
नर्तयितृ Dancing master
नर्म सचिव Boon companion
नर्म सुहृद Friend in sport
नान्दी Benediction, a short of prologue at the beginning of a drama
नाच Nautch
नाट Dancing, acting
नाटक Drama, heroic drama
नाटकक Actor, dancer of a drama
नाटक प्रबन्ध The arrangement of a drama
नाटक विधि Dramatic action
नाटकीकरण Dramatization
नाटकीय Dramatic, theatrical
नाटकीय गीत Dramatic lyric
नाटकीया Actress or dancing girl
नाटार, नाटेर } The son of an actress or dancing girl
नाटिका Lesser heroic comedy, short heroic comedy
नाटितक Mimic representation
नाट्य Mimetic art
नाट्यकला Dramatic representation
नाट्यगीत Action song
नाट्य धर्म Convention of dramatic form
नाट्यधर्मिका, नाट्यधर्मी } Rules of dramatic representation
नाट्य नृत्य Mimetic drama
नाट्य रास, नाट्य रासक } Pantomime, kind of play, consisting of one act
नाट्य रूप Dramatic form
नाट्य लक्षण Dramatic beauty, dramatic characteristic
नाट्य विवाद Agon
नाट्य वेद Science of drama * and dancing
नाट्यवेशी Stage
नाट्य वृत्ति Dramatic style

नाट्यशाला Theatre theatrical building dancing hall
नाट्यशास्त्र Dramaturgy, theory of dramatic art dramatic science
नाट्यशास्त्री Theorist on the drama
नाट्यशिल्पी Dramatic artist
नाट्य समारोह Dramatic exhibition
नाट्य सिद्धान्त Theory of dramatic art
नाट्य स्पर्श Dramatic touch
नाट्यागार Dancing building
नाट्याचार्य Dancing master
नाट्याभिनय Dramatic action
नाट्योक्ति Dramatic phraseology
नायक Hero
नायिका *Heroine*
निजन्धरी कथा Legend
निदेशक Director
निदेशन Direction
नियताप्ति Anagnorisis
निरपेक्ष सौन्दर्य Absolute beauty
निषेधात्मक Negative
निर्वहण Conclusion
निष्पत्ति Accomplishment achivement
नृत्त Dancing, acting, move about
नृत्तशास्त्र Science or art of dancing
नृत्तहस्त Position of the hands in dancing
नृत्य Dance, pentomime mimatic art
नृत्योन्माद *Dancing mania*
नेता Leader
नेपथ्य Raiment stage property, decoration an ornament
नेपथ्य गृह Actor's quarter or retiring room, toilet room
नेपथ्य प्रयोग Art of toilet making
नेपथ्य विधान Arrangement of the tiring room, dress and appearance
नेपथ्योक्ति Voice from behind the scene
नौटकी Dramatic sketch

प

पताका Episode
पताका स्थानक Equivoke, proepisode
परम्परा Tradition
परम्परागत Conventional
परिचर } Attendant
परिचारिका }
परिप्रेक्ष्य Perspective
पाठ *Text, recitation*
पाठाभिनय Actor play
पात्र Eligible figure
पादपीठ Foot-stool
पार्श्व Background, lateral
पार्श्विक गति Lateral movement
पीठमर्द Parasite companion, one who assists the hero of a drama
पुरातन Antique
पुष्पिका *Colophon*
पुस्त Model work
पूर्वपीठिका Prolegomena
पूर्वरंग Preliminaries
पूर्वस्थ Anteposition
पूर्वसूचना Presage
पूर्वाभासित Foreshadowed
पूर्वाभास Premonition
पौराणिक कथा *Legend*
पौराणिक पात्र Mythical figure

प्रकरणिका Little bourgeois comedy
प्रकरी Incident, interlude or episode inserted in a drama to explain what is to follow
प्रक्रिया Process
प्रक्षेप Projection
प्रगीत } Lyric
प्रगीतात्मक } Lyric
प्रज्ञान Noesis
प्रणति Submission, humility
प्रतिकृति Copy, reproduction
प्रतिनायक Enemy of the hero
प्रतिपादन Exposition
प्रतिबिम्बित Reflected
प्रतिमान Model
प्रतिमुख Progression
प्रतिरूपित Represented
प्रतिलोम Reverse
प्रतिवाद Contention
प्रतिषेध Forbid
प्रतीक Sign, symbol
प्रतीति Apprehension, perception, appearance
प्रतीहार } Doorkeeper
प्रतीहारी } Doorkeeper
प्रत्यक्ष Direct, obvious
प्रत्यय Suffix, concept
प्रत्ययग्रहण Affexture
प्रत्ययात्मक Conceptual
प्रत्याख्यान Denunciation
प्रत्यायक Convincing
प्रत्याहार A particular part of the Pūrva-ranga
प्रदर्शन } Exhibition
प्रदर्शनी } Exhibition
प्रधान Main
प्रभाव Impression, effect
प्रभेद Distinction
प्रयोक्ता Performer
प्रयोग Action, practice, usage use
प्रयोजक Sponsor
प्ररोचना Propitiation
प्रलाप Raving
प्रवर्तक Founder, author
प्रवर्तन Operation
प्रविधि Technique
प्रवेश Admission, entry, introduction
प्रवेशक Introductory scene, prelude
प्रवृत्ति Activity, tendency, trend
प्रशस्ति Eulogy, panegyric
प्रसन्न मुद्रा Glad appearance
प्रसाद Clearness, perspiquity, simplicity
प्रसाधन Toilet, dressing
प्रस्ताव Proposition
प्रस्तावना Prelude, prologue, introduction
प्रस्तुतीकरण Exposition, presentation
प्रस्थान Exit
प्रस्थापना Thesis
प्रहर्ष Raillery
प्रहसन Farce
प्रहेलिका Enigmatic
प्राकार Rampart
प्राक्कल्पना Hypothesis
प्रासंगिक वृत्त Episode
प्रियोक्ति Compliment
प्रेक्षकोपवेश Place for the audience, auditorium

प्रेक्षागार
प्रेक्षागृह } Play-house, auditorium, theatre
प्रेक्षास्थान

फ

फलागम Ending

ब

बिम्ब Disk

भ

भंगिमा Posture
भरतवाक्य Final benedication
भविष्य वाणी Prophesy
भाण Monologue
भाण्ड वाद्य Wind instrument
भारती वृत्ति Verbal manner
भाव Emotion, display of imotion, state of feeling, sentiment
भावचित्र Ideogram
भावचेष्टा Amorous gesture
भावदशा Mood
भावना Feeling, spirit, sentiment
भावनेरि A kind of dance
भाव विक्षोभ Emotional disturbance
भाव-वृत्ति Affect
भाव-शबल Mixture of various emotions
भावात्मक Emotional
भावात्मक अभिवृत्ति Emotional attitude
भावात्मक प्रतिक्रिया Emotional reaction
भावान्तरण Displacement of affect
भावाभास Affective fallacy
भावावेग Passion
भावोन्माद Emotional insanity

भावुकतापूर्ण Sentimental
भावोद्बोधन Creation of sentiment
भूमि Stage
भूमिका Part, role
भ्रकुंस A male actor female attive

म

मंगल नृत्य Circular dance,
मंगल श्लोक Verse of berediction
मण्डल Circle, orb, ground
मण्डलक Disk
मण्डल नृत्य Circular dance, dance a ring
मण्डली Group
मत्तवारणी Varanda
मध्यमा Third metacarpal
मध्यान्तर
मध्यावकाश } Interval
मन Mind, spirit
मनोभाव Disposition of mind, sentiment
मनोरंजन Entertainment
मनोविनोद Amusement
मनोवेग Emotions
मनोवृत्ति Mentality, temper
महाचारी Violent movements
महानृत्य Cosmic dance
मुख (संधि) Opening
मुख्य Main
मुख्य भाव Leading idea
मुख्य रस Leading sentiment
मूक अभिनेता Mummer, pantomime
मूक नाट्य Mummery, pantomime
मूर्च्छना Cadence
मौलिकता Originality

य

यति Diaeresis
यवनिका Curtain

र

रंगजीवक } Actor, player
रंगजीवी }
रंग निर्देश Stage direction
रंगपीठ Stage, platform
रंगप्रवेश Entering on the stage
रंग मंगल A festive ceremony on the stage
रंगमंच Stage
रंग मण्डप Play-house, theatre
रंगशाला Theatre
रंगोपजीवी Player
रतिभाव Erotic, love
रमणीयता Charm, sweetness
रस Sentiment
रस निष्पत्ति Creation of sentiment
रस-प्रतीति } Realization of sentiment
रस-भावना }
रसास्वाद Aesthetic pleasure
राग Mode of music
राग-रागिनी Modes of singing
रागाभाव Acathexis
रास } Ballet, a kind of dance
रासवेलि }
रासमण्डल Sportive dance, circular dance
रासलीला Erotic game
रीति Manner, style, fashion
रूढ़ि Convention
रूप Aspect, fashion, form
रूपक Drama, metaphor
रूपक प्रकार Dramatic type
रूप भेद Variant
रूपान्तर Adaptation, version
रूपाजीवा Courtesan
रोमांच Horripilation

ल

लक्षण Mark, trace, trait, sign
लक्षणा Indication by speech
लय Rhythm
ललित Gay, light-hearted
ललित अंगहार Grace of form
ललित कला Pleasant art
ललित कला अकादेमी Academy of Fine Art
लाक्षणिक Metaphorical
लालित्य Grace, elegance
लीला भाव Sportive mood
लोक आख्यान Folk myth
लोकनीति Folk ethics
लोकनृत्य Folk dance
लोकधर्मी Popular, mundane
लोकरीति Folk custom
लोकविश्वास Folk belief
लोकाचार Mores
लोकानुमोदन Popular approval
लौकिक Popular
लौकिक आनन्द Normal pleasure

व

वंश Family, line, stock
वंशानुगत Hereditary
वन्दना Salutation

व्यंग्योक्ति Satire
व्यंजना शक्ति Power of suggestion
व्यभिचार Adultery
व्यसन Vice
व्याख्या Explanation, interpretation
व्याख्याता Interpretor
व्यास Diameter
व्युत्पत्ति Etymology, aesthetic equipment
व्रीडा Shame
वृन्दगान Chorus
वृत्त Action, circle, orb
वृत्ति Career, profession, commentary

श

शकार Miles gloriosus
शठ Deceitful
शलाका Pencil
शाला School
शास्त्रकार Theorist
शिखा Tuff of hair
शिल्पकार } Artiste
शिल्पकारी }
शैक्षिक Academic
शैली Style, genre, charactor
शोक गीत Dirge
श्लेष Pun, Paronomasia
श्लोक Verse
शृंगारिक Voluptuos
श्रुति कटुत्व Cacophony
श्रुति माधुर्य Enargia
श्रोता Listener

स

संकल्प Determinatoin, purpose, will
संकल्पना Conception
संकुचन गति Shrinking movement
संकेत Allusion hint, indication
संकेत भाषा Gesture language
संक्रमण Transitional
संक्षेप Compendium
संगत Accompaniment
संगति Consistency, harmony
संगीतकार Comaposer
संगीत गोष्ठी Concent
संगीत रूपक Musical feature
संगीत सभा Concert club
संघ Fraternity, order
संचलन Locomotion
संचारी Transient
संचारी भाव Evanescent feeling transitory state, associated state
संज्ञान Cognition
सन्दर्भ Context reference
संधि Contraction, juncture
सन्ध्यन्तर Special juncture
सम्प्रसारित Epenthetic
संभाषक Interlocutor speaker
सम्मिलित Combined
संयम Continence
संयुक्त Combined
संयुक्त पाद Combined footing
संयोजन Combination
संलाप Dialogue
संवाद Dialogue, conversation
संवेग Emotion
संवेगात्मक Emotional
संवेदन Perception

संस्थापक Founder
सखी Maiden
सत्त्व (गुण) Element of goodness, element of truth
समरूप Analogous, equivalent, parallel
समरूपता Coincidence, similarity
समर्पण Resignation, offer
समवकार Kind of drama
समवर्गी Allied
समवेत गान Chorus
समवेत वादन Instrumental concent
समानता Parallelism
समापक Finishing, fulfilling
समाम्नाय Traditional repetition or mention
समारोह Ceremonial party
सर्ग Canto
सर्ववेशिन An actor
सहचर / सहचरी Confident companion
सहचारी Associative
सहायक Tributory
सांगीत Opera
सांगीत पाठ Libretto
सात्त्विक अभिनय Expression
सात्त्विक भाव Physical counterparts of feelings and emotions
सात्त्विकी वृत्ति Grand manner, apollonian spirit
सादृश्य Parallelism
साधारणीकरण Generic action
सामञ्जस्य Harmony
सालभञ्जिका Figure
सुकुमार Delicate, tender
सुखात्मक Hedonic
सुसंस्कृत Improved
सूक्ष्मार्थ Amablysia
सूत्रधार Director, stage director, narrator
सौन्दर्य Elegance
सौन्दर्यात्मक अभिवृत्ति Aesthetic attitude
सौन्दर्यानुभूति Aesthetic experience
स्थानक Particular point or situation in dramatic action
स्थापक Stage-master
स्थायीभाव Dominant emotion, sentiment
स्थित पाठ्य Standing recitation
स्थिति Situation, status
स्पर्श Mute, touch
स्मृति Recollection
स्वगत Aside, personal
स्वभाव Genius, nature, temper, temperament
स्वरभंग Change of voice
स्वरैक्य Concord
स्वांग Mime, mimic art, mimetic performance
स्वेद Perspiration

ह

हर्ष Joy
हल्लीश Dancing in a ring
हल्लीशक One of the 18th uparupakas or minor dramatic composition, a kind of circular dance.
हाव भाव Gesture and posture
हास्य Jesting, amusement, comic
हास्योत्पादक Comic

• • •

ग्रन्थसूची

● ●

नाट्यशास्त्र

Abhinavagupta

Abhinava Bhārtī ke tīn Adhyāya, with a comm on Nātyaśāstra of Bharata, with oriental text and Hindi translations and textual criticism, by Viśwēśwar Sidhānta Śiromani Delhi, The University—Hindi Dept. 1960
Sanskrit-Hindi

Bharata

Natyaśāstra (A treatise on the theatre including the art of Music and dancing) Edited by Śivadatta and Kaśinātha Pandurang Parab (Kavyamālā Series No 42) Bombay, 1894 *Sanskrit*

Bharata

Nātyaśāstra, tr. by cintāmana Gangādhar Bhānu Poona, S B Majumdār, 1917 *Marathi*

Bharata

Nātyaśāstra Ed by Batuknātha Śarmā and Bāladeva Upādhyāya (Kaśi Sanskrit Series, No 60) Benaras, 1929 (Chapt 1-36) *Sanskrit*

Bharata

Nāṭyaśāstra, in four volumes, with the commentary Abhinava Bhārtī of Abhinavagupta Ed with an Index and Illus by Rāmakrsna Kavi (Gāekwād's Oriental Series), Baroda, 1934 to 1954 *Sanskrit*

Bharata

Nāṭyaśāstram, with Hindi tr by Bholānātha Śarmā Kanpur, Sahitya Niketan, 1954 (First 3 Chapters) *Sanskrit Hindi*

Bharata

The Natyasastra Critically ed with introd by Manomohan Ghos Calcutta, Asiatic Society 1956 (Bibliotheca Indica 272A) Text Variantis in footnotes
Sanskrit English

Bharata

Natyaśastram Ed with Hindi tr by Ramgovinda Śukla, 2nd ed (Haridasa Sanskrit Series No 223) Benaras Chowkhamba Sanskrit Series office 1957 (Chap 1 2)
Sanskrit Hindi

Bharata

Natyaśastra with Hindi tr by Krsnadatta Vajapeyi ed by Umanath Bali Lucknow Bhata Khande Sangit Vidyapith 1959 Pt 1 Adhyaya 1 7 Includes Sanskrit text
Sanskrit Hindi

Bharata

Natyaśastramu tr from Sanskrit with Telugu by Ponangi Śrirama Apparav Secunderabad Āndhra Pradesh Natya Sanghamu 1959 Illus Plates Bibliog Along with the Commentary Gupta Bhavaprakaśika
Telugu

Bharata

Natyaśastram tr by Banambar Ācarya Bhubaneśwar Orissa Sahitya Akademi 1964 V I
Oriya

Bharata

Natyaśastra with Hindi tr by Raghuvanś Varanasi Motilal Banarasidas 1964 (Chap 1 7)
Sanskrit Hindi

Bharatiya Natyashastra, By

Godavari Vasudev Kelkar Poona Abhibhusan Press 1928
Marathi

Bharatiya Natyashastram

Traite de Bharata Sur le Theatre Texte Sanskrit edition critique avec une introduction Les variantis tirces de quatre manuscripts une table analytique et des notes Precedee Par Toanny Grosset (Annales de L Universite de Lyon, fasc XL) Tome I Paris (Lyon), 1898
Sanskrit English

Varma, K M Ed

Natyaśastrasamgraha Vols I II Calcutta Orient Longmans 1956
Sanskrit English

••

अभिनयदर्पण

MANUSCRIPTS

1 A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Adyār Library, Part II, p 46a
2 A Hand-list of Manuscripts in the Āndhra University Library, Waltair, 32728
3 A Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of the India office, London Part III, 1248, 3090
4 A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Library of the India office, London 1249, 5270
5 A Classified Index to the Sanskrit Manuscripts in the Palace of Tanjore, 60 b (10 Mss)
6 A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, 12980 85, 15864 (with Telugu)
7 A Triennial Catalogue of Manuscripts Collected for the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, 1471, 39746 b, 5316, 5896 b
8 A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Government Oriental Manuscripts Library, Mysore, I, p 307 (Fr)
9 A List of Sanskrit Manuscripts in the Private Libraries of Southern India, Vol I, Madras, 16, 950, 2503, 7264, II, 450, 500, 2205, 5473
10 Report on a Search for Sanskrit and Tamil Manuscripts for the year 1869 97, II, 304
11 The list of the unprinted Sanskrit and Kannada Manuscripts in the Palace Sarswati Bhandar (Maharaja's Sanskrit College), Mysore, p 7
12 A Catalogue in Slips of the Manuscripts in the Telugu Academy, Cocanada, 1950
13 A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tanjore Maharaja Serfoji's Sarswati Mahal Library, Tanjore, 10685 94
14 A Hand-list of the Sanskrit Manuscripts acquired for the Travancore University Manuscripts Library, Trivandrum, 4353
15 A typed list of the Manuscripts in the Vishwabharti, Santiniketan, 3038 (A), 3135
16 A Catalogue of South Indian Sanskrit Manuscripts (especially those of the whish Collection) in the Royal Asiatic Society, London, 110
17 A Hand-list of the Manuscripts in Ramnagar State, Varanasi, III, p 257

PRINTED

Coomaraswamy, Anand and Gopala kristnayya, tr.

The Mirror of Gesture, being the Abhinayadarpana of Nandikēsvara, tr into

English with intro and notes London, (Cambridge), Harvard University press, 1917
Reprint K Paul, London 1936 Illus *English*

Nandikesvara

Abhinayadarpana, tr by Kēsav Bhagvant Punēkar Baroda, desi Shikshan Khate, 1901 *Marathi*

Nandikesvara

Abhinayadarapanam, A manual of gesture and posture used in Hindu dance and drama Edited with intrd English tr and notes, by Manomohan Ghos (Calcutta Sanskrit Series, No 5) Calcutta, 1934
Sanskrit English

Revised 2nd ed with English translation, notes, illus and the text Critically Calcutta, K L Mukhopādhyaya, 1957 *Sanskrit English*

Nandikesvara

Abhinayadarpanam A manual of gesture and posture used in Hindu dance and drama Ed with a Bengali Translations, notes and illustrations, by Aśokanāth Bhattācarya, with a foreword by Dr Avanīndranāth Tagore, Calcutta, 1938 *Sanskrit Bengali*

Nandikesvara

Abhinayadarpana, with illus, tr by Ranjan Madras, Nātya Nilayam, 1949
Tamil

Also Contains 'History of dancing in Tamil' by the translator

Nandikesvara

Abhinayadarpanam, with illus tr from Sanskrit by Virārāghavayyan Madras, U V Swaminathaiyar Library, 1957
Contains Sanskrit text *Sanskrit Tamil*

Nandikesvara

Bharatārnavah, with English and Tamil translations ed by K Vasudeva Sāstri Tanjore Sarsvati Mahal Library, 1957 *Sanskrit English-Tamil*

सूची

भारतीय नाट्य और रंगमंच पर सन्दर्भ ग्रन्थ

ASSAMESE

Barua, Satyaprasad

Natak aru abhinava prasanga Gauhati, Padma Prakash 1961 Foreword by Atulcandra Hajarika.

ENGLISH

Ambrose, Kay

Classical dances and Costumes of India, London, Adamard Charles Black, 1957

Anand, Mulk Raj

Dancing foot Delhi, Ministry of Imformation and Broadcasting 1957

Andhra Pradesh Sangeeta Natak Academi, Hyderabad

Music, dance and drama in Āndhra Pradesh, report of the Survey, ed by V R Krisna and Śrinivas Cakravarti Hyderabad Dec, 1960

Archer, William

Play making A manual of craftsmanship, London, 1912

Bandyopadhyay, Prajesh

The Folk dance of India, 2nd ed edited Allahabad Kitabistan 1959 with plates and bibliog

Bhartiya Nrtya Kala Mandir, Patna

Bulletin, Vol 1, No 1 Feb 1958 Illus (Periodicals)

Bruhl, Odette Monod

Indian Temples Oxford, University Press, 1937 Second ed 1952 Illus Notes and Index with a preface by Sylvan Levi

Coomarasvamy, Ananda

Hindu Theatre Indian Historical qur Vol 9, 1933

Coomaraswamy, Ananda

The dance of Śiva Bombay, Asia Publishing House, 1952 Illus Photos

Datta, Gurusaday

The Folk dance of Bengal ed by Asok Mitra Calcutta, Birendra Saday Datta, 1954 List of plates with explanatory notes at end

Ghurye, Govind Sadashiv

Bharatnatya and its Costume Bombay, Popular Book Depot, 1958 (with plates)

Gupta, Chandrabhan

Indian Theatre Varanai, Motilāl Banārsidas, 1954

India

Ministry of Information and Broadcasting Publications Division Indian dance Delhi, 1957 Illus Photos Reprint, First Pub in 1955
Talks broad cast in the National programme from the Delhi Station of All India Redio in a Series entitled 'Indian Dance'

India

Ministry of Information and Broadcasting Publications Division
Indian dance Delhi, 1957, Illus Photos

India

Ministry of Information and Broadcasting Publications Division
Indian drama Delhi, 1959, Plates Reprint First Pub in 1956

India

Ministry of Information and Broadcasting Publications Division
Folk dances of India Delhi, 1960 Reprint, First Pub in 1956

India

Ministry of Scientific Research and Cultural Affairs
Aspects of Theatre in India today New Delhi, 1960 Plates

India

• Ministry of Transport and Communications. Tourist Division
The Dance in India Delhi, Publications Division, 1958 Illus

Indian Classical Dances

New Delhi, Hind Gyan Mala, 1960

Krishana Ayyar, E.

Bharata Nātya and other dances of Tamilnad Barod, College of Indian Music, dance and dramatics, 1957
College of India music and dramatics Publication Series, No. 5

Leela, Row Dayal

The Classical dances of India Delhi, Publication Division, 1960

Leeson, Francis

Kām śilpa (A study of Indian Sculptures depicting Love in action), with plates, notes, bibliography and index Bombay, D B Taraporewala, 1962

Mankad, D. R.

Ancient Indian Theatre (an interpretation of Bharata s Second Adhyaya) 2nd ed edited Ānand, Charotar Book Stall, 1960 Previous ed 1950

Munshi, K. M.

Sage of Indian Sculpture Bombay, Bharatiya Vidya Bhawan, Illus Notes

Ranganath, H. K.

The Karnātak Theatre Dhārwar, Karnatak University, 1960 (Karnātak Univeristy Research Series 1) with bibliog and footnotes.

Richards, North

The Village Play, by North Richards, by Dinkar Kausik Delhi, Publications Division, 1961 Illus Previous ed 1956

Seminar on Contemporary

Play-Writing and Play-Production, New Delhi 1961 Report (New Delhi), Bhartiya Nātya Sang, 1961

Thomas, P.

Kāma Kalpa, (or the Hindu Ritual of Love), with Plates and Index Bombay, D B Tāraporewāla, 1960

Varma, K. M.

Nātya, nṛtta and nrtya, their meaning and relation Calcutta, Orient Longmans, 1957

Wilson, H. H. and others

Theatre of the Hindus Calcutta, Suśil Guptā, 1955

गर्ग, लक्ष्मीनारायण

भारत के लोकनाट्य, हाथरस, संगीत कार्यालय, १९६१ सचित्र।

गर्ग, लक्ष्मीनारायण सम्पा०

नाटक अङ्क, संगीत पत्रिका, हाथरस, संगीत कार्यालय, [ ]।

गर्ग, लक्ष्मीनारायण

कथक नृत्य, हाथरस, संगीत कार्यालय, [ ]।

गोविन्ददास, सेठ सम्पा०

रामलीला एक परिचय, महत्त्वपूर्ण रामनगर अवतार, दिल्ली, भारतीय विश्व प्रकाशन, १९५९, सचित्र।

गोविन्ददास, सेठ

नाट्यकला मीमांसा, ग्वालियर, मध्यप्रदेश शासन परिषद, १९६१, शब्दसूची तथा सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।

चतुर्वेदी, सीताराम

अभिनव नाट्यशास्त्र, स्वयं रचना, संस्कृत मूल और हिन्दी व्याख्या सहित, भाग १, इलाहाबाद, किताब महल, १९६४।

चतुर्वेदी, सीताराम

✓ भारतीय तथा पाश्चात्य रङ्गमञ्च, लखनऊ हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, (हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ८०), १९६४, चित्र, रेखाचित्र एवं फोटो।

जैन, के० एम०

कत्थक नटवरी नृत्य, द्वितीय संस्करण, लखनऊ, देववाणी प्रकाशन, १९५८, सचित्र।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद

✓ नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, संस्कृत मूल, हिन्दी अनुवाद और धनिक की वृत्ति सहित, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, १९६३।

परमार, श्याम

लोकधर्मी नाट्य परम्परा, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक, १९५९।

परिहार, राधाकृष्ण

नृत्यकला मञ्जरी, पिलानी, बिरला शिक्षा संस्थान, [ ], सचित्र।

BENGALI

Bhattacharya, Charuchandra

Atha nata ghatuta, by Sutradhar, Calcutta, Basudhārā, 1961 Illus

Chaudhuri, Binay

Banga rangamañca Calcutta, Sahitya Chayanika, 1961

Das, Prahalad

Nṛtyavijñān Kathakalinrtya Mudrā 2nd ed Calcutta, Prabhāt Kāryālaya, 1959 Illus Diagrs

Ghosh, Manomohan

Pracina Bharter Natyakalā Calcutta, 1945

Ghosh, Shantidev

Grāmin Nṛtya O Nātya Calcutta, Indian Associated, 1960 with Pts 9 Essays

Indramitra,

Sughar, Calcutta, Tribēnī 1961, Illus

Sen, Ashok

Abhinayasilpa O Natyaprayojana Calcutta, A Mukherjee, 1961. Illus

Sutradhar

Vol 1, No 1, Calcutta, June 1960

GUJRĀTI

Madiya, Chunilal Kalidas

Natak Bhajavatām Pahelum Disa Parichaya Pustika Pravritti, 1958

Thakar, Jasvant Dayashankar

Lokanrtya and gamḍuni Baroda, Prachyavidya Mandir, 1961 Diagrs

हिन्दी

ओझा, दशरथ

नाट्य समीक्षा, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २०१६ वि०।

गर्ग, लक्ष्मीनारायण

नाट्यभारती, हाथरस, संगीत कार्यालय, १९६१, सचित्र।

गर्ग, लक्ष्मीनारायण

भारत के लोकनाट्य, हाथरस, सङ्गीत कार्यालय, १९६१ सचित्र।

गर्ग, लक्ष्मीनारायण सम्पा०

नाट्य अङ्क, सङ्गीत पत्रिका, हाथरस, सङ्गीत कार्यालय, [ ]।

गर्ग, लक्ष्मीनारायण

कत्थक नृत्य, हाथरस, सङ्गीत कार्यालय, [ ]।

गोविन्ददास, सेठ सम्पा०

रामलीला एक परिचय, सह-सम्पादक रामनारायण अग्रवाल, दिल्ली, भारतीय विश्व प्रकाशन, १९५९, सचित्र।

गोविन्ददास, सेठ

नाट्यकला मीमांसा, ग्वालियर, मध्यप्रदेश शासन परिषद, १९६१, शब्दसूची तथा सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।

चतुर्वेदी, सीताराम

अभिनव नाट्यशास्त्र, रूपक-रचना, संस्कृत मूल और हिन्दी व्याख्या सहित, भाग १, इलाहाबाद, किताब महल, १९६४।

चतुर्वेदी, सीताराम

✓ भारतीय तथा पाश्चात्य रङ्गमञ्च, लखनऊ, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, (हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क ८७), १९६४, चित्र, रेखाचित्र एवं फोटो।

जैन, के० एस०

कत्थक नटवरी नृत्य, द्वितीय संस्करण, लखनऊ, देववाणी प्रकाशन, १९५८, सचित्र।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद

✓ नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, संस्कृत मूल, हिन्दी अनुवाद और धनिक की वृत्ति सहित, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, १९६३।

परमार, श्याम

लोकधर्मी नाट्य परम्परा, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक, १९५९।

परिहार, राधाकृष्ण

नृत्यकला मञ्जरी, पिलानी, बिरला शिक्षण संस्थान, [ ], सचित्र।

प्रकाश नारायण

मणीपुरी नृत्य, इलाहाबाद, कला प्रकाशन, १९६१, सचित्र।

प्रकाश नारायण

कत्थक नृत्य, इलाहाबाद, कला प्रकाशन, विलख-सङ्गीत सदन प्रकाशन, १९६१, सचित्र।

प्लानिंग रिसर्च ऐण्ड ऐक्शन इन्स्टिट्यूट, लखनऊ

लोक रङ्गमञ्च और लोक सङ्गीत, लखनऊ, १९६२।

भारत, वैज्ञानिक अनुसन्धान और सांस्कृतिक कार्य मन्त्रालय

भारतीय रङ्गमच के क्षितिज, नयी दिल्ली, [ ], चार निबन्ध।

रघुवंश

नाट्यकला, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस, १९६१, सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, टिप्पणियाँ।

राय, गोविन्दचन्द्र

भरत नाट्यशास्त्र मे नाट्यशालाओ के रूप, वाराणसी, काशी मुद्रणालय, १९५८।

वर्मा, केशवचन्द्र

भारतीय नृत्यकला, इलाहाबाद, किताब महल, १९६१, सचित्र।

विमल देवी

नाट्यशिक्षा भाग १, दिल्ली, भारतीय सङ्गीत विद्यालय, १९५६।

विश्वेश्वर, आचार्य, सिद्धान्त शिरोमणि अनु०

नाट्यदर्पण, संस्कृत मूल, हिन्दी अनुवाद तथा समीक्षात्मक टिप्पणियाँ, दिल्ली, विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग १९६१।

शर्मा, विश्वामित्र

भारत के लोकनृत्य, दिल्ली, आत्माराम ऐण्ड सन्स, १९६१, सचित्र।

MALAYĀLAM

Gopinath, C.

Kathakalinatanam Kottayām, Sahitya Pravarthaka C. S. Ltd. 1959 (with Illus., Plates. and Photos)

Kuttikrishana Menon, V. M.

Kēralatule natanakali Trichur, Manglodayam, 1957.

Menon, K. P. S.

Kathakalīrangam. Kozhikode, Mathrubhumi, 1957. (with Pts.).

Narayana Nampisran, Tiruvannattu

Hastalaksanadipikā, 2nd rev. ed. Kozhikode, K. R. Bros. 1959. illus. Previous ed. 1926.

Natakashala

Vol. 1, No. 1, Quilon, the editor, 1962 Monthly ed. by M S Gopālakrsnan

MARĀTHĪ

Barve, Narahari Anant

Marāthī Nātya Parisad : Itihās Va Kārya, by Narahari Anant Barvē and Mukund Śrīnivās Kānade. Poona, Venus, 1961, Illus.

Joglekar, Nana

Rangabhūsā : Śāstra Va Kalā Poona, Joshi ani Lokhande Prakāashan, 1962. Illus. Diagrs. Photos.

Joshi, Vinayak Krishana

Loknātyācī Paramparā. Poona, Thokal Prakashan, 1961 Photos.

Kale, Keshav Narayan

Nātya Vimarśa. Bombay Popular, 1961. (Essays)

Khote, Nandu

Nātyadaraśan arthāt Nātak Kasem Pasavāvem Bombay, Rāmakrsna Book Depot, 1959.

Retar, Nana Ganpat

Bhāv Nātya arthāt Naklā. Nagpur, Puja Prakashan, 1960. Photos.

SANSKRIT

Ashokamalla

Nrtyādhyāya. A work on Indian dancing. Ed. by Priyabālā Śāh, Baroda, Oriental Institute, 1963. (Gāekwād's Oriental Series, No. 141).

Aumapatam

Ed by K. Vāsudēva Śāstri Madras, Govt. Oriental Manuscripts Library, 1957 (Madras Govt. Oriental Series, No. 129, ed. by T. Candraśēkharan).

Dhananjaya

✓ Dasrūpak Bombay, Nirnaya Sāgar Press, 1928.

Kumbhakarnanripati

Nrtyaratanakośa, part I, II, ed by Rasiklal Chotālāl Pārikh and Priyabālā Śāh. Jaipur, Rājasthan Oriental Research Institute, 1957. (Rājasthān Purātangranthamālā No 14, ed by. Jinvijayamuni.

Mansar Shilpashastra

✓ Ed bv P. K Ācārya, Oxford, University Press, 1933

Natyashastrasangrahah

Ed with English, Marathi and Tamil, tr by K Vāsudeva sāstri, Krsnaswami Mahādik and G Nāgarājarāv Tanjore, Sarasvatī Mahal Library, 1961 pt 2 (Tanjore Sarasvati Mahal Series, No 90). *Sanskrit-English-Marthi-Tamil*

Ramchandra Gunabhadra

Nātyadarpan Baroda, Gāekwād's Oriental Series, 1929

Sharngadeva

Sangitratnākar, Nartana (Dance) Ed by S Subrahmanya Śāstri, Chap 7. Madras, Adyār Library and Research Centre, 1953 (The Adyār Library ✓ Series, No 86) with Text, Index of verses and technical terms *Saskrit-English*

Sagarnandi

✓ Nātaklaksanaratanakosa, Oxford, University Press, 1937

Shah, Priyabala. ed.

✓ Nrttasangrahah, Jaipur, Rajasthan Oriental Research Institute, 1956 (Rājasthān Purātangranthamālā No. 17, ed bv Jinvijayamuni).

TAMIL

Balasarasvati, T.

Bharatanāṭṭiyam, by T Bālasarasvati and V. Raghavan Madras, Avvai Noolagam, 1959 Sponsored by Southern Langueges Book Trust.

Kannan, C. R.

Nāṭṭiyakkalāi Madras, Malligai Padippagam, 1962. Illus

Ponnayya
Ponnaiya Manimalai, by Ponnayyā and others, ed by K P Kittappā and K P Śivānandam Ahamedabad, Darpana, sold by Ponnaya Kalaiyagam, Madras, 1961

Vatsyayan, Kapila
Intiyakkiramiya natannkal, by Kapila Vātsyayan and Saccidanand Vatsya yan tr from English by M A Abbas, Madras, Avvai Noolagam, 1959 pt Illus Sponsored by Southern Languages Book Trust

TELUGU

Chillakuri, Divakarakavi
Bharat Sāra Sangrahamu, ed by T V Subbarao Madras Govt Oriental Manuscripts Library, 1956 (Madras Govt. Oriental Manuscripts Library Series, No 116, ed by T Candrasekharan)

Natakrangam
Vol I, No 1 Madras, the editor, May 1959 Illus Fortnightly,

Ramakrishana, Nataraja
Nartanabala Vijayavada, Visalandhra Prachuranalayam, 1957 Illus

Ramakrishana, Nataraja
Nrtyarekha Vijayavada, Visalandhra Prachuranalayam, 1957

Ramakrishana, Nataraja
Dancing bells, tr from Telugu, Vijayawada Visalandhra Pub House, 1959 Illus Plates

Ramakrishana, Nataraja
Āndhrulu nātyakala, Hyderabad, Nṛtya Niketanamu, [ ]

Ramakrishana, Nataraja
Natya Sundri Mandapeta, Chaudhuri Prachuranalu [ ]

Rohini
Nataka Śilpam Rajamahendravaramu, Kondapalli, Veera Venkayyā and Sons, 1960

Vatsyayan, Kapila
Bharatiya Janpada Nṛtyalu, by Kapila Vatsyāyan and Saccidanand Vatsya yan tr from English by Ūtla Kondayya, Hamsa Publicationes, 1960 Pts Photos Sponsored by Southern Languegs Book Trust

• • •

Dhananjaya

✓ Dasrūpak. Bombay, Nirnaya Sāgar Press, 1928

Kumbhakarnanripati

Nrtyaratanakośa, part I, II, ed by Rasiklāl Chotālāl Pārikh and Priyabālā Śāh. Jaipur, Rājasthān Oriental Research Institute, 1957. (Rājasthān Purātangranthamālā No 14, ed by. Jinvijayamuni.

Mansar Shilpashastra

Ed by P. K. Ācārya, Oxford University Press, 1933.

Natyashastrasangrahah

Ed. with English, Marāthi and Tamil, tr by K. Vāsudeva śāstri, Krsnaswamī Mahādik and G Nāgarājarāv Tanjore, Sarasvati Mahal Library, 1961 pt. 2. (Tanjore Sarasvati Mahal Series, No 90). *Sanskrit-English-Marthi-Tamil*

Ramchandra Gunabhadra

Nātyadarpan Baroda, Gāekwād s Oriental Series, 1929.

Sharngadeva

Sangītratnākar, Nartana (Dance). Ed by S Subrahmanya Śāstri, Chap 7. Madras, Adyār Library and Research Centre, 1953. (The Adyār Library Series, No 86) with Text, Index of verses and technical terms. *Saskrit-English*

Sagarnandi

Nātaklaksanaratanakosa, Oxford, University Press, 1937.

Shah, Priyabala, ed.

✓ Nrttasangrahah, Jaipur, Rājasthān Oriental Research Institute, 1956 (Rājasthān Purātangranthamālā No. 17, ed by Jinvijayamuni).

TAMIL

Balasarasvati, T.

Bharatanāttiyam, by T. Bālāsarasvati and V. Rāghavan. Madras, Awai Noolagam, 1959 Sponsored by Southern Langueges Book Trust.

Kannan, C. R.

Nāttiyakkalai. Madras, Malligi Padippagam, 1962. Illus

सांकेतिका

नाट्याभिनय

अभिधान वाचक

अभिधान वाचक

ग्रन्थ वाचक

विविध

●●●

भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण